पक्षी और आकाश

रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

मूल्य : चार रुपये

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़,
कश्मीरी गेट, दिल्ली–६

मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

PAKSHI AUR AAKAASH : RANGEYA RAGHAV : NOVEL

परिचय

'पक्षी और आकाश' में आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की कथा है। सामाजिक, धार्मिक दार्शनिक और राजनीतिक चित्रण में यह उपन्यास युग को तो सामने रखता ही है, मनुष्य की शाश्वत समस्याओं को भी उभार लाता है। इस तरह आज से हज़ार साल बाद भी इस उपन्यास की रोचकता वही रहेगी, जो आज है। धन और व्यक्ति, प्रेम और परिवार, समाज और उत्तरदायित्व के प्रति तब के मनुष्य की खोज आज तक अपना महत्त्व खो नहीं सकी है। समय की महान् पटी में लेखक ने मनुष्य को देखा है और इसीलिए यह उपन्यास देश-काल की सीमा में रहते हुए भी देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। रोचक इतना है कि पाठक कौतूहल में ही नहीं डूबता, भावों के सत्यों में भी खो जाता है। ऐसा ऐतिहासिक उपन्यास है यह, जैसे लेखक ने एक सामाजिक उपन्यास लिखा है; सब कुछ जैसे पहले लेखक में आत्मसात् होकर फिर आया है बाहर—कल और आज को एक करता हुआ, आनेवाले कल को रास्ता दिखाता हुआ। इसीसे यह उपन्यास एक देन है, नई देन !

१

कल तक सब कुछ था। आज कुछ भी नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि सुख और दुःख का आरम्भ तब से होता है, जब मनुष्य उनका अनुभव करने लगता है। अर्थात् सारी सृष्टि एक अनुभूति है। मनुष्य चाहे तो अनुभव करे अन्यथा नहीं करे। लोक के सुख और दुःख उसी अनुभूति पर आश्रित हुआ करते हैं। मैंने अनेक मुनियों के साथ समय व्यतीत किया है या कहूं कि उनके साथ व्यतीत हुआ हूं; क्योंकि मैंने क्या किया और क्या नहीं किया, यह मैं अपने-आप कैसे बता सकता हूं? परन्तु कुछ साधुओं ने मुझे बताया है कि जो कुछ है वह केवल इसीलिए है कि हम उसका अनुभव करते हैं। असली मनुष्य का उच्चस्तर है, जब वह अनुभव करना छोड़ देता है। लेकिन ऐसा हो कैसे सकता है—यह मैं अभी तक समझ नहीं पाया हूं, जबकि मेरी आयु अब चौबीस वर्ष की हो चुकी है। मैं अनुभव करता हूं एक विशेष आयु से, किन्तु कुछ स्मरण की धुंधली रेखाएं हैं, जो मेरे आसपास के लोग अपनी बातों की तूलिकाओं से गहरी करते हैं और मुझे पता चलता है कि मेरा अनुभव जब प्रारम्भ होता है, मेरी सत्ता उससे पहले से प्रारम्भ हो चुकी हुई मिलती है और मेरा 'मैं' एक पुराने रूप का उत्तराधिकार है और अब शायद वह एक क्रम है, जिसे विराम कहां मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।

सामने पथ पड़ा है। बरसात की एक मुसकान ने धरती में एक पुलक भर दी है। चारों तरफ हरियाली उठने लगी है। आकाश में बादलों के साथ घूमते फिरते हैं। न जाने वे कितने अज्ञात क्षितिजों तक जाते हैं और जहां ठहरते हैं वहीं पानी का दान करते हैं, पाल देते हैं और कहते हैं कि ये बहुत भर जाते हैं, समुद्र से व्यापार करते हैं।

थक ही तो गया हूं। क्यों न इसी घने वृक्ष के नीचे बैठ जाऊं। उफ

छा गई है। मेरे इस वैभवशाली वेश पर धूलि चढ़ गई है। कल तक मैं नगर-सेठ था। लोग नगर-श्रेष्ठि को देखकर सम्मान से सिर झुकाते थे। आज वह सम्मान और वह गौरव कहां है? व्यक्ति उन सीमाओं को छोड़ आया है। तो यह सब जो कुछ है, घटनाओं का चक्र है। इनके भीतर रहने से व्यक्ति को उन्हें झेलना पड़ता है। जब वह उनमें से हट जाता है, तो उसका अभाव वहां 'हो जाता' है। लेकिन यह भूल है। क्या व्यक्ति उस 'घटनाचक्र' से अलग हो जाने पर दूसरी जगह फिर किसी 'घटनाचक्र' में नहीं फंस जाता?

जीवन घटनाओं का चक्र है। निरन्तर चलनेवाला चक्र—अविराम···अथक···फिर निरन्तर होते रहनेवाले में एक वह क्या है जो सबका अनुभव करता है? वह है आत्मा!! इस आत्मा का यह चक्र कब छोड़ सकता है? सत्ता में दुःख है, घृणा है, अहंकार है; प्रीति में स्वार्थ और वासना है···फिर मुक्ति कहां है?

चौबीस वर्ष का हूं और सम्भवतः मुझे यह सब नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि पिता यही कहते थे। न जाने उनकी याद आने पर मुझे कुछ अजीब-अजीब-सा लगने लगता है। सच तो यह है कि आज घर से भाग आने पर भी मुझे अच्छी तरह यही याद है कि उस घर में यदि सचमुच कोई मुझे चाहता था, तो वे पिता ही थे। अनहोनी-सी बात है कि मैं घर में सबसे छोटा लड़का हूं, किन्तु माता का सहज दुलार जितना मुझे मिलना चाहिए था, उतना नहीं मिला। मां उन तीनों बेटों को अधिक चाहती थीं। पिता ने जन्म से ही मुझे प्यार किया। हो सकता है कि इसीने उन मेरे तीनों भाइयों में ईर्ष्या को जगाया और मां ने इसे अनुभव किया कि पिता को सचमुच मुझपर अधिक स्नेह था। स्पष्ट ही पिता के स्नेह का कारण था मेरा विवेक! जो कुछ मैं हूं, वे इसे मेरा विवेक भी मानते थे और भाग्य भी। क्या सचमुच भाग्य कोई ऐसी वस्तु है जो बाहर रहती है, और मनुष्य उसके हाथ में यन्त्र-सा चलता रहता है? क्या ऐसी कोई नियामक शक्ति है? किन्तु मुनि तो कहते थे कि कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो चलाती हो। प्रकृति अपने-आप अपना काम करती रहती है। आत्मा के लिए भी प्रकृति के अनुसार ही नियन्त्रण है। वही नियन्त्रण भाग्य है। यह नियन्त्रण बड़ा निर्मम होता है। पाप और पुण्य—जो भी व्यक्ति करता है, उसका फल ही भाग्य है। और यह फलाफल उसके जीवन में ही सीमित नहीं होता, जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। इसीलिए वह कई तरह से जगत् में जन्म लेता है। तीर्थंकर अपने कर्मों का क्षय कर देते हैं और इसी-

लिए उनका फिर जन्म नहीं होता। किन्तु ब्राह्मण तो ऐसा नहीं मानते। वे तो परमात्मा को मानते हैं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि भाग्य एकमात्र सहायक या घातक नहीं है। भाग्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु भी तभी मिलती है, जब मनुष्य उद्योग करता है। उद्योग ही पुरुषार्थ है। फिर भी अपने पुरुपार्थ और उद्योग पर व्यक्ति को घमण्ड नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे अहंकार पैदा होता है, और उससे व्यक्ति एक प्रकार के मोह में पड़ जाता है, जो उसके विवेक को नष्ट कर देता है।

सूर्य डूब रहा है। खेतों में उदासी की लाल-लाल छाया पड़ रही है जो सूर्य की अन्तिम रश्मियां बिखरा रही हैं। सामने की वह पहाड़ी अब नीली-नीली-सी दीख रही है। असंख्य पक्षी घरों की ओर लौट रहे हैं। न जाने कब से ऐसा ही होता आ रहा है और होता चला जाएगा। मैं एक पेड़ के नीचे बैठा हूं और मेरे पास कोई नहीं है। दूर जरूर वहां कोई गांव है; क्योंकि कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आ रही है, जो मेरे पीछे के टीलों में से सुनाई देती सियारों की हुआं-हुआं से बिलकुल अलग है। वह आबादी की गूंज है, यह वीराने की चिल्लाहट है। इन दोनों के बीच में बैठा हूं, जो कल तक नगर-सेठ था, और आज कुछ भी नहीं हूं। कैसे कह दूं कि मैं भिखारी हो गया हूं, क्योंकि मुझे घर छोड़े शायद दो पहर ही हुए हैं। अभी भी मेरे कानों में दास-दासियों, परिजनों और सेठों के शब्द गूंज रहे हैं। भिखारी होने के लिए मुझे भीख मांगना आवश्यक है; और भीख मैंने मांगी नहीं है; फिर मैं भिखारी कैसे कहला सकता हूं! कुछ भी पास नहीं है। जिनके पास है, वे अधिक से अधिक चाहकर कम से कम बदले में देना चाहते हैं। यह मैं देख चुका हूं और देख रहा हूं। इसलिए ही मैंने धन को घृणित समझा है और मनुष्य के सम्बन्धों को इस धन से ऊपर स्थान देने की चेष्टा कर रहा हूं। जानता हूं, यह धन बहुत ही आवश्यक है। न कुछ की अवस्था में भी यह विश्वास बना ही रहता है कि कुछ मिलेगा। और मिलने पर भी अभावों की तृप्ति नहीं होगी, किन्तु गाड़ी फिर खिच चलेगी। तो इस विश्वास को मैं अपना पुरुषार्थ कहूं या भाग्य? मैं इसे भाग्य ही कहूंगा, क्योंकि पुरुषार्थ तो मैं बहुतों को करते देखता हूं, जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता। अगर मैं यह कहूं कि मैं ईमानदार हूं, या मेरे पुरुषार्थ में औरों के पुरुषार्थ की तुलना में अधिक विवेक है, तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी? इस क्षण में जो अनेक वस्तुओं के मिलन से एक 'समय' बना है, वह अगले क्षण में

वस्तुओं के किस प्रकार के 'सम्बन्ध' में प्रकट होगा, यह कौन जानता है ?

इन सम्बन्धों का नाम ही मनुष्य का जीवन है। यदि मैं इस दृष्टिकोण से देखूं तो मैं कहूंगा कि यह जो मैं हूं, सो मेरा नाम धनकुमार है; क्योंकि मेरे शरीर को लोग धनकुमार के नाम से जानते हैं। खाली शरीर नहीं, बल्कि कर्म करनेवाले शरीर को यह नाम दिया गया है; क्योंकि जब मैं कर्म करने योग्य नहीं रहूंगा, तब लोग मेरे शरीर को देखकर कहेंगे कि यह धनकुमार नहीं है, यह तो धनकुमार का शव है।

यह धनकुमार, जो मैं हूं, है कौन ? मेरा प्रारम्भ सुनी-सुनाई बातों पर आधारित है। उसके हिसाब से पुरपइठान एक पुराना और समृद्ध नगर है। मैं उसी नगर के श्रेष्ठि धनसार का सबसे छोटा पुत्र हूं। मेरा धनसार से जो सम्बन्ध है वह मैंने आंख खुलते ही नहीं जाना, जाना है क्रमशः चेतना आने पर। जब मैं छोटा ही था, तब तीन लड़के उसी घर में और थे। बड़ा धनदत्त कहलाता था, मंझला धनदेव और छोटा धनचन्द्राधिप। वे तीनों मेरे बड़े भाई थे। वे तीनों मुझसे खेला करते थे। मैं उन्हें बड़े भैया, मंझले भैया और छोटे भैया कहा करता था। मुझे बहुत धुंधली-सी याद है कि एक बड़े-से प्रकोष्ठ में बहुमूल्य चिकने पारसीक कालीन पर मैं घुटनों के बल चला करता था और मेरे तीनों भाई मेरे पास ही खेलते थे। जब मुझे कुछ और अक्ल आई, तब मैंने जाना था कि वे तीनों ही मुझसे बड़े थे, बड़े इतने कि अब जब मैं चौबीस वर्ष का हूं, बड़े भैया धनदत्त बत्तीस वर्ष के हैं। इकतीस के हैं मंझले भैया धनदेव और तीस के हो गए हैं छोटे भैया धनचन्द्राधिप। उन तीनों की पत्नियां हैं। सुभामा बड़ी भाभी हैं, सुमुखी मंझली हैं और छोटी भाभी हैं अलका। उन तीनों ने मुझे स्नेह दिया है; और स्नेह जीवन में बहुत ही मूल्यवान होता है, इसलिए मुझे लगता है, वे मेरे बहुत ही पास हैं।

किन्तु अब जबकि मैं चला आया हूं, तब घर की क्या हालत होगी ? कल रात चांदनी छिटकी हुई थी और मैं उस समय देर तक चन्द्रमा को देखता रह गया था। पिता सोए थे, सोया था सारा घर। दास, दासियां, अनुचर, आए-गए व्यापारी। सो रहे थे अपने सारे पशु। द्वार पर कुत्ता भी ऊंघ गया था। केवल कहीं-कहीं मणिदीप जल रहे थे और सुवास से गमकते प्रकोष्ठों में हवा आ रही थी। नगर भी सोया था। सोया था राजमहल; पण्यहाट। और आज प्रातःकाल हलचल मच गई होगी कि नगर-श्रेष्ठि धनकुमार कहीं नहीं मिल रहा है। क्या उसे चोर

उठा ले गए या भूत या प्रेत या विद्याधर! भाभियां सुभामा, सुमुखी और अलका जानती हैं, और सम्भवतः उन्होंने पिता से कह भी दिया होगा। तो क्या पिता अपने अन्य पुत्रों पर क्रुद्ध हुए होंगे? क्या यह समाचार छिप सकेगा कि धनकुमार सब कुछ छोड़कर चला गया, क्योंकि उसके भाई उसके प्राण लेने को तैयार हो गए थे! जब महाराज को ज्ञात होगा, सभा-समाज में विदित होगा, तब क्या उन लोगों से सब घृणा नहीं करेंगे?

अवश्य करेंगे, किन्तु मेरा इसमें क्या उत्तरदायित्व है? क्या मुझे उनके हाथों मर जाना अच्छा था? क्या मैं इसीलिए जन्मा था कि उनकी ईर्ष्या मुझे काटकर फेंक दे। कितना-कितना विक्षोभ मुझे इसे सोचते ही ग्रस लेता है। परन्तु विक्षोभ से लाभ भी क्या? वे मेरे और कोई नहीं, भाई ही तो हैं। मैं उन्हें क्षमा करने को ही विवश हूं। आखिर मुझे बचाया किसने? उनकी स्त्रियों ही ने तो। क्या उनका प्रतिकार करना मेरे लिए शोभन होगा? मुझे आवश्यकता ही क्या?

वे अपने भले, मैं अपना भला। मैं क्या कमा नहीं सकता? मेरी ज़रूरतें ही क्या हैं? मनुष्य को भरना है अपना पेट, और पेट भरने के लिए उसे पच्चीस काम हैं। हाथ-पांव साबुत हों, तो आत्मसम्मान को जीवित रखते हुए ईमानदारी से जो कुछ मिल जाए वही तो मेरे लिए काफी है। ईमानदारी वैभव का मुंह नहीं देखती, वह तो मेहनत के पालने पर किलकारियां मारती है और संतोष पिता की तरह उसे देखकर तृप्त हुआ करता है। और मैं समझ गया हूं कि शांति बाह्य तृप्तियों में नहीं है, वह तब होगी जब प्रतिस्पर्धा का सांप ईर्ष्या का विष उगलना बंद कर दे। मुझे क्या है, मेहनत-मजदूरी करके भी कमा लूंगा, परन्तु निरन्तर कलहपूर्ण जीवन की तुलना में वह कहीं अधिक अच्छा होगा। पिता ने मुझे जो कुछ शिक्षा दी है, जो कुछ मैंने स्वयं सीखा है, वह सब तो मेरा ही है। ज्ञान ही मेरी जीविका का संबल है, अध्यात्म का वह भी नहीं है। मुझे झंझटों से दूर रहना है। यों सब लोगों ने कहा है कि मेरा भाग्य बहुत बली है और उसका बलवान होना इससे कितना अधिक प्रकट है कि मैं आज अज्ञात बना हुआ राह पर एक पेड़ के नीचे बैठा हूं। और काली रात घिरती आ रही है। उस अंधेरे में अब सब कुछ डूब जाएगा, लेकिन दीपक की तरह मेरा चिंतन जलता रहेगा।

सच कहता हूं कि उसी भाग्य के बारे में मैं नहीं सोचना चाहता कि वही मेरा दुर्भाग्य है।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझे पाला। मां के दूध को छोड़ने पर उसीने मुझे अपने पास सुलाया। पज्जा की यादें बहुत मीठी हैं। उन दिनों वह मुझे सोने के रत्न-जटित पालने में से मखमलों पर से उठाती थी तो छाती से लगा लेती थी। सुवर्ण और रत्नों से भी अधिक सुख मिलता था मुझे अपनी पज्जा अम्मां की छाती पर सोने में; वह हालांकि सिर्फ एक दासी थी, सांवली-सी। अब मैं देखता हूं कि और धायों की तुलना में पज्जा कितनी अधिक अच्छी थी! उसने मुझे कितनी कहानियां सुनाई थीं। पज्जा अम्मां की कथाएं मेरे लिए चेतना का पहला संसार थीं। मैं उनमें रहता हुआ अपने चारों ओर घूमता था, जहां धीरे-धीरे मैंने बहुत कुछ सीखा।

पज्जा ने मुझे बताया था कि जब मैं पैदा हुआ था, तब वह मेरी नाल लेकर भवन के पिछवाड़े की अशोकवाटिका में गाड़ने गई थी। उसने कुदाल से धरती को खोदा और अंधेरे में ही वह एक बार अज्ञात भय से कांप उठी। उसकी कुदाल किसी वस्तु से टकराकर खन्न करके बज उठी। यह क्या होगा। सोचा उसने। और उसने ही बताया था कि उसका लोहू सहसा जम गया था। उसने देखा था कि ढक्कन हटाते ही देग में सुवर्ण भरा हुआ सा मुस्कराया था। वह ठहरी दासी! सामने सोने का ढेर! मन किया कि पज्जा, कुबेर ने संपदा दी है। ले और संभाल! अपने भाई के साथ चुपचाप भाग चल!

यह मुझे पज्जा ने ही बताया था। अपने मन की बात कहते हुए उसे डर नहीं लगा था मुझसे। उसने सोचा था—पज्जा! तू तो दासी है। दास है तेरा भाई। धनसार पार्श्वनाथ का अनुयायी है, तभी दासों को भरपेट खाना देता है। उसके कारखानों में काम करती श्रेणियां भी धन पाती हैं। धनसार को विदेशों से सार्थ अपार धन लाकर देते हैं, जिन्हें वह श्रेणियों में भी बांटता है। फिर भी तू दासी है। इस धन को लेकर भाग जा और पुरपइठान को छोड़ दे। सुदूर, बहुत दूर कहीं अपने भाई के साथ जाकर बस जा। भाई का ब्याह कर, अपना भी कर ले। सुख से स्वतन्त्र बनकर रह!

परन्तु! पज्जा का मन अब कांप उठा। उस समय अंधेरा था, लेकिन पज्जा ने देखा कि आकाश में नक्षत्र चमक रहे थे। भवन के बाहर भीड़ थी; दास, दासियां, श्रेणियां, श्रेष्ठि के भृत्य, सैनिक, पड़ोस के श्रेष्ठि लोग और कुलीन राजन्य मित्र; कुछ मुनि भी थे। थे, पर सब दूर थे।

स्वयं पज्जा ने मुझे बताया था कि फिर भी पज्जा को लगा था कि कोई उसे

देख रहा था। पज्जा के मन ने कहा था कि रत्नगर्भा पृथ्वी बहुत बड़ी है। अवंतिका, मगध, वत्स और इतनी ही नहीं, धरती और भी बड़ी है। कहीं भी जाकर बस जा। कौन जान पाएगा ? परन्तु सहसा ही वह डर गई थी। उससे किसीने कहा था कि पज्जा ! तू दासी है। उसने भी कहा था, "हां, मैं दासी हूं।"

उसीने पूछा था "पज्जा ! तू दासी क्यों है ?"

पज्जा उत्तर नहीं दे पाई थी।

उसीने फिर पूछा था, "पज्जा ! तू स्वामिनी क्यों नहीं है ? इसी संसार में कोई स्वामी क्यों है ? कोई दास क्यों है ? कोई उच्च जाति का क्यों है ? कोई निकृष्ट क्यों है ? और कोई निकृष्ट जाति का होकर भी धनवान कैसे है ? कोई राजकुमार होकर भी रोगी क्यों रहता है ? और कोई दास होकर भी, न अच्छा भोजन पाता है न पूरी नींद सोता है, मगर स्वस्थ और सुन्दर क्यों होता है ? पज्जा ! यह क्यों होता है ?"

तब पज्जा ने सोचा था कि यह सब जो दीख रहा है वह किसीका फल ही है। और वह है कर्म का फल। कर्म —अच्छे-बुरे—का फल। और उसीके अनुसार प्राणी को जन्म मिलता है। उसी फल के अनुसार वह आदमी बनता है और उसीके फलस्वरूप वह गधा भी बनता है, जो जीवन-भर बोझा ढोता है; कोल्हू का बैल भी बनता है, जो आंखों पर पट्टी बंधवाकर निरन्तर घूमा करता है। तो पज्जा ! यह धन लेकर तू चली भी भी गई तो क्या वह चोरी नहीं होगी ? जिस धरती में यह धन गड़ा है, वह धरती बहुत पुरानी है। इस धरती पर तो हम सब लोग आते हैं और चले जाते हैं।

पज्जा ने ही बताया था कि उस समय भवन के सिंहद्वार की ओर मर्दल-रव सुनाई देने लगा था, जिसे सुनकर पज्जा सोचने लगी थी कि देखो, अब घर में श्रेष्ठि-स्वामी पुत्र-जन्म पर आनन्द मना रहे हैं। यह धरती जिसमें धन गड़ा है, धरती का यह टुकड़ा इस समय भाग्य ने उनको दिया है ! यद्यपि वे भी इस धरती पर सदा नहीं रहेंगे। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिसने इस धन को किसी प्राचीनकाल में अपना समझकर गाड़ा था, यह धन उसका बनकर नहीं रहा। जिसने गाड़ा था, यह उसका ही नहीं बना। श्रम करके उसने पाया, सहेजकर गाड़ा, परंतु काम यह उसके भी नहीं आया। तो इसका अर्थ है कि धन कर्मफल का एक भोग है। आत्मा की परीक्षा के लिए प्रकृति के यह भिन्न रूप हैं—धनी-दरिद्र, ऊंच-नीच।

अमीर और गरीब में एक ही आत्मा है। जब यह आत्मा गरीबी में, लोभ में पड़ता है तो और भी अधिक कष्ट भोगता है और जब अमीरी में धन का मद इसपर छा जाता है, यह बेईमानी और घमंड में डूब जाता है, तब कर्मफल से यही आगे चलकर दासत्व, रोग और दारिद्रय भोगता है। यही तो इस दारुण चक्र का रहस्य है, अन्यथा यह क्यों बना रहता?

पज्जा के सामने श्रेष्ठि धनसार के पास एक मुनि यही कहते थे और वे नंगे रहते थे, क्योंकि उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था। पज्जा उनकी सेवा करती थी। जब पज्जा ने मुझे यह बात सुनाई थी, तब मैं सिर्फ आठ साल का था। उसने मुझसे कहा था, "धन वत्स! तू नहीं समझेगा अभी कि वे मुनि कितने महान थे। उन्होंने काम को जीत लिया था।" सचमुच उस समय मैं नहीं समझा था और मैंने पूछा था, "पज्जा अम्मां! काम कौन होता है?"

पज्जा अम्मां ने कहा था, "धन वत्स! तू बड़ा होगा तो जानेगा।" और स्नेह से मुझे सहलाकर फिर अपनी उसी रात की कहानी सुनाने लगी थी :

"तो मुझे नया विचार आया। मैंने सोचा कि श्रेष्ठि धनसार को यह धन इतने दिन नहीं मिला, फिर अब कैसे मिला? यहां मैं इस बालक की नाल गाड़ने आई थी और खोदते में मिला यह धन! तो यह धन इसी बालक का हुआ न!"

मैं देखता रहा था। पज्जा के मुख पर कितनी शान्ति थी! पज्जा ने कहा था, "तब मैं श्रेष्ठि के पास गई और मैंने धीरे से कहा, 'स्वामी!'

" 'क्या है पज्जे?' उन्होंने सम्मानित अतिथियों से बात करना रोककर पूछा था।

"मैंने कहा, 'स्वामी! तनिक एक आवश्यक कार्य है। स्वयं आपको ही चलना होगा।'

"उन्हें विस्मय हुआ था। अतिथियों से क्षमा मांगकर वे मेरे साथ आए थे और जब वे अलिंद में आ गए और मैं अंधकार की ओर बढ़ी थी, तब वे कुछ शंकित हो गए थे। सोचा होगा, दासी कोई कुटिलता तो नहीं कर रही। दास-दासी कभी-कभी इस तरह से स्वामियों को डाकुओं के हाथ में जो फंसवा देते थे। रुककर बोले, 'कहां जाती है?'

"मैंने कहा, 'स्वामी! एक अद्भुत बात हुई है। आप प्रभु हैं, आपकी कमर में खड्ग लटक रहा है, फिर मैं स्त्री ही तो हूं, आपके भृत्य भी समीप हैं। मेरे साथ

अशोकवाटिका में आइए।'

" वे मेरे पीछे आए थे। वे वीर थे। मैंने अशोकवाटिका में उस जगह पहुंचकर कहा था, 'प्रभु ! अपनी संपत्ति स्वीकार करें।'

" उजाला अधिक नहीं था। दूर एक दास दीप लेकर जा रहा था। स्वामी की आज्ञा से पास आ गया और स्वामी ने देखा था—स्वर्ण ! ढेर !

" 'पज्जा !' वे गद्गद-से कह उठे थे, 'तुझे मिला ?'

" 'हां, स्वामी !'

" 'पज्जा ! यह किसका है ?'

" मैंने कहा था, 'आपका !'

" उन्होंने कहा था, 'ऐसा नहीं हो सकता पज्जे ! मेरा होता तो तुझे क्यों मिला ?'

" 'पर स्वामी ! यह मेरा होता तो मैं दासी क्यों होती ?'

" स्वामी ने अत्यन्त कृतज्ञ नेत्रों से मुझे देखा था और कुछ कह नहीं पाए थे। तब मैंने कहा था, 'स्वामी ! यह आपका तो नहीं है। यह तो उस नये बालक का है, जिसकी नाल गाड़ने को मैंने यह गड्ढा खोदा था।' "

पिता की आंखें भर आई थीं और धीरे-धीरे यह संवाद तब सारे नगर में फैल गया था, जब मेरे जन्म के आनंदोत्सव में उसी धन को खर्च करके पिता ने ज़बर्दस्त भोज दिया था। उस सुवर्ण से शायद पुरपइठान का कोई एक आदमी भी भूखा नहीं रहा था।

पज्जा की कथा ने मुझे बताया था कि मैं बड़ा भाग्यवान था और बड़ा धनी होनेवाला था, परन्तु सच कहता हूं कि पज्जा जैसी निस्पृह स्त्री ने मेरा लालन-पालन किया और उसीने मैंने सीखा है कि धन आत्मा को छलनेवाली चीज है। इसे जितना ही जो बांध-बटोरकर, दूसरों को धोखा देकर, निचोड़कर इकट्ठा करता है, वह उतना ही बुरा बनता जाता है।

तो क्या मैं यह कहूं कि मैं इसी कारण घर छोड़कर आ गया हूं ? इस समय क्या मेरे वियोग में पज्जा को अत्यन्त क्लेश नहीं हुआ होगा ?

बचपन की यादें मुझे अधिक विकल ही बनाती हैं। पांच धायें थीं पज्जा के नीचे, जो मेरी सेवा करती थीं। एक मागधी थी, दूसरी द्राविड़; तीसरी, चौथी; पांचवीं नर्मदा-तीर की थीं। उनके नीचे थीं अठारह दासियां। अब मुझे ज्ञात है कि

वे कहां-कहां की थीं। एक थी पारसीक, एक यवन (ग्रीक), मिस्र, सुवर्णदेश, वंग, कलिंग, कोसल, वत्स, कर्णाटक, सिंहल, लिच्छविगण, शूरसेन देशों की दासियां उनके नीचे थीं। बाकी छः में एक कुलिंद थी, एक विंध्याटवी में से आई नाग जाति की थी। उनकी याद तो मुझे है ही; परन्तु जो जहाजों में पकड़कर लाई गई थीं, उनमें एक यहूदिन थी। दासों का व्यापार करनेवाले अनेक दस्यु थे। श्रेष्ठि धनसार ने दया-भाव से इन्हें खरीदा था। वे जानते थे कि अन्य क्षत्रियों में इन्हें बड़ा कष्ट दिया जाएगा। पौण्ड्र, सिन्धु और मद्र देश की दासियों को भूमि पर चलते सार्थ ले आए थे। वे अपनी-अपनी भाषाएं बोलती थीं और उन्हींसे मैंने जाना था कि प्रत्येक देश की अपनी भाषा है, हरएक के रीति-रिवाज अलग-अलग थे; वस्त्र-भूषा अलग थी; नियम, पाप, पुण्य, सब ही विभिन्न थे; विभिन्न देवी-देवता भी, परन्तु एक सत्य था कि सब जगह धनी-दरिद्र थे; भाग्य सब जगह था और यह भी कि जितनी धरती पर मनुष्य रहता था, संसार उससे कहीं बड़ा था, क्योंकि मैं ऐसी जगहों का भी नाम सुनता था, जिनके लोग हमारे यहां नहीं आते थे; जैसे कुरु, अंग, गांधार, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप (जावा), बर्हिण द्वीप (बोर्नियो), बावेरु (बैबीलोनिया), लाट और न जाने कितने-कितने! मैं पज्जा से पूछता था कि पज्जे अम्मां! इतने देश हैं धरती पर! सब जगह मनुष्य रहते हैं?

"हां वत्स धन!" पज्जा कहती थी। "यह संसार बहुत ही विचित्र है, इसका अन्त कौन जानता है!"

वे बातें अनन्त थीं, अछोर थीं। उन्होंने मुझमें जो एक अकूत जिज्ञासा भरी, वही तो आज मुझमें उमड़ नहीं आई है? मैं नगर-सेठ था, वह सब वैभव मेरा था। क्या यदि मैं चाहता तो महाराज से कहकर उन भाइयों को दण्ड नहीं दिला सकता था? नहीं, वह मैं कैसे कर सकता था? लोग क्या कहते? पज्जा अम्मां को मैं मुंह कैसे दिखाता? आज मैं सोचता हूं कि दया और आत्म-सम्मान का यह अद्भुत सम्मिश्रण मुझमें कैसे है जो मेरे भाइयों में नहीं है? यह पिता की विशाल हृदय-वत्सलता और दासी पज्जा की करुणा का ही तो मुझपर ऐसा प्रभाव पड़ा है! मेरे भाइयों को कुलीनों ने पाला है और तभी उनमें इतना अहंकार भी है।

स्नेह ही विष के वृक्ष उगा सकता है। इसे भी कोई मान सकेगा? पिता का मुझपर अतुल अनुराग मुझे एक ओर उठाने लगा। मैंने कलाएं सीखीं, विद्याएं सीखीं, और अनेक शास्त्र पढ़ गया। परन्तु दूसरी ओर, भाई मुझसे घृणा करने

लगे। प्रतिस्पर्धा बढ़ चली। मैंने तो कुछ नहीं किया! पिता उनकी ईर्ष्या देखकर उन्हें डांटने लगे और इसी ने एक दिन उस भयानक नाटक का सूत्रपात किया जिसके पहले अंक का अन्त इस प्रकार हुआ है कि मैं घर छोड़ने को विवश हो गया हूं।

वे तीनों आपस में सलाह करते थे। उनकी पत्नियां भी साथ रहती थीं।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझसे कहा, "वत्स धन! जानते हो घर में क्या हो रहा है? या केवल कला-विलास में ही डूबे रहते हो? इस तरह संगीत में ही सब भूले रहोगे कि कुछ चारों तरफ का भी ध्यान रखोगे?"

मैंने पूछा, "क्या हुआ पज्जा अम्मां।" और मैंने चांदी की चौकी खींचकर बैठते हुए कहा, "क्या बात हो गई?"

"अरे!" पज्जा ने बड़ी-बड़ी आंखें फाड़कर माथे पर बल डालकर भौंहें ऊपर चढ़ाते हुए कहा, "वत्स धन! तीनों भाई तुमसे ईर्ष्या करते हैं।"

"कैसे जानती हो?" मैंने पांव से पंखों का जूता सरकाकर कहा।

दासी खड़ी थी—एक यवनी।

"तू जा री!" पज्जा ने उसे जाने को कहा।

वह चली गई तो पज्जा ने बड़े होले से कहा, "वत्स धन! तुम मेरे पुत्र हो, जानते हो?"

"इसमें क्या विचित्रता है अम्मां! तू कहती क्यों नहीं?"

"बेटा!" पज्जा ने कहा, "तुम अब सत्रह साल के हो गए। तुम्हारे सीधेपन पर वारी जाती हूं। और तुम्हारी आयु के लड़कों के प्रासादों-भवनों मे तो तरुणियां रहती हैं, यहां सब तुम्हारी माता ही हैं!"

"तो अम्मां! तुम सबने ही तो मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया है। तुम सब मां ही तो हो।"

पज्जा की आंखों में आंसू भर आए।

मैं जानता था, पज्जा ने मुझे पालने के लिए यौवन के सुखों को भी छोड़ दिया था।

"क्यों रोने लगी, अम्मां!"

"स्वामी!" पज्जा ने रोते हुए मेरे घुटनों पर सिर रखकर कहा, "मुनि की करुणा ही है वत्स धन! तुम स्वामी हो, हम दासियां हैं। कल तुम्हारा विवाह

होगा तब भी क्या दासियों से ऐसे ही बोलते रहोगे ?"

"तो क्या तुम मेरी अम्मां नहीं रहोगी ?"

"पर वधू तो कुलीन होगी न ?"

"तो क्या वधू मां नहीं बनेगी, अम्मां ! उसका पुत्र क्या कर्मफल से उसे त्याग नहीं देगा ?"

पज्जा चकित-सी देखती रही थी।

दीपाधार जल उठे थे। उन दीपों की लौ की ओर जब ध्यान जाता है, तो अचानक मुझे अपना वह रूप याद आता है, जो पिता के प्रकोष्ठ में जलते दीपाधारों के सम्मुख मैंने स्वयं देखा था।

पिता एक चौकी पर बैठे थे और उनके सामने मेरे तीनों भाई खड़े थे—एक ओर। मैं बुलाया गया था। दूसरी ओर मैं खड़ा हुआ था।

"पिता ! आज्ञा !" मैंने पूछा था।

वे सोचते-से लग रहे थे। उन्होंने कुछ नहीं कहा। उस समय उनके सिर के बाल बिलकुल काले थे, जो इन सात वर्षों में ही खिचड़ी हो गए हैं। वे कितने स्वस्थ और प्रफुल्ल रहनेवाले व्यक्ति थे ! आज मैंने देखा, वे कितने उदास थे ! उन्होंने मुझे नहीं देखा। फिर सहसा उनकी ओर मुंह करके कहा, "धनदत्त ! क्या यही होना था ?"

वे तीनों खड़े रहे।

मैंने देखा, धनदत्त—बड़े भैया—स्तब्ध थे। मंझले भैया धनदेव गम्भीर और छोटे भैया धनचन्द्राधिप कुछ उद्विग्न !

कोई नहीं बोला। मां वहां नहीं थी। पज्जा अम्मां मेरे प्रकोष्ठ में मेरी राह देख रही होगी।

सहसा पिता ने मेरी ओर देखा और कहा, "धनकुमार ? तूने देखा ? बता सकता है तेरा अपराध क्या है ?"

मैं नहीं समझ पाया। पूछा, "अपराध !! कैसा पिता ?"

"तो ये तीनों तुझसे इतना द्वेष क्यों रखते हैं ?"

"मुझसे द्वेष क्यों रखेंगे अग्रज ?" मैंने पूछा। परन्तु धनदेव ने काटकर कहा, "हो चुका ? आप तो उसके सामने ही हमारा अपमान कर रहे हैं। यह न्याय नहीं है, पक्षपात है। आप हमें द्वेषी कह रहे हैं। क्या है इसमें द्वेष करने

योग्य ?"

"यही मैं भी सोचता था मंझले भैया !" मैंने कहा था।

"क्या मैं तेरी बहुत प्रशंसा करता हूं ?" पिता ने मुझसे पूछा।

"यदि थोड़ी भी करते हैं, पिता ! तो क्या वही मेरे लिए अयोग्य को दान के समान नहीं है ?" मैंने पूछा।

पता नहीं क्यों उनके नयन गीले हो गए थे। पज्जा अम्मां भी आ गई थी। और मां भी।

भैया धनदत्त ने कहा, "हमें इससे कोई ईर्ष्या नहीं है, पिता ! आपको प्रारम्भ से ही इसपर अधिक स्नेह रहा है। उसी स्नेह के कारण आप इसको अपने स्नेह का केन्द्र बनाना चाहते थे। जितना ध्यान इसके लालन-पालन का आपने रखा है, उतना हममें से किसीका नहीं।"

"यह तुम कहते हो !" पिता ने पूछा।

"हम नहीं कहते," भैया धनदेव ने काटकर कहा, "नगर कहता है।"

पिता ने माता की ओर देखा। परन्तु उन्होंने दृष्टि फेर ली। शायद वे नहीं चाहती थीं कि उनके तीनों पुत्रों को घर छोड़ना पड़े।

"तुम्हारा भाग्य तुमसे ऐसा कहला रहा है।" पिता ने सहसा तीक्ष्ण किन्तु सधे हुए स्वर से कहा, "जिस दिन धनकुमार जन्मा था, उसी दिन अशोकवाटिका में धन मिला था···"

वे तीनों ही इस बात पर हंस पड़े। पिता ने आश्चर्य से देखा।

"क्यों ? हंसते क्यों हो ?"

"अपराध क्षमा करें। नागरिक तो कुछ और ही कहते हैं।"

पिता को जैसे झटका लगा। "क्या कहते हैं वे ईर्ष्यालु ! धनसर उनकी आंखों में इतना गड़ने लगा है कि उसके वैभव से दग्ध होकर वे उसके परिवार में ही कलह फैलाना चाहते हैं !"

तीनों पुत्र चुप रहे। अन्त में धनचन्द्राधिप ने कहा, "वे कहते हैं कि श्रेष्ठि धनसार अपने चौथे पुत्र के जन्मोत्सव पर उसके भाइयों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यय करना चाहते थे, जो वैसे अनुचित लगता। इसीलिए उन्होंने ही अशोक-वाटिका में धन गड़वाकर पज्जा दासी के मुख से यह प्रवाद फैलवाया था। अन्यथा ऐसी दासी कौन है जो उस धन को लेकर भाग नहीं जाती ?"

पिता के नयन शून्य को देखते रहे। परन्तु मुझे लगा, धरती कांप रही थी। यह सत्य था! क्या यही मेरे भाग्य की छलना थी? परन्तु पिता की शोकग्रस्त मुद्रा देखकर यह विश्वास मुझे हो ही नहीं सका। और पज्जा के लिए दासी शब्द सुनकर मुझे बहुत ही क्रूर लगा। मैं जिसे अम्मां कहता था, उसे ऐसे तिरस्कार से दासी कहा गया था! और जिसके प्रति मेरे हृदय में इतना सम्मान था, उसे इन लोगों ने चोर के रूप में प्रदर्शित किया था। परन्तु विद्रोह मैं कर नहीं सकता था। जानता था, पज्जा अम्मां स्वयं ही मुझे बुरा कहेगी, यदि मैं बड़े भाइयों को जवाब दूंगा। वह क्षण मुझे बहुत ही तीखे शूल-सा गड़ने लगा।

और अत्यन्त कठोर स्वर से धनदेव ने कहा, "हमारी समझ में परिवार में से इतना धन नष्ट करवानेवाला भाग्यहीन है!"

पिता ने देखा और कहा, "धनदेव, तू सबसे अधिक जड़ है। तू उद्दण्ड भी है, अविनीत भी। मेरे धन का स्वामी तू अभी से बन जाना चाहता है?"

"स्वामित्व मुझे असम्भव नहीं, पिता!" धनदेव ने कहा, "मैं भी उपार्जन कर सकता हूं परन्तु आपने मुझे अवसर ही कब दिया? आप तो अपने कनिष्ठ पुत्र को ही योग्य बना रहे हैं!"

पिता जैसे कुछ नहीं समझ सके। उठ खड़े हुए। और वे घायल-से घूमने लगे। वह पल कितने भारी थे! पज्जा अम्मां चुप खड़ी थी और मैं घृणा कर रहा था—अपने-आपसे, क्योंकि यह कलह क्यों हुआ था आखिर? मेरे ही कारण न?

"पिता!" मैंने कहा था, "मुझे कुछ कहने की आज्ञा है?"

पिता ने रुककर कहा था, "तुम भी मुझपर कुछ आक्षेप करना चाहते हो?"

"मैं," मैंने कहा था, "आज्ञा चाहता हूं कि अग्रजों के सुख से रहने के लिए मुझे कहीं भेज दिया जाए।"

"बोलो!" पिता ने मुड़कर चुनौती देते हुए अग्रजों से कहा।

परन्तु वे मुस्करा पड़े। उसी व्यंग्य से धनदेव ने कहा, "अवश्य भेज दें! यहां तो हमें पता चल जाता है, किन्तु विदेश में तो आप इसपर चाहे जितना व्यय कर सकते हैं। हमें क्या पता चल सकेगा?"

"नीच!" पिता का संयम खो गया। उन्होंने कहा, "बैठे-बैठे खाकर तू मस्त हो गया है। बिना हल कंधों पर धरे बैलों को चराने से आखिर वे आपस में एक-दूसरे को सींग मारने लगते हैं। यदि तेरी माता आज सामने न होती, तो तुझे

घर से निकाल देता। परन्तु तूने लांछन लगाया है, इसके लिए मैं आज तुम चारों की परीक्षा लूंगा।"

पिता बढ़े और एक द्वार में घुसकर चले गए। कुछ देर तक हम देखते ही रहे कि वे फिर लौट आए और उन्होंने कहा, "यह मैं तुम चारों को देता हूं। बराबर का स्वर्ण है। इसे ले जाकर व्यापार करो और इस धन को मुझे लौटा दो। इसकी आय से तुम्हें कुटुम्ब के समस्त लोगों को भोजन कराना होगा। मैं जानना चाहता हूं कि मेरे घर में कौन योग्य है, कौन मूर्ख है।"

"यह क्यों पिता?" धनचन्द्राधिप ने टोककर कहा, "आप हम तीनों को अलग क्यों करते हैं? हम क्या एकसाथ व्यापार नहीं कर सकते? हम तीन दिन तक इस द्रव्य की आय से भोजन करा देंगे!"

पिता की आंखों में भयानक प्रतिहिंसा एक क्षण को झलकी, फिर लुप्त हो गई। उन्होंने स्थिर स्वर से कहा, "यही सही। तो धनकुमार! अभी तू व्यापार न कर। तीन दिन बाद मुझसे धन लेकर जाना।"

मैंने धन रख दिया।

"तुम सब जा सकते हो।" पिता ने भारी स्वर से कहा।

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ गया।

"पज्जा अम्मां! यह क्या हुआ?"

"यही होने को था।"

"क्यों?"

"उन्हें भय है कि कहीं पिता तुम्हें अधिक सम्पत्ति न दे जाएं?"

"वे क्या कहीं जा रहे हैं?"

"अरे तू तो भोला ही है। वे उनके बाद की सोचते हैं!"

मुझे लगा, मैं किसी भयानक अन्धकार में घूम रहा हूं। यह सब क्या है?

किन्तु चौथा दिन आया और मेरे लिए वही समस्या खड़ी हो गई। तीनों व्यापार कर चुके थे और उनको लाभ बहुत कम हुआ। लाभ होने के पहले ही वे सारे कुटुम्बियों को निमन्त्रण देने आए थे।

जब पज्जा प्रकोष्ठ में आई तब दासियां हंस रही थीं। वे नहीं जानती थीं कि पर्दे के पीछे मैं खड़ा था।

"अरी क्यों हंसती हो?" पज्जा ने मुस्कराकर पूछा।

"मैं तो भोज की याद करके हंसती थी।" यवनी ने कहा, "सारे परिवार में श्रेष्ठि धनसार के वैभव की बात चल रही है।"

"वह भोजन था?" पारसीक दासी ने कहा, "छिः! धनसार के घर ऐसा भोजन! ये तीनों इतने बुद्धिमान हैं!"

पज्जा ने काटा, "कुछ पूर्वजन्म में किया था जो ऐसे कुल में जन्म मिल गया। अब ईर्ष्या से अपने लिए कांटे ही बोएंगे!"

पज्जा के स्वर में एक विचित्र भय था, मानो वह एक भयानक अन्धकार में सबको चलता हुआ देखा करती थी। उसके सामने यह एक जीवन जैसे कुछ था नहीं। जैसे अगले और पिछले के बीच की कड़ी बनाकर ही वह इस जन्म के कर्मों का निरूपण किया करती थी।

किन्तु मुझे जब परीक्षा में उतरना ही पड़ा तो पज्जा अम्मां के नयनों ने मुझे उभाड़ा और कहा, "वत्स धन! अब तू बड़ा हुआ। तुझे तो वणिक्पुत्र होने के कारण व्यापार करना ही होगा। अच्छा है, अभी से प्रारम्भ कर दे।"

मैंने कहा, "पज्जे अम्मां! मैं कौन-सा व्यापार करूं?"

"पुत्र! मैं क्या कहूं? इतना जानती हूं कि व्यापार वही व्यापार है जिसमें किसी दीन-दुःखी को सताना नहीं पड़े, अनुचित रूप से किसीको दबाया न जाए। अन्यथा व्यापार चतुर व्यक्ति का कौशल है।"

पज्जा अम्मां की बात वहीं रह गई। जब मैं हाट में पहुंचा तो मेरा मन धुक्-धुक् कर रहा था। मेरे सामने अध्ययन था, पिता का वैभव था; परन्तु यह मैं नहीं जानता था कि हाट एक ऐसी जगह है, जिसका पज्जा अम्मां की बात से कोई सम्बन्ध नहीं है। और मुझे लगा कि मेरे भाई इसी बाहर की दुनिया की तरह सोचते थे, जबकि मैं इधर की नहीं सोचता था। परन्तु तभी मुझे पिता का ध्यान आया और तब मुझे स्मरण हुआ कि सम्बन्ध का स्नेह इस व्यापार के ऊपर भी हो सकता है, और इसीके लिए मनुष्य जीवित रहता है। तब वह इतना संकुचित क्यों होता है कि लाभ को अपने, अपने संकुचित परिवार तक सीमित रखता है? मनुष्य की विवशताओं और आवश्यकताओं को स्वर्ण नापता है और सुवर्ण के हृदय नहीं है, इसलिए हमारा पारस्परिक व्यवहार भी हृदयहीन है। लाभ होता है कौशल से। यही तो पज्जा अम्मां ने कहा था। अपनी आवश्यकता और दूसरे की विवशता का अधिकाधिक ज्ञान ही लाभ का आधार है और इसीके

कारण संग्रह भी सम्भव हो पाता है। सदा से लोक में यही होता आया है। राजा कर कैसे लेता है? उसने सेना बना ली है और दूसरे की विवशता यह है कि वह उस सेना को नहीं जीत सकता, इसीसे कर देना पड़ता है। राजा को उसकी आवश्यकता होती है। किन्तु आवश्यकता प्रजा को भी तो पड़ती है कि आपस में एक-दूसरे को लोग लूट न खाएं, इसलिए राजा हो। विवशता ही आवश्यकता को जन्म देती है। अच्छा राजा वही है, जो अपनी आवश्यकता के लिए प्रजा की विवशता का अनुचित लाभ उठाकर अत्याचार नहीं करता। यही व्यापार में भी होना चाहिए। उस समय मेरी अवस्था कम थी। उस बात को आज सात बरस हो गए हैं। मेरी आवश्यकता थी परिवार को भोजन कराने की। यह मेरे आत्म-सम्मान का विषय था। पहले मैंने सोचा कि दासों की हाट में चलूं और एक सुन्दर दासी खरीद लाऊं। सम्भवतः वह बाद में ऊंचे मोल बिक जाए! किन्तु न जाने क्यों, मुझे इस विचार पर लज्जा हो आई। मान लो, नया स्वामी उससे दुर्व्यवहार करे। फिर पज्जा अम्मां सुनेगी तो क्या कहेगी!

इसी समय मेरे कंधे पर किसीने हाथ रखा। मुड़कर देखा—माणवक; कला-वस्तु (कलाबत्तू) का व्यापारी। उसका पिता बड़ा धनाढ्य था। माणवक स्वयं घिसा हुआ व्यापारी था।

बोला, "चलो मेरे साथ!"

मैंने अचकचाकर पूछा, "कहां?"

"मैं कुछ माल लेना चाहता हूं। चलो, बातें करते चलेंगे।"

मैंने उसके साथ चलते हुए कहा, "माणवक! मैं आज व्यस्त हूं।"

माणवक ने अपने उत्तरीय को पीछे खिसकाकर कंधे पर धरते हुए कहा, "व्यस्त? और तुम?"

फिर वह हंसा। हम लुहारों और सुनारों की दुकानें पार करके वीथिका पर आ गए, जहां से एक मार्ग तो रत्नहाट की ओर जाता था, जहां कुलीन नागरिक और नागरिकाएं प्रायः पालकियों पर बैठे दोनों ओर की दूकानों में सामान देखते हुए आगे बढ़ते, और दूसरा मार्ग धान्य की मण्डी की ओर जाता था। असंख्य हैं धंधे, मैंने सोचा, कोई अंत ही नहीं। लाक्षा की चूड़ियां दूर से दूकान पर दीख रही थीं। उधर मदिरा की दूकान थी, जहां मैंने अधनंगी दासियों को क्षत्रियों को मदिरा ढालकर पिलाते देखा। रंगशाला में शायद दिन होने के कारण रात में होनेवाले

नाटक का अभ्यास किया जा रहा था। उसीके पीछे के मार्ग पर वारवनिताएं रहती थीं।

लोगों की आवा-जाई के कारण वह मुझे एक ओर ले गया, जहां से गांध-विक्रेता की दूकान दीख रही थी। क्षत्रियों के मुकुट बेचनेवाले की दूकान उधर ही थी। वहीं अस्त्र-शस्त्रवालों की दूकानें थीं। फिर वह बोला, "व्यस्त हो? क्या कहीं किसी सुन्दरी······"

किन्तु मैंने बीच में ही काट दिया और सारी कथा कह सुनाई, जिसे सुनकर वह ठठाकर हंसा। बोला, "एक ही दिन में इतना लाभ चाहते हो!'

मैंने कहा, "नहीं तो पिता को तीनों दबा डालेंगे।"

वह अपनी पैनी आंखों से क्षण-भर सोचता रहा, फिर उसने कहा, "ऐसा करो, लेकिन धन तो तुम्हारे पास बहुत कम है। मैं कुछ दे दूं!"

"यह तो पिता से विश्वासघात होगा!"

"तो मित्र! तुम्हारा कुटुम्ब भी तो कोई छोटा-मोटा नहीं, और फिर सब ही धनी हैं। उनके अनुरूप भोज कोई सस्ता काम भी तो नहीं है! फिर भी एक काम है। एक तरकीब बताता हूं।"

मुझे उजाला-सा दिखाई दिया। मैंने उसकी ओर अत्यन्त जिज्ञासा से देखा।

उसने कहा, "धनकुमार! उधर की हाट में एक ताम्रलिप्ति का व्यापारी आया है। उसके पास बहुत अच्छा कार्पास का अत्यन्त पतला कपड़ा है। उसमें सुवर्ण के तार हैं। वह प्रत्येक के लिए दस सुवर्णखण्ड मांगता है। निश्चय ही एक ले लो।"

"पर मेरे पास तो एक ही खण्ड है।"

"तुम मुझे बिठा दो उसके पास। कहना—स्वामी को दिखला आऊं। मैं बंधक रहूंगा। ले जाकर क्षत्रिय-वास में बेच डालो। इसमें तुम्हें दो खण्ड तो बच ही जाएंगे।"

"देखो माणवक!" मैंने कहा, "मैं तुमसे कुछ ऊंची आशाएं रखता था।"

"जी हां! आप एक के दो पा रहे हैं। अपनी पूंजी भी देखते हो!"

"पूंजी देखता हूं, तभी तो राय लेता हूं; अन्यथा पूंजी ही राय देती। तुम दो-चार कपर्दिका कमवाना चाहते हो। मैं ऐसी टुटपूंजिया सलाह नहीं चाहता।"

"अच्छा!" माणवक ने कहा, "तो फिर ऐसा करो। मैं एक सिन्धु के कारीगर

को जानता हूं, अभी ही आया है। एक पीतल का अच्छा-सा सिगारदान इस सुवर्ण-खण्ड से खरीदो। उस सिन्धुवासी में सोने का मुलम्मा करने का वह कौशल है कि पूछो मत। जब तक तपाकर न देखा जाए, तब तक पहचानना असम्भव है। उसे ले जाओ और वेश्याओं की हाट में जा बैठो। वहां जब प्रेमी आएं, तो किसीको वेश्या के सामने दिखाकर कहना कि वह तो इनके योग्य है। अवश्य ही प्रेमी मना करेगा और वेश्या हठ करेगी। बिना परख के माल ले लिया जाएगा। तुम्हें काफी लाभ हो जाएगा। बस, इतनी जल्दी और कुछ नहीं हो सकता।

"लेकिन!" मैंने कहा, "यह बेईमानी है। वस्तु का मूल्य अधिक लेना व्यापार है, न कि नकली वस्तु बेचना।"

"ओहो!" माणवक ने कहा, "तो इस सारी हाट में ईमानदारी है? तोल का फरक नहीं चलता? व्यापारी बाहर से लाते हैं तो महंगा बेचते हैं। उसीको और महंगा नहीं बेचा जाता?"

"वह और बात है," मैंने कहा, "व्यापारी को खर्चा पड़ता है, एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते समय जो वन पड़ते हैं, उनमें डाकू होते हैं। जान पर खेलकर यात्रा करनी पड़ती है। फिर जो जहां नहीं है, उसे वह पहुंचाता है; तभी लाभ उसका अधिकार होता है।"

"तो," माणवक ने कहा, "तुम व्यापार कर-चुके!"

मैं उदास हो गया।

माणवक ने कहा, "अच्छा, मैं और सोचता हूं। अब चलते चलो। मुझे वणिक् ईश्वरदत्त के यहां कुछ काम है। तनिक बातें करता चलूंगा। तुम दो पल बैठना, फिर तय करेंगे।"

हम नाग देवता के मंदिर के पीछे होते हुए, फूलवालों के रास्ते से होकर यक्ष के चैत्य के आगे से निकलकर, फिर ऊनी कपड़ों की हाट में आ गए, जहां से ईश्वर-दत्त की दुकान दिखाई दे रही थी। पश्चिम की तरह छीपी लोगों की श्रेणी कार-खाने में काम में लगी थी और एक मोटा-सा वैश्य बैठा अपनी गंजी खोपड़ी को खुजा रहा था और सामने बैठे एक क्रीट के निवासी म्लेच्छ व्यापारी से बातें करता जाता था। उस म्लेच्छ के वस्त्र विचित्र थे।

जब हम ईश्वरदत्त के पास पहुंचे, वह व्यस्त बैठा था। बुड्ढा शायद कम देखने लगा था। उसके हाथ में एक लम्बा कपड़ा था। मैंने उसके ऊपर-नीचे काठ के

गोल ढंडों से समझ लिया कि यह कोई पत्र पढ़ने में लगा है।

"प्रणाम पितृव्य !" माणवक ने कहा।

वृद्ध को सम्मान के कारण ही पितृव्य कहा था उसने।

मैं उसके सामने पांव नीचे लटकाकर बैठ गया।

"अरे कौन ? श्रेष्ठि माणवक !" ईश्वरदत्त ने पत्र को मोड़ते हुए कहा, "आओ, आओ ! कहो कैसे कष्ट किया ?"

"आपने कहा था कि क्षौम और गंधद्रव्य हमें देंगे। वह काम अभी नहीं हुआ ?"

"हो जाएगा !" ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा। उसका सिर ही नहीं, विशाल पेट भी हिल उठा। वह सुनहले तारों से मण्डित उत्तरीय पहने था। उसकी हाथीदांत-जड़ी पालकी सामने एक किनारे रखी थी, जिसके पास उसके आठ दास बैठे थे।

"आपने हमें आश्वासन दिया है। आपका सार्थ कब तक आएगा ?"

ईश्वरदत्त ने कहा, "कल तक।" और रहस्य-भरी दृष्टि चुपचाप पत्र पर डाली।

मुझे कौतूहल हुआ, परन्तु मैंने कहा कुछ नहीं।

"अच्छा," माणवक ने कहा, "मैं यह प्रतिज्ञापत्र तैयार कर लाया हूं। आप इसे देख लें। मैं जाकर एक लक्ष रजत मुद्रा भेजता हूं। माल आते ही हमारा है।"

"अरे माल तो बहुत है।" ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा।

"तो जो हम चाहते हैं, उसका ही तो मूल्य देंगे।"

"हां, ठीक है श्रेष्ठि माणवक। प्रतिज्ञापत्र ठीक है। मैं तो कई श्रेष्ठियों से प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका हूं।" और उसने फिर उसी पत्र को देखा।

"तो मैं आश्वस्त हुआ," माणवक ने कहा और मुझसे कहा, "तुम ठहरो, मैं अभी वल्लभ से जरा और बातें कर लूं।"

वल्लभ का नाम सुन ईश्वरदत्त ने कहा, "चले जाओ। बुनकर श्रेणी की ओर है। भीतर है।"

वह चला गया। तब ईश्वरदत्त फिर पत्र खोलकर देखने लगा। मैं सामने बैठा था। वृद्ध ने कम दिखने के कारण पत्र को धूप में कर लिया था। न जाने क्यों मैं उसकी रहस्यमय मुस्कान का स्मरण करके उसका वह पत्र पढ़ने लगा। मेरी ओर से अक्षर उलटे थे। किन्तु ब्राह्मीलिपि का मैंने काफी अभ्यास किया था। मैंने

धीरे-धीरे सब पढ़ लिया—हमारा सार्थ डाकुओं ने लूट डाला है, परन्तु भरुकच्छ का एक सार्थवाह आ रहा है; पत्रवाहक जिस दिन पहुंचेगा उसके तीसरे दिन वह भी पहुंचेगा। उसका धन समाप्त हो चुका है, अतः वह सस्ते ही बेच देगा। उसके पास प्रायः वही वस्तु है जोकि हमारे सार्थ में थी। उसे खरीद लें और अपना वचन हाट में निर्वाह करें, अन्यथा मार्ग नहीं है। मैंने दिन-रात घोड़ों पर यात्रा की है, तभी इतनी शीघ्र आ सका हूं। वह नगर के उत्तर द्वार पर पहुंचेगा। भरुकच्छ का व्यापारी सौवीर है।

अभी वृद्ध पढ़ ही रहा था कि माणवक आ गया और बोला, "चलो। अच्छा पितृव्य प्रणाम!"

वृद्ध ईश्वरदत्त ने सिर हिला दिया और उसके होंठों पर झूठी मुस्कान भी खेल गई।

मैं जब चला तो मेरा मस्तक खलबला रहा था।

चतुष्पथ पर आकर माणवक ने कहा, "तो मित्र! फिर क्या करोगे?"

मैंने कहा, "अभी तो घर जाता हूं। फिर तुम्हारी दूकान आऊंगा।"

माणवक ने अत्यन्त निराशा से मेरी ओर देखा, जैसे तुम क्या व्यापार करोगे!

घर आने पर मुझे दास सुलक ने कहा, "कुमार! आप कहां गए थे? भोजन भी नहीं किया?"

"हां," मैंने अश्वशाला की ओर जाते हुए कहा, "अभी लौटकर करूंगा सब काम। तू जाकर पज्जा अम्मां से कह दे। उससे कह दे कि वह खा ले।"

मैंने एक श्वेत घोड़ा खोला और पथ के बाहर आते ही घोड़ा उत्तर द्वार की ओर दौड़ा दिया।

उस समय मेरे मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार टकरा रहे थे। भरुकच्छ का सौवीर व्यापारी उत्तर द्वार पर ही आएगा! ईश्वरदत्त ने कई लोगों को अपने सार्थ के आने की आशा में वायदा कर लिया है। यदि वह समय पर माल न दे सका, तो दिवालिया समझा जाएगा। हाट से उसकी साख उठ जाएगी। उधर उसका सार्थ भी लुट चुका है। उसकी घबराहट इतनी बढ़ गई कि उसने घोड़े पर मारामार अपना आदमी भेजा, जिसने भरुकच्छ के व्यापारी को इधर भेज दिया है। सौवीर का भी धन बीत चुका है। ऐसी अवस्था में वह भी माल रोक नहीं सकता। ईश्वरदत्त इसमें लाखों का लाभ उठाएगा और उसकी हानि भी दबी रह

जाएगी। ऐसी परिस्थिति में वह इस सार्थ के माल को खरीदे बिना कभी नहीं छोड़ेगा।

जब मैं उत्तर द्वार पर पहुंचा, तब वहां कोई भी सार्थ मुझे नहीं दिखाई दिया। आंखों के सामने अंधेरा छा गया। अचानक मुझे ध्यान आया, कहीं एक दिन बाद तो वह नहीं आनेवाला है?

अभी मैं इसी सोच-विचार में था कि मुझे दूर एक पताका दिखाई दी। मैंने उधर ही घोड़ा दौड़ा दिया।

सौवीर सार्थवाह को पहचानते मुझे देर नहीं लगी, क्योंकि उसका उष्णीश पश्चिमवासियों का सा ही था। मैंने घोड़ा रोककर कहा, "यह सार्थ किसका है?"

"मेरा है, युवक!"

"कहां से आ रहे हो? भरुकच्छ से?"

भरुकच्छ से सुनकर वह चकित रह गया।

मैं घोड़े से उतर पड़ा। मैंने कहा, "तब तुम ही हो वह सौवीर?"

मेरी बात सुनकर उसे आश्चर्य भी हुआ और शंका भी। किन्तु नगर-द्वार सामने ही दीख रहा था, यहां रक्षक नियुक्त रहते थे, अतः उसे भय नहीं हुआ।

उसने पूछा, "तुम कौन हो?"

"इधर आओ!" मैंने उसे पथ के दूसरी ओर ले जाकर एकान्त में कहा, "तुम मुझे नहीं जानते सौवीर के वणिक्! परन्तु मैंने तुम्हें रात ही स्वप्न में देखा था। यक्ष ने कहा है मुझसे कि उत्तरद्वार से आगे बढ़ने पर तुम्हें एक भरुकच्छ से आता सौवीर सार्थवाह मिलेगा। उसके पास जो कुछ भी माल है वह तुम खरीद लेना, क्योंकि वह इस समय संकट में है। नगर में व्यापारी उसकी विवशता का अनुचित लाभ उठाकर उसे हानि पहुंचाएंगे। कहो, यह बात ठीक है?"

मैं जानता था कि प्रायः सौवीर वैश्य यक्षोपासक होते हैं।

मेरी बात सुनकर वह गद्गद हो गया। उसने मेरे हाथ दबाकर स्नेह से कहा, "यक्ष! यक्ष ही के कारण मैं बच गया युवक! इस बार जिस पथ से हम आए हैं, उधर दो सार्थ लुट चुके हैं। पता नहीं, क्यों इतने छोटे-छोटे राज्य हैं वे! कुछ भी तो नहीं कर पाते। एक राज्य से दूसरे में आते-जाते समय कर लेने को तो ये गणराज्य और एकतन्त्रों के राज्य इतने तैयार रहते हैं, किन्तु सीमावर्ती वनों के डाकुओं का कोई प्रबन्ध नहीं करता। उधर विन्ध्य के दक्षिण में तो कुछ

पूछो ही नहीं। कहते हैं, उत्तरापथ में तो मगध और वत्स के राजाओं ने अवंती से भी सम्बन्ध जोड़े हैं; कोसल से भी। कैसे भी हो युवक श्रेष्ठि! यदि एक विशाल राज्य बन सके और शांति स्थापित हो सके। चारों ओर अहिंसा हो। ये क्षत्रिय बड़े हिंसक होते हैं।"

मैंने मौका न चूककर कहा, "हिंसा का उत्तर तो हम वैश्य ही देते हैं सौवीर बन्धु! वैश्य वैश्य एक हैं। क्षत्रियों के ये गण क्या टिक सकते हैं दासों पर इतना अत्याचार करके? असंभव! आओ, यहीं पथ के किनारे वृक्षों की छाया में बैठें।"

जब हम बैठ गए, तब मैंने कहा, "अब कहो, कितना माल है, और क्या लोगे?"

"तुम देख तो लो।"

"सज्जन का वचन बड़ा है, मित्र! देखा-दिखाया है। मुझे तो यक्ष की आज्ञा का पालन करना है। मूल्य कहो।"

"सबका बता दूं?"

"सबका मित्र!"

"अच्छा बीस लाख रजतखण्ड दे दो।"

"बीस लाख! मित्र! मेरी अवस्था तो देखो। मित्रता बड़ी है न? पन्द्रह रखो।"

"तुमने माल तो देखा होता..."

"माल से बड़ा वचन है तुम्हारा। कुछ तुम भुगतना, कुछ मैं भुगत लूंगा... बोलो स्वीकार है?"

"मेरे क्षौम देखते तो..."

"मेरे आदमी आ रहे हैं पीछे। वे सब मूल्य यहीं चुका देंगे। तुम इस समय यह स्वर्णखण्ड लो और वायदा करो। बोलो, सौदा हो गया?"

"वायदा ही हो गया!" सौवीर ने प्रसन्नता से कहा और अपने दूर खड़े साथी की ओर देखकर मुस्कराया, जिसने उसे मुस्कराते देखकर सारे सार्थ को आज्ञा दी, "खोल दो पशुओं को।"

मैंने कहा, "मित्र! भोजन करो तुम लोग। सन्ध्या तक शकट लेकर वे आ जाएंगे, तब तक मैं यहीं ज़रा लेट लेता हूं।" उत्तरीय बिछाकर मैं लेट गया। अब वह तो निश्चिन्त चला गया, पर मैं सोचने लगा कि यदि ईश्वरदत्त के सेवक

न आएं तो ! यह सौवीर मेरा स्वर्णखण्ड तो ले ही लेगा और अपमानित करेगा सो अलग। जो हो ! एक बार तीर्थंकर पार्श्वनाथ को मन ही मन स्मरण किया और आंखें मूंदकर लेट रहा। ठण्डी हवा ने मेरी पलकें झपका दीं।

जब मेरी आंखें खुलीं, तो मैंने कुछ धीमा कोलाहल-सा सुना।

सौवीर कह रहा था, "अब मैं क्या कर सकता हूं ? माल बिक चुका है और साही मिल चुकी है। धनी वहां पेड़ के नीचे बैठा अपने सेवकों की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके भृत्य ही बाकी रकम लेकर आएंगे। मैं तो हलका हो गया।"

मैं उठकर बैठ गया और अंगड़ाई ली। एक आंख डालते ही मैं समझ गया कि यह आदमी ईश्वरदत्त के ही हैं। मेरी जान में जान आई।

जब मैं घर पहुंचा, घोड़े से उतरते ही मैंने देखा कि प्रतीक्षा-भरे नयनों से पज्जा अम्मां बाहर ड्योढ़ी में ही खड़ी थी।

मेरी प्रसन्न मुद्रा देखकर भी वह रुष्ट ही रही।

प्रकोष्ठ में पहुंच मैं चांदी की चौकी पर बैठ गया और वह मेरे जूते खोलने लगी। परन्तु बोली नहीं। मैंने द्वार बन्द कर दिया और फिर बैठ गया। मैंने कहा, "पज्जा अम्मां ! तूने खाना खा लिया ?"

उसने मुंह फेर लिया।

मैंने कहा, "पज्जे अम्मां ! देख ! यह मैं क्या लाया हूं !"

पज्जा ने एक बार कनखियों से रूठे मुंह से देखा, किन्तु जब दृष्टि पड़ी तो मुंह और आंखें आश्चर्य से खुली रह गईं। रत्नों पर दीपकों का प्रकाश पड़ते ही आंखों को चौंधियानेवाली ज्योति तड़पने लगी।

"कहना नहीं किसीसे !" मैंने धीरे से कहा।

"कहां से लाया वत्स धन !"

मैंने सुनाया और कहा, "जब ईश्वरदत्त के लोग मेरे पास आए, तब मैंने कहा कि माल तो मैं ले चुका हूं। वैसे मुझे तो बेचना ही है। यहां कुछ लाभ मिल जाए, तो इतनी मेहनत ही क्यों करूं ? मैं जानता था कि वे खाली हाथ नहीं लौट सकेंगे। एक लाख का मुनाफा तय करके मैंने दाम ले लिए और वह पिता का दिया स्वर्णखण्ड भी।"

पज्जा अम्मां ने उठकर मेरी बलैया ली और मुझे छाती से लगा मेरा माथा चूम लिया और मेरे सिर को आंसुओं से भिगोने लगी।

—

मैंने कहा, "अम्मां ! क्यों रोती है तू ? मैं देर से आया इसलिए ? तू भी तो भूखी रही है व्यर्थ !"

"और तू नहीं रहा ?"

"मैं तो व्यापार में लगा था।"

वह तृप्त-सी बोली, "खाना खा लो चलकर। पर यह आभूषण क्यों लाए हो ?"

"बता दूं ?"

"अच्छा, मत बताओ।"

तब मैंने जो कुछ कहा, सुनकर वह बोली, "वत्स धन ! तू कितना अच्छा है ! तेरा हृदय कितना विशाल है !"

"अभी किसीसे न कहना !"

"भला क्यों कहूंगी मेरे लाल।"

पिता को मैंने भोजन के बाद जाकर स्वर्णखण्ड लौटा दिया।

पिता ने भूर्जपत्र की पुस्तक रख दी। वह एक नाटक था—रंभा-रावण। दीपालोक में मैंने वह नाम पढ़ लिया।

"वत्स ! यह क्यों लौटाता है ?"

"व्यापार कर चुका हूं। आज्ञानुसार पूंजी वापस कर रहा हूं।"

"क्या अर्जन किया ?"

मैंने इधर-उधर देखकर निश्चय कर लिया, कोई नहीं था। तब धीरे से कहा, "एक लाख !"

पिता को विश्वास नहीं हुआ। बोले, "क्या कहा ?"

"सच कहता हूं, पिता ! एक लाख !"

"झूठा !"

"सच पिता ! यह भोज के लिए एक हजार रखिए। रजतखण्ड है मुद्रांकित !"

"और बाकी दिखा !"

"अभी नहीं दिखाऊंगा !"

"क्यों ?"

"आप कह देंगे !"

किन्तु पिता नहीं माने, तब आभूषण भी दिखाने पड़े।

"निन्नानवे हजार के हैं ये तीन जोड़े कंकण !"

"हां पिता !"

"क्यों खरीदे हैं ये भला ?"

मैंने जब सिर नीचा करके बताया, तो पिता हिल उठे और मैंने जीवन में उन्हें पहली बार विचलित होकर रोते देखा। पता नहीं मेरी बात में ऐसा था ही क्या ? परन्तु कुछ ही देर में वे स्वस्थ हो गए और जिस दृष्टि से उन्होंने मुझे देखा, उसका मैं आज भी वर्णन नहीं कर सकता ! वे शायद बहुत पास थे या बहुत दूर थे, यह मैं निश्चय नहीं कर सका। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, "धनकुमार ! पुत्र ! चिरंजीव हो ! युगान्तर तक तेरी गौरवगरिमा अखण्ड और प्रोज्ज्वल रहे !"

उनका स्वर थर्रा गया, जैसे गद्‌गद हो गया था।

कुछ देर बाद पूछा, "अब बता, कैसे कमाया ?"

मैंने जब बताया, तो वे खूब हंसे और प्रशंसा-भरे नेत्रों से मुझे देखकर कहा, "और वे तीनों मूर्ख अब क्या कहेंगे ?"

"ऐसा न कहें पिता ! वे विक्षुब्ध होंगे !"

"मैं कहता हूं, मेरे पास क्या नहीं है ! विधाता ने सब दिया है। फिर खाएं-पिएं। ईर्ष्या क्यों करते हैं ? अब तू ही देख, जो भोज उन्होंने दिया था, उसे खाकर क्या परिवार के लोग फिर आएंगे हमारे यहां ? वह हमारी और उनकी मर्यादा के अनुकूल था ?"

मैंने कहा, "मैं उनको लाऊंगा पिता ! घर-घर जाऊंगा, एक-एक को मना लाऊंगा। आप विश्वास रखिए। अभी किसीसे भी नहीं कहें।"

दूसरे दिन जब भोज हुआ, तब उस उत्सव-आनन्द को देखकर कुटुम्बी जो डर-डरकर आए थे, प्रसन्न हो गए। पायस, दधि, दुग्ध की सामग्रियां, मिष्टान्न और स्वादिष्ट भोजन से उड़ती सुगंधि से घर भर गया। उन लोगों के विवश करने पर मुझे गाना पड़ा, जिससे उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की।

आर्यश्रेष्ठ क्षत्रिय व्याघ्रवीर्य पिता के विशेष निमन्त्रित मित्र थे। बोले, "मित्र ! आज क्या बात है ?"

पिता की छाती गर्व से फूली हुई थी।

"एक लाख ! श्रेष्ठि ! इसमें विस्मय क्या !" व्याघ्रवीर्य ने कहा, "कोट्या-

घोश के यहां लाख लगते हैं, लाख आते हैं।"

"परन्तु मैंने उसे एक स्वर्णखण्ड दिया था और उसने उतनी पूंजी से एक लाख कमाए हैं।"

कोलाहल मच उठा।

"कैसे ? कैसे ?" की पुकार उठ खड़ी हुई।

मैं लाया गया। मैंने कहा, "व्यवसाय भाग्य से होता है। मैंने एक सार्थवाह को देखा। बहुमूल्य वस्तु जानकर खरीद लिया सब माल। जानता था, सब बिक जाएगा। भाग्य से कुछ व्यापारी वहीं आ गए। सार्थवाह मुझसे वादा कर चुका था। मैंने व्यापारियों से लाभ लेकर वहीं सब माल बेच डाला।"

बड़े भैया धनदत्त मंझले भैया धनदेव और छोटे भैया धनचन्द्राधिप स्तब्ध बैठे थे। इलायचियां बंट रही थीं। गंध प्रकोष्ठ में फैल रही थी। मां प्रसन्न थीं। पिता भी। सब लोग जा चुके थे। केवल पज्जा अम्मां खाने से बची थी। वह अब घर के समस्त दास-दासियों को खिला रही थी। पिता की यही आज्ञा थी। मैंने देखा, वह हमारे प्रकोष्ठ के द्वार के पास हीं खड़ी थी।

बड़ी भाभी सुभामा, मंझली भाभी सुमुखी और छोटी भाभी अलका मां की बगल में बैठी थीं। वे बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहने थीं। कटि पर रत्न-जटित मेखलाएं थीं। उनका वेश अत्यन्त धन-सम्पन्नता का प्रतीक था।

"पज्जे !" मां ने कहा, "दीप उठा दे।"

पज्जा अम्मां ने शिखाएं उठा दीं। प्रकोष्ठ में प्रकाश भर गया।

पिता ने मुझे गर्व से देखा और कहा, "पुत्रो ! अपने कनिष्ठ भ्राता को आशीर्वाद दो। उसने कुल का नाम उज्ज्वल किया है।"

"किन्तु," धनदेव ने कहा, "पिता ! हमने तो अभी एक ही हजार का हिसाब देखा है। लाख में तो निन्नानबे हजार और होते हैं ! हमें तो सच विश्वास ही नहीं होता !"

"तो," पिता ने कठोर स्वर से कहा, "यही क्यों नहीं कहते कि तुम्हें यह भी सन्देह हो रहा है कि कहीं इस छोटे बेटे के गौरव की स्थापना करने को मैंने इसे एक लाख न दे दिए हों !"

धनदेव ऐसे चुप हो गए, जैसे उनके मन की बात पकड़ी गई हो।

"पूछना जाकर !" पिता ने कहा, "सौवीर व्यापारी, जो भरुकच्छ से सार्थ

लेकर आया था, उसने किसने एक सुवर्णखण्ड देकर माल खरीदा और ईश्वरदत्त के भृत्यों ने सारा माल एक लाख का लाभ देकर किससे खरीद लिया।"

अलका भाभी के मुख से आश्चर्य की ध्वनि निकल गई। भाभी सुनुश्री ने मेरी ओर संदेह से देखा। भाभी सुभामा के नयनों में तो मुझे कुछ ईर्ष्या भी दिखाई पड़ी।

"पर निन्नानवे हज़ार कहां गए ?" धनदत्त भैया ने फिर भी टोक ही दिया।

"पुत्र ! बाकी धन दिखा !" पिता ने आज्ञा दी।

मैंने बढ़कर कहा, "धन प्रस्तुत है। मैंने कमाया है, अतः मेरी ही इच्छा से वह योग्य स्थान पर जाएगा !"

और मैंने तीनों जोड़े कंकण तीनों भाभियों के चरणों के आगे रखकर दण्डवत् प्रणाम करके कहा, "भाभी ! तुम मेरी माताओं के लिए समान हो। तुम ही मेरी अकिंचन भेंट स्वीकार करो।"

पिता के नेत्र फिर भीग गए। मां ने मुझे जीवन में शायद पहली बार देखा !

भाभियों को शायद विश्वास नहीं हुआ। तब पजआ अम्मां ने उन्हें वे कंकण पहना दिए। कहा, "स्वामिनी वधू ! तैंतीस-तैंतीस हज़ार का एक-एक जोड़ा है। देवर को आशीर्वाद दो !"

तब उन तीनों के नयनों में आंसू भर आए और उन्होंने मेरे माथे को सूंघा और कहा, "धनकुमार ! तू सचमुच देवता विद्याधर है। तू सदा ही यशस्वी बने।"

उसके बाद की यादें अब मैं सोचना नहीं चाहता। नहीं जानता कि वह मेरे जीवन की पहली हार थी या जीत ! मैंने कभी यह नहीं सोचा कि मैंने कभी कुछ प्रशंसनीय कार्य किया है। वह भी मैंने वास्तव में स्वार्थ से प्रेरित कार्य किया था कि भाभियों के प्रति मेरा सेवा-भाव देखकर शायद मेरे अग्रज मुझसे द्वेष करना छोड़ दें ! परन्तु क्या वह स्वप्न पूरा हो सका ! नगर में मैं विख्यात हो गया। ईश्वरदत्त भी मुझे स्नेह और आदर से बिठाने लगा। अब मैं धनकुमार नहीं था। मुझे लोग श्रेष्ठि धनकुमार कहते थे। तब मैंने जाना कि संसार में वैश्य के लिए धन ही मुख्य था। और मैं सोचता था कि क्या सचमुच धन इतनी बड़ी चीज़ है ? फिर मुझे यह इतना बड़ा क्यों नहीं लगता ? इस धन के कारण मनुष्य कैसे ऊंच-नीच हो जाता है ? धन न रहने पर दिवालिया हो जाने पर किस तरह इसी पुरपइठान में श्रेष्ठि सागरदत्त को मैंने अपमानित होते देखा था, वह मुझे याद आता था और

"व्यापार साहस ही है, मेरे पुत्रो! वणिक् का साहस क्षत्रिय के साहस से कहीं अधिक बड़ा होता है। वणिक् चतुर क्यों होता है? क्यों वह अन्यों की भांति रूढ़िग्रस्त नहीं बना रहता? क्यों वह दया और ममता को प्रश्रय देता है? मैं बताता हूं अपने यौवन के अनुभवों के आधार पर। वह अज्ञात धरती पर घूमता है, नये-नये आकाशों के नीचे निराश्रित-सा सोता है। वह विभिन्न प्रकार के लोगों को देखता है और समझता है कि मनुष्य का वास्तविक आधार स्नेह और ममता ही है, क्योंकि वही उसे नहीं मिलता। धन स्वार्थ है अवश्य, परन्तु सच्चा वणिक् मनुष्यत्व के ऊपर लाभ नहीं रखता।"

मैं जानता हूं ऐसा नहीं होता। ममता को खोजनेवाला व्यापारी वास्तव में बहुत निर्मम होता है। वह प्रायः धन ही से सबको आंकता-कूतता है, फिर भी पिता ने जो आदेश दिया था, वह क्या बुरा था!

परनिन्दा से प्रारम्भ होती है हीनत्व की भावना की विकृत तुष्टि और बढ़ते रहने दी जाए, तो वह अपने ही मन को आरे की तरह काटने लगती है। और इस बार फिर परीक्षा हुई। पिता ने उन तीनों को पांच-पांच स्वर्णखण्ड देकर भेजा और उनके व्यापार का अन्त परिवार के लिए ऐसा रूखा-सूखा भोज लाया कि मां रोने लगीं और पिता ने लज्जा से बाहर आना अस्वीकार कर दिया। आई मेरी बारी। मुझे झुंझलाहट आ रही थी। सोच रहा था कि यहां रहने से लाभ ही क्या? परन्तु पिता के वचन और पज्जा अम्मा का मन क्या मुझे जाने दे सकते थे? इस बार मैंने निर्णय किया कि कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे लाभ तो दूर, हानि हो जाए तो अच्छा! यह रोज़ की परेशानी तो दूर हो।

आज मैं माणवक से भी नहीं मिला। मुझे तो काम बिगाड़ना था। मैं सोचने लगा कि धन तो नहीं ही कमाना है। पिता का क्रोध है, शान्त हो ही जाएगा और फिर मैं एकांत जीवन व्यतीत करूंगा। सारा जग आज प्रशंसा कर रहा है, कल निन्दा करेगा।

और जब मैं राजपथ से हटकर गलियों में चलने लगा, तब मुझे अपनी जाति की लोलुपता दिखाई देने लगी। गली के मकान बहुत गन्दे थे। उनके निवासी भी गन्दे थे। ये थे श्रेणियों के मकान। कहीं बुनकर रहते थे, कहीं कलाबत्तू के कारीगर, कहीं रंगरेज़। और मैंने जिसे गन्दा और घृणित समझा, वह सचमुच हमारे घरों से कितना अलग था! तब मुझे विचार आया कि यह भेद क्यों है? भाग्य के

कारण, पूर्वजन्म के फलाफल के कारण ? फिर मुझे ध्यान आया कि ये जो कर्मकर हैं, स्वतन्त्र हैं। मेहनत करते हैं, खाते हैं। ये दास नहीं हैं। ये दुस्साहस नहीं करते। लाभ तो साहस से आता है। कर्मकर जितना काम करता है, उतना पाता है। वैश्यश्रेष्ठि अपना धन भी तो लगाता है। क्या इसका उसे मूल्य नहीं मिलना चाहिए ? यों सोचते हुए मैं पशुओं की हाट में निकल गया। पशुओं की हाट मैंने पहले भी देखी थी, परन्तु तब मेरे साथ सेवक रहते थे। आज मैं अकेला था। दो जगह खड़े होते ही मैंने देखा कि यहां लोग एक-दूसरे को पशु-लक्षण नहीं बताते, और काफी गोलमाल चलता है।

मैंने स्वर्णखण्डों को टटोला और अभी मैं सोच ही रहा था क्या करूं कि मेरी दृष्टि पड़ गई और मैंने तीनों भाइयों को मेरी ओर देखते हुए पकड़ लिया। ये यहां क्यों आए हैं ? हठात् मुझे घृणा ने घेर लिया। ये अब मुझे देखने आए हैं कि मैं क्या करता हूं। क्या है मेरी बुद्धि ? वह क्षण मुझे याद है। उसने मुझमें एक प्रकार की विनम्र प्रतिहिंसा भर दी। मुझे लगा कि मुझे उनका मुंह-तोड़ उत्तर देना चाहिए ! परन्तु सहसा ही विचार आया, लेकिन क्यों ? भाग्य अज्ञात है। मैं गर्व भी करूं तो किसपर ? लाभ निश्चित है नहीं। तो यही क्यों न दिखाऊं कि मैं लाभ चाहता ही नहीं। ऐसा क्यों न करूं कि लाभ नहीं हो, हानि हो। यह मेरा जीवन नष्ट करना चाहते हैं ? अरे ! यह क्या करेंगे मेरा जीवन नष्ट ! उसे तो स्वयं मैं बिगाड़ूंगा। ऐसा कि पुरपइठान चौंककर देखे।

सामने जो देखा तो एक बलिष्ठ मेढ़ा बंधा था। मन तरंगित हो गया। उस समय मेरा मन भी उसीकी भांति विक्षुब्ध हो रहा था। मैंने सोचा, वह करूं जो किसी वैश्य ने नहीं किया। मेढ़ा खरीदूं, मेढ़ा लड़ाऊं। क्षत्रियों और शूद्रों, ब्राह्मणों और म्लेच्छों की भांति तीतर, बटेर, मुर्गे और मेढ़े लड़ाऊं। वैश्यों में अपने-आप मेरे प्रति घृणा हो जाएगी। हा-हा-हा...करके मन के भीतर ही भीतर ठहाका लगाकर हंसा। और तब मैंने जो पशुशास्त्र पढ़ा था, उसकी एक-एक बात याद आने लगी। बड़ा जबर्दस्त था वह मेढ़ा। मेढ़ेवाले से कहा, "जानवर बोदा मालूम होता है।"

"अरे तो रहने दो !" मेढ़ेवाले ने मूंछों पर हाथ फेरकर कहा, "पुरपइठान के मेढ़े एक पांत में खड़े कराके लड़ाके देखो।"

"तो," मैंने कहा, "लड़ भी लेगा यह ?"

"अजी हां।" उसने अपने मेढ़े पर हाथ धरकर कहा, "यह मेरा छौना पत्थर तोड़ दे एक चोट में।" और वह अजीब-सी झन-झन करती हंसी हंसकर बोला, "तुम्हारे नगर में माल की जांच नहीं। बोलो, क्या देते हो ?"

"देना क्या है ?" न जाने मुंह से कैसे निकला। "यही जरा लड़ाने का शौक था। मगर किस दम पर लें ? किस मुंह से ले जाकर अखाड़े में खड़ा करें इसे ! माल हो तो दाम भी दें। यों दाम धरती फेंके भी और धूल उठाके ले चले तो क्या लाभ ! हम तो खिलाड़ी हैं। हमारा धन तो जीत-हार है। गोबर फेंकते हैं तो धूल लेके उठता है। बोलो, है यह किस लायक !"

मेढ़ेवाले ने कहा, "युवक हो, पर पूरे गांठ के पूरे हो। अच्छा हटाओ, ले लो। बोलो, क्या दे दोगे ?"

"यह भी कुछ देने लायक है," मैंने कहा, "मेरे साथ चलो। पास ही तो अखाड़ा है। दांव लगाता हूं। लड़ाओ किसीसे। जीत हुई तो सब तुम ले लेना, और हार हुई तो मैं हरजा भरूंगा। मगर एक शर्त है, मूंछें दे जाना मुझे अपनी।"

"तुम्हें लेना ही नहीं है।"

"ओहो, यह योंही लिए फिरते हैं ?"

कहकर मैंने कुछ स्वर्णखण्ड दिखलाए। वह अब दबकर बातें करने लगा। अन्त में मैंने मेढ़ा ले लिया और उसे दो खण्ड दे दिए।

वह ऐसा प्रसन्न हुआ कि पूछो नहीं।

जब मैं मेढ़ा साथ लिए अखाड़े में पहुंचा, तो भीड़ लगी थी। मैंने मेढ़ा अन्य पशुओं के साथ पशु-रक्षक के पास खड़ा किया और भीड़ में घुस गया।

भीड़ में घुसते ही मेरा सिर उस कोलाहल से फटने लगा। और कमाल तो मुझे तब लगा, जब मैंने मनुष्यों को पशुओं से भी अधिक पागल होते हुए देखा। दो मेढ़े लड़ रहे थे और दोनों ओर से उनके स्वामी और उनके साथी इस बुरी तरह चिल्लाकर, कूद-कूदकर, उछल-उछलकर उन्हें बढ़ावा दे रहे थे कि मैं यह नहीं समझ सका कि असल में लड़ कौन रहे हैं, पशु या मनुष्य !

"ओय आगे बढ़कर···"

"जय ! पुत्र ! जय···"

"हिक्का हिक्का···"

भट्ट ! भट्ट !—सींगों के टकराने से आवाज उठती और फिर एक मेढ़ा दूसरे

को पीछे हटाता ले जाता और एक ओर की सांसें खिच जातीं, दूसरा पक्ष चिल्लाता और फिर क्षण-भर बाद ही पासा पलटता कि निस्तब्ध पक्ष से गगनभेदी निनाद फूट निकलता।

वह आदमी, जो बहुमूल्य वस्त्र पहने पागल-सा चिल्ला रहा था, मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, स्वयं पुरपइठान का राजकुमार अरिमर्दन था, जिसके पशु-प्रेम की कहानियां दन्तकथाओं के रूप में प्रचलित थीं। क्षत्रिय को तो आवेश चाहिए। युद्ध नहीं है तो आखेट! आखेट नहीं है तो सिंहयुद्ध, हस्तियुद्ध, और मेष-युद्ध और ज़रा बुढ़ापा छाया कि बटेर, तीतर, मुर्गा लड़ाने लगा। मैं भीड़ के बाहर आ गया। एक व्यक्ति अत्यन्त उदास खड़ा था। उसकी स्त्री रो-रोकर कह रही थी, "अरे मूर्ख! तू जूए में घर खो बैठा था, तब मैं चुप रही, अब तो तूने सब कुछ खो दिया। इन बच्चों का मैं क्या करूं? तू भी क्या कोई कुलीन राजन्य था। अरे धनियों के खेल गरीबों के लिए काल होते हैं। किसी श्रेणी में बैठता तो आज कुछ कमाता होता, तेरे बच्चे पथ पर भीख तो नहीं मांगते!"

और वह ऐसा खड़ा था, जैसे कोई मुर्दा हो। मैंने देखा, क्रोध उसपर चढ़ने लगा और तब उसने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया और बाल नोचता हुआ एक ओर भाग चला। स्त्री उसके पीछे भागने लगी और फिर आती भीड़ ने सब ढक लिया। अचानक घोर कोलाहल हुआ और मैं भीड़ में घुस गया।

अरिमर्दन का मेढ़ा हार गया था। और एक लाख रजत मुद्रांकित खण्ड वह हार चुका था। मगर वाह रे क्षत्रिय! उसके चेहरे पर ज़रा सिलवट भी तो पड़ी हो! थोड़ी देर पहले जो पागलों का सा उछल-कूद रहा था, अब फिर उसमें राजन्य-गांभीर्य आ गया था और वह अपने मेषपालक भृत्य से कुछ कह रहा था।

मैंने बढ़कर कहा, "देव! आपकी पराजय से मुझे बहुत खेद हुआ।"

"खेद!" राजकुमार ने अपनी जांघ पर हाथ मारकर कहा, "जीत-हार में खेद किसलिए?" फिर स्वर बदलकर कहा, "क्या बताऊं! पुरपइठान में मेरे योग्य मेढ़ा ही नहीं!"

मैंने कहा, "सो न कहें, राजकुमार!"

"क्यों?"

"मेरा मेढ़ा देखके कहिए। वह हार जाए तो शर्त है।"

"क्या शर्त है?" राजकुमार ने बिना विचलित हुए पूछा। मैंने अचकचाकर

कहा, "शर्त ? आप लड़ाइए। बाजी दो लाख की। देखें किसका मेढ़ा आता है। जीते तो धन आपका, हारे तो हार मेरी; भुगतूंगा।"

"वाह रे धनकुमार !" भीड़ में से किसीने कहा, "तूने भी श्रेष्ठि धनसार का नाम चमका दिया।"

कोई देखे न देखे, मैंने धनदेव का स्वर स्पष्ट पहचान लिया।

परन्तु मैंने ध्यान भी नहीं दिया।

अब और क्या कहूं ! वे क्षण आए कि मेढ़े टूटे, टकराए, और अब मैं भी उछलने-कूदने लगा। न जाने क्यों, मुझे भी आवेश हो आया।

जब मेरा मेढ़ा जीता तो राजकुमार ने मुझे हाथों पर उठा लिया और 'धनकुमार की जय' से सारा मैदान भर गया।

"ले लो धनकुमार, सब ले लो !" राजकुमार ने पुलककर कहा, "तुम्हारा नाम पहले भी सुन चुका हूं। तुम धन्य हो। आज से तुम मेरे मित्र हुए। दो लाख ले लो, मेढ़ा मुझे दे दो।"

मैंने कहा, "राजकुमार ! मेरी-आपकी मित्रता कैसी ? आप स्वामी हैं, मैं प्रजा हूं। परन्तु आपने जब इतना गौरव दिया है, तो अकिंचन होने पर भी प्रयत्न यही करूंगा कि आपकी महानता में बट्टा नहीं लगने दूं। मेरी हैसियत ही क्या है जो लेने-देने का स्वांग करूं ! आपने जब मित्र ही बना लिया, तो मित्र का सब कुछ मित्र का है। धन भी आप लें, और मेढ़ा भी ले लें।"

तभी धनदेव की शक्ल मुझे भीड़ में दिखाई दी। उसपर तिरस्कार था। स्पष्ट ही जो कुछ मैं कह रहा था, वह वैश्यों के लिए निंदित था।

राजकुमार ने मुझे छाती से लगाकर कहा, "धनकुमार ! तब हम मित्र हुए। पर मैं लेता ही रहूं, दूं कुछ नहीं—तो मित्रता क्या रही ! बोलो, आज सौगात के रूप में कुछ तो ले लो ! दोनों लाख तुम्हारे तो निश्चय हैं ही, और भी कुछ मांगो।"

"देंगे राजन् ?" मैंने पूछा।

"प्रतिश्रुत तो हो ही चुका !"

"तो फिर दें। प्रजा को अनुकरण। जैसा राजा, वैसी प्रजा। आज से मनोरंजन में जुआ बन्द !"

राजकुमार ने मेरी ओर देखा और घूरते रहे और तब भीड़ की ओर देखा।

कई दरिद्र थे। राजन्य के नयन कांपे और फिर उसने कहा, "प्रतिज्ञा करता हूं।"

मैं चिल्लाया, "राजकुमार अरिमर्दन की···"

भीड़ चिल्लाई, "जय !"

परन्तु सायंकाल मैंने देखा कि भाई नतग्रीव थे, छटपटाते-से। पिता से मुझे कहने नहीं जाना पड़ा। प्रवाह की तरह बात घर, गवाक्ष, कोने में, नगर-भर में भर चुकी थी। दो हज़ार का भोज तो परिवारवालों को मिला ही। एक सौ अट्ठानवे हज़ार का माल—वस्त्र-भूषण पाकर भाभियां तो विह्वल-विह्वल गईं ही, और वैश्यों में मेरे गुणगान तो उठे ही, परन्तु पज्जा अम्मां ने कहा, "वत्स धन ! एक बात पूछूं ?"

"पूछ अम्मां !"

"यह धन बड़ा अनमोल होता है। भाग्य कभी-कभी साथ देता है। इसका संचय करना चाहिए। कभी दुर्भाग्य हो तो काम आता है।"

मैंने कहा, "अम्मां ! दुर्भाग्य अर्जन पर ही नहीं, संचय पर भी आता है। धरा भी निकल जाता है। तूने ही तो कहा था कि देने के लिए हृदय बहुत विशाल होना चाहिए। उसीसे दूसरा जन्म सुधरता है।"

वह कुछ नहीं कह सकी।

तब मैंने कहा, "अम्मां ! सबसे छिपाता हूं, पर तुमसे सच कहूंगा।"

अम्मां ने मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, "जानती है, मैं वह धन भाभियों को क्यों देता हूं ?"

"जानती हूं कि वे तुम्हारे भाइयों को तुम्हारे प्रति अनुकूल बना सकें।"

"नहीं, वह नहीं होने की बात है। दूसरा कारण है।"

"वह क्या है ?"

"कि ईर्ष्या में जब मनुष्य की निरन्तर पराजय होती है, तब वह विवेक खो बैठता है। ऐसे किसी क्षण में जो वह भयानक कार्य करने की सोच लेता है, उस समय की सूचना मुझे भाभियों से बढ़कर कौन दे सकता है ? वे मेरी प्रशंसा करती थीं, सो मैंने उन्हें समझाकर रोक दिया है। उनके मुख से मेरी प्रशंसा आग बुझाती नहीं, भड़काती है। अतः वे बुराई करें तो भाई उनसे अपनी गुप्त योजनाएं छिपाएंगे नहीं। वह मेरे लिए अच्छा होगा न अम्मां ! भाभियां मेरी बुराई करें तो बुरा न मानना तुम। वे सब मेरी ओर हैं। परन्तु कुछ भी हो, स्त्री का अन्त पति में है

होगा। कैसा चक्र है अद्भुत! और सच ही तो है। दारिद्र्य से अनेक घर छोड़कर मूड़ मुड़ाए तरह-तरह की साधनाएं करते डोलते हैं। उन्हें कौन पूछता है? सभी ही तो ऐसे नहीं होते। तो क्या मैं भी वैसा ही हो जाऊं?

"अम्मां!" मैंने कहा, "मुनि होने के लिए क्या यह सब ठीक है?"

भय से विजड़ित हो गई पज्जा।

कहा, "पुत्र! ऐसा नहीं सोचते। तेरी काया सोने की सी है। तू नहीं जानता, तू कितना सुन्दर है! इस सोने जैसे रूप में तेरा हृदय सुहागा है। गृहस्थ-धर्म में रह। बुढ़ापे में ही ऐसी बात कर।"

"जब वासनाएं चुक जाएं?"

पज्जा हंसी और कहा, "पुत्र! वासना यौवन में नहीं सताती। वह असल में बुढ़ापे में सताती है। उसी समय इसे जीतना चाहिए।"

वह मैंने अजीब-सी जो बात सुनी सो मेरे भीतर घूमती रह गई।

एक वर्ष बिलकुल शान्ति से बीत गया। मां ने कहा, विवाह की बात भाभियों ने भी उठाई, परन्तु मैंने नहीं स्वीकार किया। पज्जा ने भी कई दिन तक बात नहीं की, किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि पिता ने इस विषय में मुझसे नहीं कहा।

माणवक से मुझे पता चला कि एक बार उसके पिता की मेरे पिता से बातचीत हुई।

माणवक के पिता ने कहा, "पुत्र युवक हो गया है, मित्र! विवाह क्यों नहीं कर देते?"

पिता ने कहा, "मेरा पुत्र स्वयं विचारवान है। वह कभी कोई अनुचित करेगा, इसका मुझे विश्वास क्या कल्पना भी नहीं होती।"

"विवेक और है, यौवन और बात है, मित्र!"

"यही तो उसमें आश्चर्य है कि यौवन में भी उसमें विवेक है।"

"कहीं बाद में दुःख न हो।"

"भाग्य जब चाहता है, तब विवाहित भी दुश्चरित्र बनते हैं। शायद नगर में ही उदाहरण हैं और तुम मुझसे उनके बारे में कुछ न पूछोगे।"

माणवक के पिता ने सोचा कि व्यर्थ क्यों बात बढ़ाई जाए।

किन्तु मैंने अनुभव किया कि पिता की यह आशा मेरे लिए एक नये नियमन का आधार बन गई। अब मेरे साथ राजकुमार की मित्रता के कारण ऐसी ख्याति

बंध गई थी कि मेरा अहं उस सबको करते हिचकने लगा, जो मेरी स्वकल्पित मर्यादा के विरुद्ध था। पता नहीं इसमें कितनी मेरी हानि हुई, परन्तु एक सीमा तक अनुभव करता हूं कि यौवन के सहज रस को मैंने अहं के पाषाणों में बन्द कर दिया और इससे मैं भले ही विनम्र अधिक हो गया, परन्तु एक प्रकार का सूनापन मेरे भीतर समाने लगा, और जीवन के प्रति निराशा अधिक जागने लगी। इसे देखनेवाला पज्जा अम्मां के अतिरिक्त कोई नहीं था। और तब मैंने यह अनुभव किया, एक के सुख-दुःख से वही सहानुभूति रखता है, जो उसके बहुत पास है। बाकी संग उठ-बैठकर, हंस-खेलकर भी हम आपस में एक-दूसरे की वास्तविकता नहीं जानते और इसीलिए उनके जन्म-मरण में भी हमारी सन्निहिति अधिक नहीं रहती। सुभामा भाभी बड़ी थीं। प्रायः अपने हाथ से मेरे लिए कुछ न कुछ बनाकर लाती थीं। मुझे खिलातीं। मेरे मनोभाव जानने की चेष्टा करतीं।

"तुम्हारे पिता!" वे कहतीं, "कहते थे तुम्हारे भाइयों से कि जीवन-भर मेरे बल पर खाओ, और फिर छोटा भाई है ही, वह संभाल लेगा।"

"ऐसा क्यों कहा, भाभी! कौन पुरुष अपने को हेठा मानने को तैयार होगा?"

"पर देवर! सच क्या छिपता है? तुम्हारे भैया पूछते थे मुझसे कि तेरा देवर अच्छा तो है?—मैंने कहा, 'मैं क्या जानूं? मुझसे सीधे मुंह बात नहीं करता।' कहते थे, 'इतना तो उसने तुझे दिया।'—मैंने कहा, 'वह तो तुम्हें नीचा दिखाने को किया उसने।'"

"अच्छा! अभी गुस्सा ठण्डा नहीं हुआ उनका?"

"सुनते चलो। अभी क्या है?"

पज्जा अम्मां ने कहा, "वधू! तुम सौभाग्यवती हो। यह तुम्हारे पुत्र जैसा ही है।"

"जानती हूं। पर क्या करूं?" भाभी ने आंखें पोंछ लीं। "झगड़ा फिर शुरू हो गया है।"

भाभी की बात सच निकली। परन्तु इस बार तीनों भाइयों को परिवार को रूखा-सूखा भोज देने की भी नौबत नहीं आई। उन्होंने पिता से धन लिया और कपड़ा खरीदकर बेचने बैठे। हाट के कोने पर नट आए थे। एक खेल देखने चला गया, एक दूसरे काम से निकल गया, तीसरा भंग पीकर गठरी के पास बैठा नशे में

झूमता रहा। कोई गठरी लेकर चम्पत हो गया।

और तब मेरी बारी आई। वे कहते रहे कि व्यापार मौके की बात है। फिर कभी दांव आएगा।

रात को पिता ने मुझे बुलाकर दस खण्ड स्वर्ण दिए और कहा,"पुत्र, एक बार और! और अन्तिम बार।"

आज्ञा शिरोधार्य कर मैं अपने प्रकोष्ठ में लौट आया। पज्जा अम्मां ने मेरे लिए सूखे खजूर खाने को सामने रखे और कहा, "पुत्र, तूने सुना?"

"क्या अम्मां?"

"श्रेष्ठि शटकदास मर गया।"

"कौन? वह कृपण!"

"हां, वही कंजूस।"

"बुड्ढा तो था ही।"

"बुड्ढा था, मगर मरते समय भी वैश्यों के ऊपर थुकवा गया।"

"सो क्यों अम्मां?"

पज्जा ने पलकें ज़रा फैला दीं और हाथ की कुहानी मुड़े घुटने पर रखकर कहा, "सारा धन छिपा गया।"

"क्यों, लड़के को नहीं दे गया?"

"अरे दिया क्यों नहीं? पर उसके पास तो बहुत बताया जाता था। अन्त में उसका दिमाग ही फिर गया। भला कोई बात है कि मरने से उसे ऐसा डर लगा। यों चिल्लाता रहा, 'हाय! यह खाट मुझसे छूट जाएगी। हाय! यह खाट अब मुझसे छूट जाएगी!' "

मैं हंसा। कहा, "खाट छूट जाएगी?"

"भला बताओ! खाट का रोना लगाया उसने। सब कुछ जा रहा था, सो कुछ नहीं। विशेषता क्या थी? खाट पर जीवन-भर सोया था। थी वह बड़ी सुंदर! मगर आदमी भी कैसा विचित्र होता है! खाट लाया था गोदावरी-तीर के किसी नगर से। उससे इतना मोह? बेटों से नहीं, पत्नी से नहीं।"

सच! यह मनुष्य है ही विचित्र। इसकी ममता जाकर कहां अटकेगी, इसे कौन जानता है?

पज्जा ने फिर कहा, "मरते वक्त बोला, 'खाट मेरे साथ मरघट ले चलना।'

ले गए लड़के। खाट जलाने को हुए तो चाण्डाल ने कहा, 'यह नहीं जलाने दूंगा। शव का सामान मेरा सामान है।' तब चांडाल के पास पहुंची वह खाट। पुत्र भी न सो पाए उसपर।"

मैंने सुना और भूल गया।

दूसरे दिन व्यापार पर निकला। अभी मैं लकड़ी के सामानोंवाली हाट से निकल रहा था कि एक ब्राह्मण का स्वर सुनाई दिया, "दूर रह चाण्डाल! दूर रह!"

मैंने देखा, एक चांडाल सिर पर खाट उठाए चला आ रहा था।

मुझे अचानक ही याद आ गया। ब्राह्मण एक ओर को बड़बड़ाता निकल गया, "अरे यह वैश्यों का ही उपद्रव है। क्षत्रिय तो थे ही। अब यह भी बढ़ चले। चांडाल ऐसे मुक्त चल रहा है!"

"क्या कहते हैं मूसुर!" एक मसखरे मगर हट्टे-कट्टे व्यापारी भद्र ने कहा, "हमारी तरफ तो ब्राह्मण विष्णु-मन्दिरों में चांडालों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्रवेश करते हैं।"

ब्राह्मण भुनभुनाता मगर और पग रखता चला गया, जैसे वह विक्षुब्ध प्रलय था।

चाण्डाल ने खाट रख दी।

"खाट लोगे?" उसने कारीगर से पूछा।

शिल्पी हंसा और बोला, "किसकी खाट है? शकटदास की?"

मैं रुक गया।

तभी मैंने देखा कि मेरे भाई मेरा छिपकर पीछा करते हुए आ रहे थे। मुझे मसखरापन सूझा। मैंने मन ही मन कहा, 'देखो, शकटदास की घटना कितनी प्रसिद्ध हो गई!'

चाण्डाल ने कहा, "हां उसीकी है।"

"तो ले जा।" शिल्पी ने कहा, "इसे यहां कौन लेगा? मरघट की खाट पर सोएगा कौन?"

मैंने कहा, "क्या है यह? मरघट की खाट है? इसे मैं लूंगा।"

"धनकुमार!" शिल्पी ने कहा, "क्या करोगे इसका?"

मुझे सब जानते थे। भीड़ इकट्ठी हो गई थी। धनदेव, धनदत्त और धनचंद्रा-

धिप भी आ गए।

मैंने कहा, "यह खाट मुझे चाहिए चाण्डाल ! देगा ?"

वह समझा, मैं मज़ाक कर रहा हूं।

उसने कहा, "आप श्रेष्ठि ! मैं गरीब आदमी हूं। मुझसे मज़ाक करते हैं ?"

मैंने कहा, "चांडाल ! तू गरीब नहीं। तू गुरु है, पर लोग तुझसे शिक्षा नहीं लेते। शकटदास के लोभ की इति का इतिहास यह खाट है, जिसके कारण बच्चा-बच्चा आज हंस रहा है। इसे मैं सामने रखूंगा कि मेरा मन इस व्यापार का अंत जानता रहे, याद करता रहे। मृत्यु ही इस जीवन का अन्त नहीं, नाम फिर भी बच रहता है। भाग्य से धन मिलता है। किन्तु धन सब कुछ नहीं है।"

न जाने घृणा के किस आवेश में अपने सारे स्वर्णखण्ड मैंने उसके ऊपर फेंक दिए, जो उसने ऐसे चुन लिए, जैसे भूखा कुत्ता हड्डी उठा लेता है। सब अवाक् खड़े रहे। चाण्डाल चला गया। मैंने पास खड़े एक कमकर से कहा, "इसे मेरे साथ ले चल।"

किन्तु उस समय धनदेव ने आगे बढ़कर कहा, "तू पागल हो गया है धनकुमार ! तू इस मुर्दे की खाट को घर ले चलेगा ?"

तू-तू, मैं-मैं सुनकर भीड़ बढ़ चली।

"नहीं," धनदत्त विक्षुब्ध-सा चिल्लाया, "श्रेष्ठि धनसार के यहां यह खाट नहीं जाएगी !"

भाइयों की लड़ाई सदा ही ऐसी आग रही है, जिसपर पड़ोसी हाथ सेंकते रहे हैं।

मैं नहीं जानता, मैं इतना दुर्विनीत कैसे बन गया ! मैंने कहा, "हट जाओ बीच से ! यह अवश्य जाएगी। यह मेरी इच्छा है।" मैंने मज़दूर से कहा, "उठा ले तू।"

किन्तु उसने कहा, "नहीं। यह तो मुर्दा-खाट है। अपवित्र है। मैं इसे नहीं छू सकता। तुम्हारे धन के लिए क्या मैं धर्म छोड़ दूं ?"

मैं रोष से विह्वल हो गया।

आज सोचता हूं, वह कौन-सा आवेश था कि मैं आगे-आगे खाट सिर पर उठाए जा रहा था और पीछे तीनों भाई और भीड़ व्यंग्य-भरी बातें कहती हंसती चली आ रही थी। अब जो देखता, वही आवाज़ कसता। भीड़ मेरे पीछे चली आ

रही थी। सच, वह बड़ा भयानक था सब। यहां तक कि सामने से घोड़े पर राजकुमार भी आता दिखा। और उस कोलाहल का अंत हुआ, जब मैं अपने भवन के द्वार पर चढ़ा। सोपानों पर चढ़कर देखा, पिता खड़े थे, मां थी, भाभियां थीं। पज्जा पीछे थी। भृत्य, दास, दासी सब एकटक खड़े थे। नीचे पथ पर ठसाठस भीड़ खड़ी थी। घोड़े पर से राजकुमार ने पुकारा, "मित्र ! यह मैं क्या सुन रहा हूं ?"

मैंने खाट उतारकर कहा, "राजकुमार ! मैं कमाई करके लाया हूं।"

तीनों भाई हंसे ! धनदेव ने स्वर उठाकर कहा, "मुर्दे की खाट लाया है।"

पिता ने कहा, "वत्स धन, क्या यह सत्य है ?"

भीड़ स्तब्ध थी। मैंने कहा, "पूज्यपाद पिता ! महामान्य राजकुमार ! पुरपइठान के निवासियो ! मैं वैभव की पराकाष्ठा ले आया हूं। धन ममता के रूप में निरन्तर यहीं बिकता रहता है। इसमें जीव की मुक्ति नहीं है। मनुष्य जो यहां पाता है, यहीं छोड़ जाता है। इसीलिए पिता की आज्ञा से मैं यह कमाई करके लाया हूं, क्योंकि मैं वह कमाना चाहता था, जिससे परिवार को तृप्ति हो। देखिए राजकुमार ! यही है वह शकटदास का यश। इसकी वास्तविकता क्या है, जानते हैं ? इसका मूल्य जानते हैं आप ? दस स्वर्णखण्डों के थोड़े-से मूल्य में मैं कितनी अमूल्य वस्तु लाया हूं, जानते हैं ?"

"जानते हैं !" धनदत्त ने मेरे मुंह पर घूंसा मारा और बोला, "नीच ! कुल-कलंकी ! ज्ञान की बात करता है! मैं इस खाट को तोड़कर फेंक दूंगा !"

इससे पहले कि मैं संभलूं, तीनों भाइयों ने उसकी पाटियों से पाये खींचकर उसे तोड़ दिया और मेरे रोकने के पहले ही उन्होंने पाये उठाकर जो पत्थर पर जोर से मारे, एक बार बिजली-सी कौंध गई। यहां तक कि मुझे भी चक्कर आ गया। पज्जा ने लपककर मुझे पकड़ लिया। मेरा चक्कर खाना तो घूंसे के कारण समझा गया। राजकुमार ने मुझे छाती से लगा लिया। मां और पिता की आंखों से आंसू बहने लगे। भाभियों के मुख खुल गए। भीड़ हहरा उठी। तीनों भाई स्तब्ध पाषाण-से खड़े रह गए।

शकटदास ने अमूल्य मणियों के रूप में अपना चिरसंचित धन खाट के पोले पायों में भर रखा था और वह अमूल्य रत्नराशि अब पिता के चरणों पर पड़ी थी।

कुछ देर बाद भीड़ में जय-जयकार सुनाई दिया। मेरी मेधा और कुशाग्र बुद्धि घर-घर की बात बन गई। भाभियों को वह अमूल्य राशि मैंने बांट दी। भोज ऐसा हुआ कि स्वयं महाराज और राजकुमार भी आए। किन्तु इसके बाद मैंने पिता की ओर देखा, तो केवल उन्होंने यही कहा, "पता नहीं, यह कौन है जिसने मेरे घर जन्म ले लिया है!"

पज्जा ने पूछा, "सच बता वत्स धन! तुझे पता था कि पायों में रत्न थे?"

"क्यों पूछती है अम्मां?" मैंने पूछा।

"ठीक है, ठीक है," पज्जा ने कहा, "चक्कर तो तुझे इसलिए आया था कि उस मूर्ख भाई ने तेरे घूंसा मार दिया था। सच, तू बड़ा ही बुद्धिमान है। उस जन्म में न जाने कितना देकर आया था जो इतना पा रहा है। और इतना सब जो दिए जा रहा है, उससे पता नहीं आगे चलकर अभी कितना और पाएगा!"

मुझे याद है, मैंने कहा, "अम्मां! देता कौन है? वह जिसे ज़रूरत नहीं है। ज़रूरतें बढ़ाकर जो कहता है—यह मुझे चाहिए, यह मुझे चाहिए, उसकी चाहना का अन्त ही कहां है! परन्तु जो कहते हैं—नहीं चाहिए, वे अभाव से कचोट खाते हैं। हो और नहीं चाहिए—इसमें तो गौरव है।"

कहने के साथ ही मैंने अनुभव किया कि गौरव तो सबसे बड़ी चाहना है। तब! तब मैंने कुछ नहीं दिया, खाने को था, पीने को था, ओढ़ने-बिछाने को था, दास थे, दासियां थीं। घर में धनधान्य, सुवर्ण, रत्न, रेशम, कंबल, पशु, सब कुछ था। इतना रखकर मैंने कहा है—दिया। तब क्या दिया?

शायद छः महीने बीते थे कि एक दिन एक अश्वारोही आया, जिसने अपने घोड़े की लगाम द्वारपाल को थमा दी और जब दास उसे मेरे पास लाया, तो उसने कहा, "महाराज ने स्मरण किया है।"

मैंने कहा, "अभी!"

"हां श्रेष्ठि अभी।"

"चलो!" मैंने कहा।

हम दोनों घोड़ों पर पहुंचे।

महाराज के भव्य प्रासाद में घुसा, तो वे रत्न-जटित चौकी पर बैठे थे। मुझे एक चांदी की चौकी पर बिठाकर कहा, "श्रेष्ठिपुत्र! बहुत दिन से देखा नहीं।"

"महाराज की असीम अनुकम्पा हुई कि मुझे याद रखा।" मैंने विनम्रता से

कहा, "मेरे योग्य सेवा ?"

"हां, बताता हूं। बात यह है कि हमारे सार्थ जब एक देश से दूसरे देश जाते हैं, तब वन-मार्ग में दस्यु हमारे यात्रियों को लूटते हैं। ऐसी कोई तरकीब हो कि यह लूट-मार बन्द हो जाए!"

"देव!" मैंने कहा, "यह तो राजकाज की बात है। मैं ठहरा वणिक्पुत्र। इसपर क्या कह सकता हूं!"

"अरे तुम बुद्धिमान व्यक्ति हो!" महाराज ने कहा, "अवश्य ही बता सकोगे।"

मैंने कहा, "महाराज! बता सकता हूं, परन्तु मुझे प्राणभय से..."

"अभय!" महाराज ने कहा, "निर्द्वन्द्व कहो।"

मैंने कहा, "महाराज! श्रेष्ठि शान्ति चाहते हैं, व्यापार के लिए। परन्तु महाराज क्षत्रिय ठहरे! सीमाभूमि में शान्ति तभी हो सकती है, जब दो महाराज परस्पर अनाक्रमण की सन्धि करके अपनी-अपनी सेना वहां नियुक्त करें। किन्तु क्षत्रिय ऐसा कैसे कर सकते हैं? क्षत्रिय का तो धर्म है, पराक्रम दिखाकर जय-लाभ करना और उसके लिए आक्रमण आवश्यक है!"

महाराज ने कहा, "चतुर वणिक्पुत्र! साधु! परन्तु हम आक्रमण नहीं करना चाहते।"

"तो देव! अपने पड़ोसी महाराजाओं की ओर से भी स्वयं ही मन में आश्वस्त हैं? उनका भी पूरा भरोसा कर लिया है क्या?"

"वही तो मुझे शान्ति नहीं देता!"

"देव! देगा भी कैसे? पड़ोसी निर्बल रहे तभी श्रेष्ठ है। आप इतनी शक्ति बढ़ाएं कि सब आपके अधीन हों। तब वन-भूमि में शान्ति रह सकती है, अन्यथा अयाचित भूमि में सदैव उपद्रवी ही बसे रहेंगे।"

"उन्हें कोई दण्ड देनेवाला वहां नहीं है न!" उन्होंने सोचते हुए कहा। फिर मुड़कर कहा, "मैं शान्ति स्थापित करूं तो तुम्हारे श्रेष्ठि-समुदाय से तो सहायता मिलेगी न? जानते हो, गणराज्यों के क्षत्रिय कितने अभिमानी होते हैं?"

"देव! सहायता तो श्रेष्ठि स्वयं देंगे, वैसे मैं प्रतिनिधि नहीं। बड़े-बड़े हैं, वृद्ध हैं, वे ही बता सकेंगे। गणक्षत्रियों की क्या चलेगी देव! अहिंसा की स्थापना के लिए एक राज्य आवश्यक है, अन्यथा यह निरन्तर युद्ध होंगे जिनमें किसान के

खेत जलते हैं, व्यापारियों को जगह-जगह कर तो देने पड़ते हैं, परन्तु सुरक्षा उनकी कहीं नहीं है। आप श्रेष्ठियों को बुलाकर पूछें।"

महाराज के नेत्रों में असीम महत्त्वाकांक्षा की एक झलक दिखाई दी। बोले, "वणिक्पुत्र! कभी ऐसा हो सकेगा? कभी सारा उत्तरापथ और दक्षिणापथ एक चक्रवर्ती के अधीन होगा?"

"कहते हैं, देव! प्राचीनकाल में ऐसे ही भरत चक्रवर्ती थे।"

"चक्रवर्तित्व!" महाराज ने कहा, "क्षत्रियों में यह बहुत दिन से प्रवाद चला आ रहा है। उत्तर के शाक्यों और वज्जियों में भी प्रचलित है कि शीघ्र ही चक्रवर्ती बनेगा कोई। मैंने यात्रियों से सुना है कि शाक्य गणराजा शुद्धोदन का पुत्र सिद्धार्थ और वज्जियगण के ज्ञातृपुत्र सिद्धार्थ का पुत्र महावीर वर्द्धमान दोनों घर छोड़कर चले गए हैं, चक्ररत्न प्राप्त करने।" महाराज ने हंसकर कहा, "ऐसा क्या हो सकता है वणिक्पुत्र? जानते हो, अवन्तिका का चण्डप्रद्योत सेना बढ़ा चुका है—इतनी कि वह महासेन कहलाने लगा है।"

मैं नहीं समझा कि महाराज ने मुझसे ऐसी बातें क्यों कीं? फिर अंत में वे बोले, "चाहता हूं सेना मैं भी बढ़ाऊं। परन्तु श्रेष्ठिपुत्र! उसके लिए धन चाहिए! धन! राज्य छोटा है। फिर कर कहां लगे? धन बढ़ाने का उपाय बता सकते हो?"

अब मैं समझा। मैंने कहा, "महाराज! धन तो बढ़ाए से बढ़ता है। आदमी चाहे तो क्या नहीं हो सकता!"

"ऐसा कैसे हो सकता है?"

"महाराज! मैंने पुरानी पुस्तकें पढ़ी हैं। कोई खान मिल जाए तो काम चल जाए।"

"अपने राज्य में है?"

"यहां तो नहीं है।"

"आसपास?"

"कहां महाराज?"

"तो खोज सकते हो? वह भूमि जीती जाए!"

"आज्ञा देंगे तो यत्न करूंगा।"

इसके बाद मैं चला आया। घोड़े पर धीरे-धीरे जा रहा था कि श्रेष्ठि

भौमिकदास के विशाल प्रांगण में भीड़ दिखाई दी। सोचा, क्या बात है? मैंने घोड़ा मोड़ा।

वहां तो राजकर्मचारी भी खड़े थे।

भौमिकदास के वंशजों में उसके मरने पर बंटवारा नहीं हो पा रहा था। भौमिकदास को मरे दो पीढ़ी हो चुकी थीं। दो पीढ़ी शांति से रहने के बाद अब वंशजों में लड़ाई हो गई थी। माल का बंटवारा हो चुका था, परन्तु मुसीबत यह थी कि पूरे भवन की नीचे की मंजिल में बालू भरी थी। सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

एक राज्यकर्मचारी से मैंने पूछा, "क्या हुआ यहां?"

मुझे वह जानता था। मुस्कराकर बोला, "श्रेष्ठि के वंशजों ने माल तो बांट लिया है, परन्तु सारे भवन में नीचे बालू भरी देखकर राज की मदद मंगाई है कि इसे राज नीलाम कर दे तो मकान बनानेवाले कुम्हार और सुनार इसे उठा ले जाएं, ताकि लड़ाई बच जाए।"

मैंने कहा, "पर बालू भौमिकदास के यहां क्यों आई?"

"श्रेष्ठिपुत्र!" उसने कहा, "कहते हैं, भौमिकदास बड़ा रंगीला था। उसने सोचा था कि एक विशाल सरोवर बनवाएगा। उसके तट पर डालने को रेत मंगवाई थी उसने, ताकि समुद्र की झलक मिल सके।"

मैंने कहा, "मैं वह रेत देख सकता हूं?"

"तुम भी सरोवर बनवाओगे?"

"क्या हर्ज है, बनवा देंगे।"

अचानक भीड़ में से बढ़कर किसीने मेरे घोड़े की लगाम पकड़ ली और कहा, "मूर्ख! क्या करता है?"

देखा, वही बनदेव!

मैंने कहा, "छोड़ दो मेरी वल्गा। दूर हट जाओ। राजकाज में बाधा मत डालो।"

राजकर्मचारी ने मेरी ओर देखा। मैंने धीरे से उसके हाथ में एक स्वर्णखण्ड खिसका दिया। फिर क्या था! उसने दण्ड बढ़ाकर कहा, "हट जाओ, हट जाओ।" मैंने उसे घोड़ा पकड़ा दिया।

मार्ग साफ हो गया।

भौमिकदास का परनाती गंधर्वदास मुझे देखकर बोला, "अरे धनकुमार तुम ! कैसे आए ?"

"देखता था बहुत कोलाहल हो रहा है। बताओ तो, कुछ झगड़ा-वगड़ा है क्या ?"

उसके दोनों भाई, चचेरे भाई, कुल मिलाकर छः-सात व्यक्ति, फिर उनकी पत्नियां, उनके बच्चे······

मैंने फिर उसे देखा तो वह झेंपकर बोला, "नहीं भाई। ऐसा नहीं है, औरतों में नहीं बनती।"

"मर्दों में तो बन जाती है ?"

"अब छोड़ो ! तुम क्यों चिन्ता करते हो ?"

"तो !" मैंने कहा, "प्रपितामह का वैभव लुटा दोगे ?"

"वैभव !" वह बोला, "हां ! यह रेत !" और वह हंस पड़ा।

मैंने कहा, "सरोवर क्यों नहीं बनवाते ? नगर में गौरव फैलेगा।"

"इतना धन कहां है, भाई !" उसने कहा। फिर व्यंग्य किया, "तुम ही न बनवा दो।"

मैंने कहा, "रेत कहां है ?"

"यह है तो, ले जाओ सब !"

"मूल्य क्या लोगे ?"

"तुम उठवा ले जाओ, वही काफी है।"

"अजी यों नहीं। कुछ हिसाब करो। कहीं से लाते तो कितनी महंगी पड़ती भला, सोचो !"

"अच्छा एक रजत मुद्रांकित खण्ड की एक हज़ार मन !"

"लिखवाओ !"

जब प्रतिज्ञापत्र तैयार हो गया, साक्षी हो गए, मैंने मजूर लगा दिए और शकट भरवाने लगा।

इतनी देर तक मैं बिलकुल हास्यवदन लिए रहा। यहां तक कि लोग मुझ-पर व्यंग्य कसने लगे। शीघ्र ही संवाद नगर में फिर फैल गया। भीड़ें आने लगीं। अब तो यह हालत हो गई थी कि धनकुमार का नाम सुनकर लोगों को कौतूहल होता था। परन्तु खाट के पाये में तो रत्न हो सकते थे, बालू में इसका क्या ज़ोर

बैठेगा, यही उनकी समस्या थी।

मैंने घोड़ा संभाला और जब प्रासाद पहुंचा, तब महाराज चकित हुए।

"वत्स धन ! कैसे लौट आए ?"

"आपसे आज्ञा लेने आया हूं।"

"कैसी ?"

"प्रासाद के सामने एक सरोवर बनाना चाहता हूं। उसके चारों ओर बिछाने के लिए बालू चाहिए। तीन पीढ़ी पहले श्रेष्ठि भौमिकदास ने यही विचार किया था। वह निस्संदेह बड़ा ही महान व्यक्ति था। उसके प्रपौत्र उसकी लाई बालू बेच रहे थे। मैंने खरीद ली है। अब देव ! आज्ञा दें तो कार्य प्रारम्भ हो। बालू इधर भिजवा दूं।"

"तुम क्या कह रहे हो ?" महाराज ने चौंककर कहा, "मैं समझा नहीं। आखिर कितनी बालू है ?"

"यही महाराज, पचीस सहस्र सैनिकों के भोजन-वस्त्र के तीन वर्ष के प्रबन्ध लायक सोने जितनी होगी।"

"तुम पागल हो गए हो ?" उन्होंने अचकचाकर कहा।

पर मैं घर नहीं गया। बालू से भरे शकट ला-लाकर प्रासाद के सामने उंडेल दिए गए। महाराज समझे नहीं। परन्तु सरोवर बनवाने में उन्हें बाधा ही क्या थी ! सामने विशाल भूखण्ड पड़ा था।

सांझ हो गई तो मैं घर आ गया। पिता तक संवाद पहुंच चुका था। वे प्रासाद गए थे महाराज से मिलने। पज्जा अम्मां ने जूते खोलने को हाथ रखा ही था कि भृत्य ने आकर कहा, "महाराज ने आपको इसी समय बुलाया है। श्रेष्ठि भी वहीं हैं।"

मैं नीचे उतरा तो भाभियां, मां, सब मुझे देख रही थीं। परन्तु मैं कुछ नहीं बोला। नीचे उतर गया।

महाराज ने मुझे देखा तो कहा, "वत्स, धन आ गया !"

चांदनी छिटक रही थी। बाहर पड़ी रेत अब चांदनी में बहुत ही सुनहली-सी चमक रही थी। उसका स्तर चमक से बहुत ही लुभावना दीख रहा था।

मैंने दोनों को प्रणाम किया।

"वत्स धन !" पिता ने कहा, 'यह तूने क्या किया ? बालू खरीद डाली !"

मैंने कहा, "पिता ! राजा यदि प्रजापालक हो, तो क्या उसके लिए सब कुछ नहीं करना चाहिए ?"

पिता नहीं समझे । न महाराज ही समझ पाए ।

"इससे क्या संबंध है इस बालू का ?" पिता ने पूछा ।

मैंने कहा, "महाराज ! आज मैं चाहता तो इस वालू को अपने घर भी ले जा सकता था, परन्तु आपने कहा था कि वनभूमि में शांति-स्थापना की चेष्टा करेंगे, इसीसे यह मैं आपको देता हूं ।"

"बालू ! और मुझे देते हो ?"

"हां देव ! देखते हैं । वालू का रंग ? इसमें भूरिशः सुवर्ण है । पिघलाते ही सोना वन जाएगा । यह साधारण वालू नहीं, वेजुत्तरी रेत है । मैंने पुरानी पुस्तकों में इसके वारे में पढ़ा है । भौमिकदास साधारण श्रेष्ठि नहीं था । उसके सार्थ दिगंतों में घूमते थे । उसने सोचा होगा कि इससे स्वर्ण निकालेगा, किन्तु वह अपनी वात पूरी किए बिना ही मर गया और उसका रहस्य भी उसके साथ ही चला गया ।"

पिता आश्चर्य से स्तब्ध खड़े रहे । महाराज ने कांपते स्वर से कहा, "प्रमाण !"

मैंने कहां, "भट्टी लगवाइए ।"

जिस समय सुनारों ने रेत को तपाकर सोना निकाला, पिता मुझे छाती से लगाकर ऐसे रोने लगे, जैसे कोई वच्चा मां से मिलकर रोता है । महाराज ने गलपित कंठ से कहा, "धनसार ! तेरा यह पुत्र मनुष्य नहीं, निस्संदेह कोई यक्ष-विद्याधर है ।"

मैं क्या समझूं वे ऐसा क्यों कह उठे ! इसमें वया विद्याधरत्व था ?

और तव महाराज ने कहा, "कल सभा होगी, और श्रेष्ठि धनसार ! तेरे वन-कुमार ही को मैं नगर-श्रेष्ठि की पदवी दूंगा ।"

पिता ने झुककर महाराज के चरण छू लिए ।

फिर सचमुच मैं नगर-श्रेष्ठि वना दिया गया । मुझे समस्त श्रेष्ठियों ने भेंटें दीं । मैंने उस धन को देखकर कहा, "सचमुच धन आ गया महाराज ! सरोवर अव वन जाएगा ।"

पज्जा अम्मां ने मेरे घर आते ही नमक-मिर्च उतारी और मां ने छाती से लगा कर माथा चूमा । भाभियां सामने आईं मंगल आरती उतारने; किन्तु मैंने कहा, "तुम्हारे हाथ से नहीं भाभी ! तुम्हारे हाथ से नहीं ।"

सुनामा भाभी का मुंह काला पड़ गया। बगल में खड़ी सुहागिनों ने आरती का थाल ले लिया।

प्रचुर भोज में परिवार सम्मिलित हुआ।

धनदत्त, धनदेव और धनचन्द्राधिप मेरे पास ही बैठे।

रात हो गई। मैं अपने प्रकोष्ठ में वीणा लिए बैठा था। पन्ना द्वार पर सोई थी। भाभी सुनामा भीतर आई। उनके हाथ में एक गठरी थी। मैंने पदचाप सुन-कर देखा और उठ बैठा। वीणा सरका दी।

"भाभी तुम!"

"हां देवर! मैं ही हूं।"

और बोली नहीं। गठरी मेरी शय्या पर धर दी। जाने लगीं।

"भाभी! यह क्या है?"

"जो तुम्हारा है, दिए जाती हूं।"

मैंने बढ़कर उनके पांव पकड़कर कहा, "अब समझा मैं। आरती करने से रोका था। यह उसीका रोष है।"

"तुम अपमान कर सकते हो! हम नहीं? क्योंकि तुम यह आभूषण हमें देते रहे हो?"

मैंने सुना। क्षण-भर उन्होंने मुझे देखा और कहा, "पांव छोड़ दो! जाने दो मुझे। जानते हो पड़ोसियों ने हमारे बारे में क्या सोचा होगा?"

"सब जानता हूं।"

"फिर भी अपमानित किया?"

"हां भाभी!"

"तो जान-बूझकर किया?"

"हां भाभी!"

भाभी सुनामा विक्षुब्ध-सी देखती रहीं।

"पूछो भाभी! कारण तो पूछो।"

भाभी अब चौंकीं।

पन्ना जाग गई थी। भाभी को देखकर चौंक उठी। उठकर खड़ी हो गई।

मैंने कहा, "तुम्हारे हृदय में अपार स्नेह था जानता हूं, तभी तुम मां के साथ यहां आई थीं। परन्तु जानती हो, उससे क्या होता? भाई यही समझते कि इतने

दिनों से तुम मेरी झूठी बुराई करती थीं। फिर वे कभी अपने मन की बात तुमसे नहीं कहते। उस जगह तुम्हें रोककर मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारा वह काम दुनिया की आंखों में धूल झोंकने के लिए था। भाभी! मां हो तुम! पुत्र की रक्षा के लिए क्या इतना भी अपमान नहीं सह सकोगी?"

वे चुप खड़ी रहीं। एक बार मेरे सिर पर आशीष देता-सा हाथ फिराया।

"यह गठरी ले जाओ, भाभी! मैं बहुत अकेला हूं। इतना सब है, पर फिर भी मेरे लिए कुछ भी नहीं है। जिसके भाई ही जिसे नहीं चाहते, उसका जीवन ही व्यर्थ है। मुझे मर जाना चाहिए, भाभी! पर मरना कठिन होता है, बहुत कठिन होता है। मैं नहीं मर सकता।"

पज्जा ने फुसफुसाकर कहा, "मरें तेरे शत्रु! तू क्यों मरेगा! कोई कुछ कहता था?"

मैंने कहा, "पज्जा अम्मां! तुम्हारा और भाभियों का काम बढ़ गया है। जानती हो न? अब मैं धनकुमार-मात्र नहीं, मैं नगर-श्रेष्ठि हूं। नगर-श्रेष्ठि!"

और इसीलिए मैं आज यहां निर्जन में रात्रि के समय इस वृक्ष के नीचे लेटा हूं। क्यों? क्योंकि मेरा वह भय सत्य निकला।

वर्षों को बीतते देर नहीं लगती। वे तो बीत गए, परन्तु घृणा तो नहीं गई!

और परसों रात ही की तो बात है!

पज्जा अम्मां ने आकर कहा, "तूने सुना?"

मैं तब मिठाइयां खाकर दूध पी रहा था।

"स्वामी बहुत क्रुद्ध हो रहे हैं।"

"क्यों भला?"

"सुना तूने! तेरे भाई क्या कहते फिर रहे हैं नगर में?"

"क्या कहते हैं?"

रोष से जैसे वह बोल नहीं पा रही थी।

"कुछ कह भी तो!"

उसकी आंखें लाल थीं, कुछ फूल आई थीं, जैसे सेमल की कलियां हों।

"नगर के कुछ वृद्ध तुम्हारे तारुण्य को देखकर वैसे ही ईर्ष्याग्रस्त थे। अब यह भी सुर मिला रहे हैं कि पुरपइठान की तो नाव ही डूब जाएगी। जिसमें कल के

लड़के बड़े-बूढ़ों के सिर पर पांव रखकर नगर-श्रेष्ठि बन गए हैं। हम तो पहले समझ गए थे कि जुआरी मित्र राजकुमार की मित्रता कुछ नया ही रंग लाएगी।"

"ऐसा कहते हैं!" मैंने कहा। दूध का पात्र रख दिया।

"यह नहीं कहते कलमुंहे कि राजकुमार का जुआ किसने छुड़ाया?" पज्जा कहती रही।

तभी द्वार पर मां आ गईं। मैं खड़ा हो गया। जीवन में शायद पहली बार मां के स्नेह का मुझे अनुभव हुआ। मेरे पास आकर खड़ी रहीं। फिर कहा, "पुत्र! तेरे भाई तेरा अनिष्ट चाहते हैं।"

"किस तरह कहती हो, मां!" मैंने अचकचाकर पूछा।

"सुभामा, सुमुखी और अलका ने कहा है।"

"क्या मां?"

"वे तेरे रक्त के प्यासे हैं। किसी भी दिन छल से तेरी हत्या कर सकते हैं।" कहते हुए उनकी आकृति कठोर हो गई। "तू मेरा पुत्र है। तुझे मैंने गर्भ में धारण किया था, वत्स धन! जो तेरा पसीना गिराएगा, मैं उसका लहू पी जाऊंगी। तू यह न समझ कि मैं इतने दिन से जानती नहीं थी। जानती थी। सब जानती थी। किन्तु तेरे पिता से डरती थी, क्योंकि उनका क्रोध तेरे भाइयों को दर-दर का भिखारी बना देता। और यह जो मैंने पाप किया है कि उन्हें जन्म दिया है, इसी पाप की ममता ने मुझसे इतने दिन छाती पर पत्थर रखवाया है, क्योंकि मैं तुझे स्नेह नहीं दे सकी। पर मैंने तुझे अकेला नहीं छोड़ा, पुत्र! पज्जा को तेरे पास छोड़ा था, और मैं जानती थी कि पज्जा तेरे लिए जीवन भी दे देगी।"

पज्जा ने आंसू पोंछकर कहा, "स्वामिनी! दासी को इतना सम्मान दिया है तुमने! तुम्हारे चरणों की धूलि मेरे सिर पर रहे।"

उसने चरण-धूलि सिर पर लगा ली। मां ने पीछे हटकर कहा, "तेरी भाभियां घृणा से विह्वल हो रही हैं। तू नहीं जानता, पुत्र! स्त्री के लिए कैसा भी हो, पति ही सर्वस्व है। और अपने पति से स्त्री जब छल करती है, तब वह कितना बड़ा खेल खेलती है! उन्होंने उनके पेट से बात निकलवाकर मुझे बताया है। सावधान रहना!"

और तब उनके जाने के बाद मैंने सोचा था। क्यों रहूं मैं यहां? मेरे चारों ओर जीवन्त प्रेम है। भाभियों की पवित्र आंखें मुझसे मानो अपने पतियों के जीवन

और अपने सुहाग मांगने लगीं। पिता का वह क्रुद्ध किन्तु व्याकुल मुख मानो पुत्रों का दान मांगने लगा। और मां का हृदय! सब जानते हैं। और मुझपर ऋण है सबका। मुझमें शक्ति है। मैं तीनों को मार सकता हूं, तीनों को राजाज्ञा से पकड़वा सकता हूं? परन्तु क्या मैं मर्यादा लांघ सकूंगा? क्या श्रेष्ठि धनसार के कुल पर लोक हंसेगा? इन तीन ईर्ष्यालु मूर्खों के कारण पिता का गौरव खंड-खंड हो जाएगा, और यदि पकड़वाता हूं, तो मेरी गवाही कौन देगा? पिता का हृदय या माता की ममता, या पत्नी का सुहाग? तब मैं क्या करूं?

क्यों न मैं सब कुछ छोड़कर चला जाऊं? क्या है मेरा यहां? क्यों रहूं मैं इस जगह? इस घृणा में प्रेम एक संबल अवश्य है, किन्तु मेरे रहने के कारण यहां कितने लोग हैं, जो द्वन्द्वों में भर गए हैं। उनका हृदय कैसे चैन पाता होगा? मेरे न रहने से यहां पति-पत्नी, सास-ससुर, मां-बाप, सबमें स्नेह रहेगा। मेरा अभाव भी शीघ्र ही विस्मृत हो जाएगा। पत्नी का अन्त पति है, माता-पिता का पुत्र।

काल के विशाल चक्र को निरन्तर घूमते कितनी अवसर्पिणी बीत गईं।

और इसीलिए कल रात-भर सोचने के बाद मैं आज चांदनी निकलने के पहले ही अंधेरे में घर छोड़ आया हूं। अपनी वीणा को भी छोड़ आया हूं। अब वे सब मुझे ढूंढ़ रहे होंगे। अब मेरे सामने चित्र-से जागते हैं। जिनको पास से देखकर कभी ध्यान नहीं दिया था, वे जब दूर हो गए हैं, तब मुझे कितने पास के लगते हैं! सचमुच मैं कितना भाग्यवान हूं! धन ही मेरे जीवन का मानदण्ड बना है। जन्म के समय की वह घटना क्या सचमुच किसी प्रकार से मेरे समस्त जीवन का प्रतीक है? क्या वास्तव में अब भी जीवन में मैं बड़भागी हूं?

हंसने का मन करता है। यही है भाग्य? सब कुछ पा जाने के बाद भी कुछ नहीं। लेकिन मैं अपने जीवन को ले आया हूं। वही सबसे अधिक मूल्यवान है। वह सब कुछ, कुछ नहीं था। वे मुझे मार डालना चाहते थे। इतनी घृणा! इतना विष! असंख्य प्राणी नित्य जन्म लेते हैं, नित्य मर जाते हैं। क्या मैं भी उन्हीं जैसा नहीं हूं? क्या एक दिन मुझे मरना नहीं है?

भयानक! कितना विचित्र है यह विचार! लेकिन जीवित रहते हुए मनुष्य उस विराम की कल्पना कब करता है! वह तो अविराम चलता चला जाता है।

पज्जे अम्मां! तू अब उस प्रकोष्ठ में सूनी-सी बैठी होगी! क्या तू मेरे वियोग को झेल सकेगी? अम्मां! क्या वे मेरे भाई तुझसे दासी जैसा व्यवहार

करेंगे ? जानता हूं पिता नहीं बोलेंगे। मां भी पुत्रों के स्नेह में चुप ही रहेंगी। तो क्या वे तुझे कष्ट देंगे ? लेकिन पज्जे अम्मां ! मैं ही यदि नहीं रहा तो क्या होगा ? वह वेदना क्या तेरे लिए सहज होगी जब तू आएगी और शय्या पर मुझे देखेगी, मेरे वक्ष में मूठ तक छुरा घुस गया दिखाई देगा ? यह भी न सही। आते-जाते कहीं एकांत में ही···और मेरा शव पथ पर ही पड़ा रहेगा ! पज्जे अम्मां ! मृत्यु कितनी विकराल है ! मैं उसकी कल्पना भी नहीं करना चाहता। जब मैं घर से निकला था, तब चारों ओर सन्नाटा था। द्वार मैंने चुपके से खोला। चुलक के पास से निकल गया। वह सो रहा था। कैसे बताऊं कि मुझे नगर की एक-एक ईंट और एक-एक वस्तु किस प्रकार रोकने लगी थी। प्रासाद के सामने के मेरे हाथों नींव डाले गए ताल में चांदनी खेल रही होगी इस समय। उस समय केवल दीपों का झिलमिल प्रकाश उसमें नीचे तक उतर रहा था। नगर सो गया था। सचमुच जब मनुष्य जागता रहता है, तब पत्थर भी बोलते रहते हैं; और जब वह सो जाता है, तब वह पत्थर भी सुपनों के बोझिल टुकड़े-भर जैसे रह जाते हैं।

वह संसार मेरे लिए नहीं था। वह सब कुछ मेरे साथ अपना तादात्म्य नहीं कर सका। आज मैं एक नये जीवन के इस छोर पर हूं। शायद अब मैं किसी ऐसे रास्ते पर चल सकूंगा, जहां मुझे वेदना नहीं होगी। जानता हूं कि यह भी शायद मेरी कल्पना है। मुनि स्वयंप्रभ कहते थे कि मनुष्य का संस्कार उसके साथ जुड़ा रहता है। वह बार-बार लौटकर आता है। परन्तु वे यह भी कहते थे कि अहिंसा से बुरे से बुरा व्यक्ति भी सुधर सकता है।

मैं इसे नहीं जानता। सचमुच ही क्या मनुष्य में इतनी शक्ति है कि बुरा भी बदल सकता है वह ! और माणवक भी कहता था कि अच्छे से अच्छे में भी कहीं बुराई होती है और बुरे से बुरे में भी कहीं न कहीं कोई अच्छाई सदैव बनी रहती है। जो भी हो, इतना जो सब देखा है, वह मेरा नहीं है। सम्भवतः मेरा कभी भी कुछ नहीं होगा, जैसा किसीका भी कुछ नहीं हुआ।

जिस भविष्य में, जिस वर्तमान में रहने की मेरी इतनी उत्कट लालसा है, वही बहुतों को नहीं भाता। जो मुझे नया लगता है, उसे वे बहुत पुराना-पुराना कहते हैं। मेरे क्रम की आस्था उनके लिए विगत का भार बन चुकी है और वे इसे छोड़ जाना चाहते हैं। ऐसा होता है यह बुढ़ापा। और मृत्यु पर हमारा वश नहीं है।

रात अब और घनी हो गई है और चांदनी अब पत्तों के ऊपर सो गई है। तरु के अंधेरे में मैं लेटा हूं। हवा धीमी है। श्रेष्ठिवास में जाग रहे होंगे मेरे पिता, पास में जागी होंगी मां। विनतशीश द्वार से सिर लगाए बैठी होगी मेरे कक्ष में पज्जा अम्मां। यही सोचती होगी, आ जाए शायद, एक वार वह आ ही जाए··· मेरा वत्स धन···मेरा वत्स धन···

नहीं, अब मैं नहीं लौटूंगा।

सच भाभियो! तुम मेरे पीछे पतियों से कलह न करना। मैं तुम्हारे लिए भी कुछ नहीं कर सका। मेरे अग्रजों! तुमने मुझसे घृणा की। परन्तु अकारण ही तो। मैं तो तुम्हारा प्रतिस्पर्धी था ही कब? लो! अब रहो। सुख पाओ।

धरती बहुत बड़ी है। यह सब मेरी है। मैं इसपर घूमूंगा। सब कुछ देखूंगा। आज जबकि मेरा कुछ नहीं है, तब मैं बंधा क्यों रहूं?

प्रणाम! मेरे अतीत! मेरा प्रणाम ले। मनुष्य आते हैं, चले जाते हैं। वे जाते समय सबको हाथ जोड़कर जाते हैं। वह उनकी अन्तिम यात्रा होती है। लोग उनके लिए आंसू भर लाते हैं। पर वे भागकर नहीं जाते। वे जीवन का उत्सर्ग करते हैं। और मैं कायर हूं। मैं इस जीवन को बचाने के लिए भाग रहा हूं।

फिर भी मेरा प्रणाम स्वीकार करो।

ओ आकाश! नीले विस्तार! मैं तेरे नीचे आ गया हूं। ओ धरती, देख, मैं यहां हूं! मेरी साक्षी रहना तुम। मैं तुममें से आया हूं। तुममें ही लीन हो जाऊंगा।

प्रणाम···मेरे प्रारम्भिक, प्रणाम···स्वीकार कर लो···मुझे अभी चलना है···और आगे जाना है···आज जीवन के लिए मैंने क्या सचमुच पलायन किया है, या मेरा गमन दूसरों के लिए मार्ग का मोचन है···यात्रा सदैव गति है, स्थिरता ही पथ का रोधक है···मैं रुक नहीं रहा···चल रहा हूं···चल रहा हूं···

२

कल तक सब कुछ था, और आज कुछ भी नहीं है। किन्तु क्या मुझे इसके लिए खेद करना चाहिए? खेद तो अभाव का पर्याय है। मनुष्य कुछ चाहता है और पा नहीं सकता, तब उसे एक ग्लानि होने लगती है। यह ग्लानि होती है उसे, क्योंकि वह अपने समग्र रूप को तुलनात्मक बनाकर देखता है। इस संसार में मनुष्य सदैव दूसरों को देखकर अपना आदर्श बनाता है। उन्हींको देखकर कहता है कि मैं अच्छा हूं, या बुरा हूं। जो व्यक्ति इस तुलनात्मक कचोट से ऊपर उठकर संतोष पा जाता है, वह कभी भटकता नहीं। हो सकता है कि कोई मुझे पलायनवादी समझे, परन्तु सोचकर देखने पर स्पष्ट हो जाएगा। यह ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य और सब कुछ का विकास मानवों की ही पारस्परिक प्रतियोगिता का रूप है। इससे मनुष्य के अतिरिक्त किसीका कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। ध्यान से सोचकर देखता हूं तो पाता हूं कि यह प्रतियोगिता ही यश के मूल में है और इसलिए इसे अधम ही कहूं, तो क्या इसमें मैं दोषी हूं?

कहां चलूं मैं?

अपने इस अप्रतियोगितापूर्ण जीवन में क्या वासना का अवशेष हो चुका है? वासना मन में रहती है और जन्म उसका होता है बाहर की वस्तुओं के सम्बन्ध से। इसका अर्थ तो यह है कि यदि व्यक्ति एकान्त में चला जाए, तो उसे कुछ भी नहीं है। नहीं। मैं समझ रहा हूं कि स्मृति-व्याकुल करती है। व्याकुल करती है उनके लिए, जिनकी वास्तविकता हम जानते हैं; हम जानते हैं कि वे हमें प्यार नहीं करते! कौन कहता है कि प्यार आकांक्षा से प्राप्त होता है। वह

सम्बन्धों की ऊष्मा है जो अपने-आप पैदा हो जाती है। तो क्या मैं ऐसी ही ऊष्मा को छोड़कर चला आया हूं ? उस दिन घर छोड़ा था, सोचकर कि अब मैं शान्ति पा गया गया हूं। किन्तु नहीं, शान्ति कहां थी उस जीवन में ? यह त्याग का बहाना एक छल ही तो है ! नहीं धनकुमार ! संसार यात्रा ही नहीं है, वह 'रहना' है। फिर कहां ? क्या 'रहना' भी यात्रा है ? और अब वह सब मुझे याद क्यों आ रहा है ?

भोर हो गई थी। तब पेड़ के नीचे मैंने आंखें खोली थीं। तब मुझे आश्चर्य हुआ था कि मैं कितनी गहरी नींद सोया था। थक गया था न चलते-चलते। तो यह असल में देह का खेल है। आत्मा तो सबमें एक जैसी है। जब माटी पुरुष का रूप धारण करती है, तब उसका आचरण और हो जाता है, और जब वह माटी स्त्री का रूप धारण कर लेती है, तब उसका आचरण कुछ और हो जाता है। तभी मुनि कहते थे कि मनुष्य इस पृथ्वी पर नंगा आता है, तभी वह उस समय निरावरण होता है। कहते हैं, नंगा आदमी बड़ा ऊंचा होता है। पहले सब नंगे थे, तब पाप नहीं था। जब कपड़े पहने, तब से मनुष्य अपने को छिपाने लगा। और उससे पैदा हुआ पाप। फिर से नंगा होने का अर्थ है, अपने ऊपर से हजारों बरसों के पाप को उतार फेंकना। यह क्या सहज है ?

और तब मुझे सूर्य की ओर देखना अच्छा लगा था। तब मैंने देखा कि इस सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर सब कुछ नंगा था। केवल मनुष्य ने अपना नंगापन छिपाकर अपने को पाप में डाल लिया था। मैं उठ खड़ा हुआ था।

मुझे याद है, वह सातवें दिन की बात थी। चलते रहने का गौरव मनुष्य ही जानता है। लेकिन चलते रहकर थकने पर ही मनुष्य बस गया है। उसे रुकने पर चलना अच्छा लगता है, और चलते रहने पर रुकना। पहली बार मैंने घर छोड़ा था, तब चलने की लालसा थी। वह लालसा समाप्त हुई जाकर रुकने में और आज उस रुकने का अन्त हुआ है फिर चल निकलने में।

रुककर मुझे लगा था, मैंने भूल की। अपना ही नहीं, मुझे दूसरों का भी दुःख रुलाने लगा था और आज की ही भांति जब मैं उस दिन चला था, तब भी मुझे दूसरों के दुःख ने बताया था कि रोना शाश्वत है। यह सदैव रहा है और शायद सदैव चलता चला जाएगा।

किसी की आंख न पड़ जाए, इसलिए मैं प्रायः ऐसे रास्ते पकड़ता था जो

बिलकुल निर्जन होते थे। उधर भय नहीं लगता था मुझे। थककर मैं पेड़ के नीचे लेट गया था। और तब मैंने सोचा था और अपने-आपसे कहा था कि धनकुमार! क्या तू हिंस्र पशुओं से नहीं डरता?

और सचमुच मुझे दूर एक गीदड़ दिखाई दिया, और तब मुझे लगा कि कहीं सिंह भी पास ही न हो, क्योंकि कहानियां बचपन में सुनाई गई थीं मुझे, जिनमें सिंह और सियार मित्र होते थे। और यह कल्पना बड़ी कर्कश थी, एक कठोर ध्वनि जैसी। मैं विजन में एक हिंस्र सिंह का भोजन बनूं? और यह गीदड़ तब दांत निपोरकर जूठन के रूप में मुझे खाए!

भूख कितनी भयानक वस्तु है, यह मुझे तभी ज्ञात हुआ था। इतने दिन से जंगली कंद-मूल-फल खाते निकले थे। उससे पेट नहीं भरता। बचपन से अन्न हमारे जीवन का आधार बनता है। और वही अन्त तक बना रहता है। अन्न में भी विशेषता है कि जिस तरह से पका हुआ खाने की आदत शुरू में हमें डाली जाती है, वही खाने से आगे भी तृप्ति मिलती है। उसे न खानेवालों को हम अपना नहीं मानते, उन्हें सुसंस्कृत नहीं मानते। यह भी कैसी विचित्रता है! अपने इतने दिनों के अनुभव में मैंने यह सीखा है। मैं अब बहुत तरह के लोगों को जानता हूं। अब मैंने वैष्णव भी देखे हैं। यह हम जिन-मतानुयायियों का ही प्रभाव है कि मैंने वैदिक मार्ग माननेवाले ब्राह्मणों को भी मांस छोड़ने की ओर प्रवृत्त देखा है। हम मनुष्य को सुसंस्कृत बना रहे हैं। परन्तु यह दम्भ ही है। बिना मांस खाए क्या मनुष्य हिंस्र नहीं होता? और क्योंकि मुझे अभी भूख तेजी से नहीं लग रही है, मुझे उस दिन की भूख की तीव्रता भी उतनी याद नहीं रही है; क्योंकि भूख के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उसका अनुभव ही हो सकता है। वह अनुभव, जिसमें मनुष्य की आंतें सारी सृष्टि को देखकर कहती हैं कि आ हममें समा जा! केवल याद रहता है अपनापन। सिर्फ 'मैं'। और तब मैंने खाई थीं जंगली झाड़ियों के मीठे-खट्टे फलों की दो मुट्ठियां। चैन पड़ गया था।

चलते-चलते मैं एक खेत की मेड़ पर पहुंचकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। भोर की शीतल वेला अब अपने पंख खोलने लगी थी।

मैं देखने लगा। मैंने देखा था कि नगर का प्रभात और होता है और निर्जन मैदान में आकाश में दूसरी ही तरह का प्रभात होता है। नगर में सूर्य झांकता है, विजन-विस्तार में प्रभात ऐसे खुलता है जैसे रेशमी कपड़े का कोई थान। और मैं

सोचने लगा कि यह जंगली फल अगर मैं इस समय नहीं पाता तो ? अचानक मुझमें एक कौंध-सी व्याप गई। तो भूख के कारण मनुष्य समाज बनाता है। जीव, जीव को खाता है। अन्यथा इस सृष्टि में कुछ है ही नहीं। निष्प्राण से प्राण का पोषण नहीं होता। स्थावर और जंगम दो हैं। हम जंगम को नहीं खाते, स्थावर को खाते हैं। खाते हैं प्राण को ही। यह ऐसी विचित्र अनुभूति थी कि मुझे अपने मानव-जीवन की एक नई विवशता का अनुभव हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। तो क्या स्थावर प्राण को खाना जीवहत्या नहीं है ? मैं जितना सोचता था, उतना ही घबराता जाता था।

दुपहर हो गई। धूप ऊपर चढ़ने लगी थी। मेरे पीछे आहट-सी सुनाई दी। मैंने मुड़कर देखा तो पता चला कि कोई किसान था। शायद वह सुबह ही से जुताई कर रहा था। लेकिन मैं अपने ध्यान में ऐसा डूबा रहा कि उसकी उपस्थिति भी नहीं जान सका। फिर इधर ही मेरी पीठ भी थी। तभी ऐसा हुआ, सोचकर मैंने अपने मन को आश्वासन दिया।

किसान ने बैल एक ओर रोक दिए। खोले नहीं। फिर नीचे से उठाकर उष्णीश अपने सिर पर रखा और बैलों को पुचकारा।

उस समय मैं डौरी से उतरकर नीचे बैठ गया और मैंने अपनी पीठ उससे टेक दी। पेड़ की छाया उस धूप में कितनी सुहावनी लग रही थी !

किसान कुछ सोच रहा था शायद। परन्तु निर्णय नहीं कर पा रहा था। फिर उसने मुझे दूर ही से प्रणाम किया। मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया और मुस्कराया।

मुस्कराहट एक बहुत बड़ी चीज होती है। वह भी मुस्कराया। परन्तु उसकी मुस्कराहट नगर की मुस्कराहट से भिन्न थी। व्यापारियों की पैनी मुस्कराहट की कृत्रिमता मैं जानता था। उसे देखकर मुझे घृणा होती थी, क्योंकि वह कुटिल होती थी।

वह मेरे पास आ गया। उसका उष्णीश मैला-सा था, कभी वह सफेद रहा होगा। घुटने तक धोती थी। देह नंगी थी। धूप ने उसे काला कर दिया था। पांवों पर मिट्टी चढ़ी हुई थी और एड़ियां फटी-फटी-सी थीं।

उसकी आंखें पतली और लम्बी थीं। होगा कोई पचास-एक वर्ष का, क्योंकि उसकी मूंछों के बालों में सफेद डोरियां थीं और देखकर वह अनपढ़ लगता था।

मैंने मन ही मन उसकी, अपने घर के दासों से तुलना की, तो बहुत बड़ा भेद पाया। उतना ही भेद जो जंगल और उपवन के पेड़ में होता है।

"कौन हो तुम ?" उसने मुझे घूरते हुए कहा। उसके मुख पर विस्मय भी था और कौतूहल भी।

मैंने उसकी दृष्टि में सरलता भी पाई और यह भी अनुभव किया कि वह अपने को चतुर समझता था।

"पथिक हूं।" मैंने कहा, "घूमता हुआ निकल पड़ा, इधर आ गया।"

क्योंकि कई ऊंचे घराने के लोग घर छोड़कर मुनि हो जाते थे, उसके लिए यह ऐसी आश्चर्य की बात नहीं थी।

"किसी ऊंचे घर के हो !" उसने कहा, "कपड़े मैले हो जाने पर भी बात तो नहीं छिपती।" फिर स्वर बदलकर कहा, "मुनी कोई नहीं है ! और भी मैंने देखे हैं। मुनि हो जाते हैं युवक ! ऊंचे घरानों के। धनधान्य छोड़कर। क्या कारण है जो ऐसा वैराग्य हो जाता है ? मेरी तो समझ में नहीं आता।"

मैंने कहा, "मैं मुनि होने नहीं निकला हूं।"

"तो क्या केवल घूमने निकले हो ?"

"हां।"

"दास-सेवक कोई नहीं ?"

"मैं तो गरीब आदमी हूं।"

वह हंसा। कहा, "इतनी उमर गई है तो क्या यह भी नहीं समझ सकता !" वह फिर हंसा जैसे अब की बार उसने विधाता से कुछ बात कर डाली हो।

तब खाने की पोटली ले आया और मेरे सामने बैठ गया। उसने कहा, "मैं जब खाता हूं, तब साथ कोई हो तो उसे भी खिला लेता हूं। वह नहीं खाता तो मैं भी नहीं खाता। जानते हो, उससे क्या होता है ?" उसने आंखें फाड़कर कहा, "ग्रामदेवता प्रसन्न होता है और खेत में अधिक अन्न उगने लगता है, पहले से बढ़कर। अरे, पानी तो ले आऊं !" उसने अपनी बात को झटके से तोड़ दिया। कैसी नई बात थी ! खिलाते रहने से ही धरती अन्न देती है। संचय और संग्रह से धरती अन्न कम उगलती है। और यह अनुभव भी मुझसे पुराना था !

वह उठ खड़ा हुआ और चला गया। मैं वहीं बैठा था। उसकी रोटियां मेरे सामने खुली रखी थीं। वह उन्हें मेरे सामने रख गया था, मेरी हिफाजत में छोड़

गया था। खेत में काम करता है। रोटी खाता है। फिर अन्न उगाता है और फिर रोटी आती है। योंही निरन्तर क्रम चलता है। हम नगरों में रहते हैं। धनधान्य कोठरों में भरते हैं। यह भी भरता है। यहां से ही संस्कृति का प्रारम्भ होता है, परन्तु यह तो इसे नहीं जानता।

जब वह लौटा, उसके हाथ में एक मिट्टी का पात्र था, पानी से भरा हुआ।

"यह कहां से ले आए ?"

"उस छोकरे के पेड़ के नीचे रखा रहता है।"

"कोई ले नहीं जाता ?"

वह हंस पड़ा। उसने खाना खोला। पत्तों पर रोटी बांटकर कहा, "पथिक, आओ।"

"नहीं, तुम ही खाओ !"

"क्यों ?"

"ठीक है।" मैंने सिर हिलाकर कहा, "तुम थक गए होगे। रोटियां भी कम हैं।"

"कम !" वह बोला, "खा लोगे एक पूरी ?"

मैं आश्चर्य में रहा।

दारिद्रय में भी उसमें एक गर्व था। अपने अनपढ़ और मोटे-झोटेपन का भी आदमी को एक घमंड होता है।

इसमें भी अतिथि-सत्कार की भावना है। सुना था कि किसी समय यह किसान सिर्फ रोटी खाते थे और हल चलाते थे। परन्तु तब वे दास नहीं थे। उनके अपने घर होते थे। उनके पास गाय-भैंसें होती थीं। छोटे घरों में बर्तन भी होते थे। उनके यहां मुनि जाते थे, भिक्षा पाते थे। कुछ लोग कहते थे कि गांव के लोग छल-कपट नहीं जानते, सीधे-सादे होते थे। परन्तु कुछ कहते थे कि वे चालाक होते थे। संस्कार की बातें मैं यहां नहीं सोच पाया। मुझे लगा, यह किसान संतुष्ट था। उसने मेरी ओर देखा और कहा, "तुम नहीं खाओगे तो यह धरती फिर अन्न नहीं देगी। कहते हैं, जब धरती का अन्न सबको नहीं मिलता, तब वह रूठकर बंजर हो जाया करती है और आकाश भी पानी नहीं बरसाता।"

हमारी मान्यता ही हमारे सत्य का आधार है, यह तभी मैं जान सका। उसने फिर कहा, "पहले मेरे बाबा कहा करते थे कि राजा मनमाना नाज लेते थे, धरती

के मालिक सब छीन लेते थे, किसान भूखा मरता था, दासों की तरह बिकता था, तब धरती रूठ गई थी। लोग खेती करते थे। तब हर क्षत्रिय शासन करता था। फिर एक क्षत्रिय उठा। उसने धर्म की स्थापना की और शांति छा गई।" मैं सोचने लगा, वह कहता गया, "तब धरती माता ने अन्न दिया। भटकना जोता ठहर गया। और तब से अन्न सब बांटकर खाते हैं। राजा छठा भाग लेता है। भूस्वामी भी अधिक नहीं लेता। तब हमारे पूर्वज उस बचे माल को पशुओं को खिलाने लगे। वे पुष्ट हुए। उन्होंने हल उठाए। तब अन्न पैदा होने लगा। वह दरिद्र माटी हरी होने लगी। तब पक्षी आने लगे। हमने उन्हें भी भाग दिया। तब मुनि आए और हमने उन्हें कटाई के बाद गिरे अन्न को समेट लेने दिया। यह धरती हंसती है, जब पेट भरता है। हमारा पेट भरा है, तभी दूसरों का भी पेट भरा है। जानते हो। श्रम से अन्न उगता है, ऐसा नहीं है। भाग्य से उगता है। बादल कोई अपने-आप नहीं ला सकता। पाप बढ़ जाते हैं तब भूखा पड़ता है, पुण्य रहता है तब समय पर जल बरसता है। राजा जैसा होता है, वैसी ही प्रजा भी होती है। और सबसे बलवान होता है समय! फिर मैं क्यों पाप का बीज डालूं! मेरे द्वार पर पथिक आया है। वह अतिथि है। किसान आते-जाते को देता रहे, तो लोग उससे खुश रहते हैं। नहीं तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। और क्रोध से बड़े लोग नाश कर देते हैं। अतः तुम भी बड़े घराने के हो, मुझे निराश न करो।"

मैंने कहा, "नहीं, मैं नहीं खाऊंगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि मुझे खाने का अधिकार नहीं है।"

"खाने का अधिकार? क्यों नहीं है?"

मैंने कहा, "देखो भाई! मनुष्य को पशु-पक्षियों का सा आराम नहीं है। उनको भी पुरुषार्थ करना पड़ता है, तब भोजन मिलता है; किन्तु मनुष्य को उनकी तुलना में कहीं अधिक उद्योग करना पड़ता है।"

"ऐसा न कहो," मैंने कहा, "जो तुमसे लेता है, वह तुम्हें कुछ देता भी है।"

मेरे लिए ग्रामीण का वह नया अनुभव था, अतः मैंने बात को सरल करके कहा, "तुम्हारे पूर्वजों ने राजा को कर दिया, क्योंकि वह तुम्हें शत्रु से बचाता था।" परन्तु मुझे ईर्ष्यावाली बात याद आ रही थी—न जाने क्यों, मुझे अपने भाइयों का स्मरण आ रहा था। मैं उस बात को कह नहीं सका। किसान मेरी ओर देख रहा था।

"अच्छा गरीब जानकर नहीं खाते भद्दक की रोटी ?" उसने कहा। तब मैंने जाना कि उसका नाम भद्दक था। फिर उसने कहा, "देखो अतिथि! रोटी न गरीब है न धनी। यह मनुष्य के लिए एक-सी है। चोरी की रोटी बुरी है, यह मेरा बाप मुझसे कहता था। मैंने चोरी नहीं की, फिर इसे बुरा क्यों मानते हो?"

यह सुनकर मैं लाचार हो गया। मैंने कहा, "तुम मेरा मतलब नहीं समझ रहे हो।"

उसने मुझे आंखें उठाकर देखा। उस अनजान जगह भाइयों के मुफ्त खाते रहने की आदत, फिर उससे पैदा होनेवाली ईर्ष्या, घृणा, हिंसा का अचानक मुझे एक जवाब-सा सूझ गया।

"खा लूंगा, परन्तु," मैंने कहा, "मुझे कुछ काम दो।"

"काम ?"

"हां काम !"

"मेहनत !"

"हां, हां।"

"इन्द्र !" वह आश्चर्य से बोला, "तुम काम करोगे ?"

मैंने कहा, "ज़रूर करूंगा।"

क्षण-भर वह सोचता रहा, जैसे मेरी शक्ति और सामर्थ्य का अनुमान लगा रहा था।

"हल चला लोगे ?" उसने व्यंग्य से हंसकर कहा।

"चला लूंगा।"

"कभी चलाया है ?"

"हां, हमारा उपवन बहुत बड़ा था। कर्मान्त भी थे। शौकिया सीखा था।"

"हल चला सकते हो ?" उसने फिर पूछा।

मैंने कहा, "जरूर !"

तब उसने मुझे सिड़ी समझा और वह मुझे समझाने लगा, "हां, हां, ठीक है, पर मुनि हमसे भिक्षा लेते हैं। वे भी तो खाते हैं। तुम इन कोमल हाथों से हल चलाओगे ! इतने बड़े आदमी होकर ! जन्म भाग्य से मिलता है। उसका सम्मान करो।"

मैंने कहा, "मुनि आत्मा को पवित्र करते हुए लोक को उपदेश देते हैं। वे कभी शरीर के सुख की याचना नहीं करते। आंधी, पानी और कड़ी धूप में वे घूमते हैं, लोक को जगाते हुए। वे हल चलाने से भी बड़ा काम करते हैं।"

"तुम मुझे उपदेश दो ! यह क्या कम काम है ?"

"नहीं, नहीं, मेरी आत्मा में इतना बल नहीं है।" कहते हुए मैंने उठकर हल पकड़ लिया।

हल मैंने चलाया था अवश्य, परन्तु यह एक दूसरा अनुभव था। उस समय शौकिया बात थी। हर क्षण साथ में दास रहते थे। दबाव कम होने पर वे तुरन्त संभाल लेते थे। धूप तेज थी। मैं भूखा भी था। परन्तु अब पीछे लौटने का रास्ता नहीं था। यह अपने मुफ्तखोर भाइयों के प्रति मेरी प्रतिहिंसा ही तो थी, किन्तु मेरे कार्य को वे देख ही कहां रहे थे ? और वह किसान देखता रहा। भट्टक ! उसे जीवन में एक नई बात दीख रही थी।

जब उधर देखा, तो मैंने उसके मुख पर आश्चर्य तो देखा ही, सन्तोष और विनय भी देखा, मानो मैं उसकी दृष्टि में बहुत महान था।

"बस रहने दो। बदला दे दिया तुमने ! वह कौन पत्थर-दिल मां-बाप हैं, जिन्होंने तुम जैसे कोमल और सुन्दर युवक को इस तरह छोड़ दिया है ? तुम्हारी पत्नी होगी ! बड़े लाड़ों तुम पाले गए होगे ! इन कोमल पांवों से ऐसे कठिन रास्तों से चल पड़े हो। रहने दो, तुम्हें सौगन्ध है। जिस दिन ऐसे लोग धरती पर हल चलाने लगेंगे, यह धरती क्या हमें शाप न दे देगी ! भाग्य ने हरिश्चन्द्र को चाण्डाल बनाया था।" यह कहते हुए उसने आंखें पोंछ लीं।

अचानक हल अटक गया।

"अब रहने दो।" उसने फिर कहा, "यह काम हमारा है, हमारा विनाश न करो। बहुत हुआ। तुम थक गए होगे।"

हल का अटकना मुझे बुरा लगा। बैल आगे नहीं बढ़ पा रहे थे। मैंने उन्हें ललकारा। बैलों ने हल को खींचा। मैंने जोर लगाया।

मुझे पसीना आ गया था। मैं तरबतर हो गया था। भद्दक के नयनों में अभी तक आंसू थे। वह कहने लगा, "स्वामी! रहने दो! और परीक्षा मत लो।" मैंने फिर जोर लगाया।

किसान बढ़कर पास आ गया, उसी समय आवाज आई—खन्न! खन्न!

भद्दक आगे बढ़ा।

बैलों ने एक बार पूरा जोर लगाया और हल निकल गया। कोई काली-सी वस्तु उछलकर बाहर गिर गई और उसमें से खनन करके कुछ चमकदार-सी मैली वस्तु बिखर गई। उसने देखा तो आश्चर्य से आंखें फट गईं और वह चिल्लाया, "सोना!"

उसने उछलकर उसको छुआ और अपने हाथों में लेकर देखा। उसके नेत्रों को जैसे विश्वास नहीं हो रहा था। इतना सोना कभी नहीं देखा था उसने! अंगूठे से दबा-दबाकर देखा। मैंने अनुभव किया कि हर्ष से उनका गला रुंध गया था। मैं स्तब्ध खड़ा सोचता रहा। उसने मुद्रा को दांत से काटकर देखा।

मुद्राएं मेरे सामने पड़ी थीं। "देखते हो," उसने कहा, "इनपर किसी नाग की शकल बनी है। किसी नाग का धन है।"

नाग का धन! मैंने सोचा। कभी शायद यहां नाग रहते होंगे। कहां गए वे नाग, कहां गया वह व्यक्ति, जिसने यह धन गाड़ा था! कहते हैं किसी समय इधर कृतवीर्य राज्य करता था, जिसने कर्कोटक नाग को पराजित किया था। सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले। कौन जानता है कब! तब से यह सोना यहां पड़ा है। मुद्राएं हैं। परन्तु अनगढ़। इनपर कुछ लिखा नहीं है। मुझे लगा, सब कुछ घूम रहा था। भूख के मारे कलेजा मुंह को आ रहा था। मैंने कहा, "भूख लग रही है।" उसने मुझे देखा। फिर मैंने कहा, "चलो, भोजन करें।"

हम दोनों खाने बैठ गए।

किसान के सामने रोटी थी। मेरे भी। अलग-अलग पत्तों पर। एक-एक मिर्च। खेत का मामला था। यहां छाछ नहीं थी, न लोनी। उसीने बताया कि उसकी स्त्री बीमार थी। बड़ी लड़की छोटे बच्चों की देखभाल करती थी, इसीसे रोटी लेकर आ नहीं पाती थी। फिर ऐसा भी कहते थे लोग कि एक लकड़बग्घा

आ गया था। तभी वह स्वयं रोटी ले आता था। उसके बगल में एक कपड़ा था। कौन-सा कपड़ा? उसका उष्णीश, जिसमें वह सोना बंधा था।

वह मुझे बार-बार देखता था। उसके नयनों में कभी उल्लास की चमक आती, कभी गम्भीर कालिमा बनकर भय और आतंक छा जाता है, जैसे वह जल्दी-जल्दी कुछ सोच रहा था। और मैंने देखा कि सोना क्या होता है। एक क्षण मुझे लगा कि मेरे जीवन की समस्या सुलझ गई थी। अब मुझे किसकी चिन्ता है! मेरे पास सुवर्ण है। अब मेरे पास शक्ति है। तभी मेरा ध्यान टूट गया। भद्दक बड़बड़ाने लगा। हाथ में रोटी लिए वह कहने लगा, "जानते हो! यह खेत मेरे बाप के पास था! मेरे बाप के बाप के पास था। उसके भी बाप ने इसे जोता था। उसका बाप यहां दास था। फिर यह खेत हमारा हो गया। अब मेरा बेटा इसे जोतेगा। लेकिन कभी भी इसमें हल की नोक लगने से सोना नहीं निकला। हमारे हल से इसमें से अन्न उगता था। उसे बदले में देकर हम चांदी पाते थे। लेकिन कभी सोना नहीं निकला। तुम्हारे हल चलाने के पहले ही तो मैंने उसी जगह से हल चलाया था। तब भी सोना नहीं निकला। और इतना सोना, जिससे पक्का घर बना सकता हूं। बैलों की दस जोड़ी ले सकता हूं। आभूषण बना सकता हूं। इतना सोना! सोना धरती में इतना भी है। अतिथि! सच बताओ!" उसका स्वर बदल गया, "तुम कौन हो? तुम विद्याधर हो कि देवता? तुम मनुष्य का रूप धारण करके मुझे यह सब देने आए थे?"

मैंने उसका आवेश और आतंक देखा। तब धीरे से कहा, "मैं न विद्याधर हूं, न देवता। जैसे तुम मनुष्य हो, वैसा ही मैं भी मनुष्य हूं। भूख और प्यास मुझे भी लगती है। मैं भी तुम जैसा ही हूं।" वह सुनता रहा। और तब स्वर दबाकर मैंने कहा, "तुम्हारी ही तरह सोना मुझे भी चाहिए, मैं भी इस समय व्याकुल हूं।"

और तब मैं फिर खाने लगा।

कितना स्वादिष्ट भोजन था वह! मैंने अनुभव किया कि श्रम भूख लगाता है और अपने श्रम की रोटी का स्वाद कुछ और ही होता है। तभी मैंने सोचा कि बन्दर रोटी इतना अधिक क्यों चाहता है। क्योंकि मनुष्य के जाल में से वह रोटी निकाल पाता है।

तब भद्दक के मुख पर निराशा खेलने लगी, "तो तुम भी मनुष्य हो!

मनुष्य ? भूख-प्यास ! मुझ जैसे ! धन तुम्हें भी चाहिए ! व्याकुल हो।" हठात् उसने स्वर उठाकर कहा, "तो क्या तुम यह सब ले लोगे ? कुछ मुझे भी नहीं दोगे ?"

एक क्षण असंख्य विजलियां कौंध गईं मेरे सामने। मैं ले लूंगा ! क्या यह सब मेरा है ! और तब मुझे याद आई मेरी पज्जा अम्मां ! उसे भी ऐसे ही धन मिला था। मैं चिल्ला उठा, 'नहीं, नहीं ! मैं नहीं लूंगा, यह तुम्हारा है भद्दक ! यह तुम्हारी धरती से निकला है।"

मैं उठने लगा तो उसने कहा, "मेरी धरती !"

और मैंने उसके स्वर में नई तरलता पाई। वह रोने लगा।

"तुम मनुष्य नहीं हो। तुम मेरी परीक्षा लेते हो।"

मैं देखने लगा। यह रोता क्यों है ? शायद वह इतने अधिक भावावेश में था कि अपने को संभाल नहीं सका था। मैंने रोका, "भद्दक ! यह सब तेरा है।"

"मेरा है ?"

"हां, यह तेरी धरती है।"

"मेरी धरती ! ! ! मेरी धरती तो यह चार पीढ़ी से है अतिथि ! पर तब तो कभी नहीं मिला कुछ। यह सब तेरा है अतिथि ! तूने इसे पाया है।"

मुझे अपने पिता की याद हो आई। मैंने कहा, "भद्दक ! यह किसीका नहीं। जिसने गाड़ा था, यह उसीका नहीं हुआ। फिर मेरा यह क्यों होने लगा !"

उस क्षण भद्दक के नयनों में एक विचित्र सी घृणा दिखाई दी।

जीवन का विश्वास भी कितना गहरा होता है ! उसने कहा, "हां ! उसीका नहीं हुआ, तो यह किसीका नहीं होगा।"

"और," मैंने कहा, "न जाने इसपर किसके मोह का संस्कार अभी तक अटका होगा। किसका हाहाकार होगा इसपर, जो मुझपर छाएगा, मेरे कर्मों पर, मेरे जन्मान्तर तक, और तब मैं इसका दास बन जाऊंगा। मैं श्रम से अपना लूंगा। पुरुषार्थ से भाग्य के प्रलोभनों से लड़ूंगा।"

मैं आगे बढ़ चला। मैं उस सबको छोड़ देना चाहता था। वह कितना कठिन काम था। एक मन कहता था—ले ले, विदेश में काम देगा; परन्तु मैंने देखा था कि मेरे मनुष्य होने का नाम सुनकर ही भद्दक में स्वार्थ और हिंसा जागी थी कि कहीं मैं न ले लूं। परन्तु जब मैंने नहीं लिया, तो वह स्वयं एक हलचल में पड़

गया था। मैं दूर हो चला। पीछे से आवाज़ आई। दौड़कर आती आकृति को मैंने पहचाना। वही भद्दक!

उसने आकर मेरे चरण पकड़ लिए। वह रो रहा था।

"क्या है भद्दक?"

"स्वामी! मुझे छोड़कर जा रहे हो?" उसने भर्राए स्वर से कहा, "अपना सब अपने साथ ले जाओ। वह धन लेने से मेरे बच्चों का अनिष्ट हो जाएगा स्वामी! सच कहता हूं न? नहीं, नहीं, यह सब मेरा नहीं है। मेरा होता तो कभी का मिल गया होता। मुझे तो खेती करनी है। हल चलाना है। देखो! हल पकड़ने से मेरी हाथ की रेखाएं ही मिट गई हैं। तीन हैं बाकी। ज्योतिषी कहते थे, "इतने दिन रहेगा, इतने दिन खाएगा, इतने दिन जिएगा, हृदय साफ रख! बस।—मेरे जीवन में और कुछ है ही नहीं। पीढ़ी दर पीढ़ी हम खेत में काम करते आए हैं। मुझे इस विपत्ति में छोड़कर मत जाओ। मुझे पाप में मत छोड़ो। स्वामी! उसे ले जाओ। उसमें से ऐसी गर्मी निकलती है कि मैं सह नहीं पाता। इतना धन सहने को कुल चाहिए, मर्यादा चाहिए, सामर्थ्य चाहिए। मुझमें यह सब कहां है? उसे देखता हूं, तो मेरा सिर घूमने लगता है। मुझे लगता है, मैं पागल हो जाऊंगा। मैं तुम्हारे पांव पड़ता हूं। स्वामी! मुझे बचा लो। मेरे अन्न का ऋण चुका दो, इसे ले जाओ। मैं ऋण नहीं मानता, पर भाग्य देवता तो मानता ही है..."

मैंने उसे देखा और देखता रहा। उसके नेत्रों में कैसी पवित्रता थी, जैसे वह मुझसे पुण्य मांग रहा था, ऐसी विवशता में था कि यदि मैं उसे नहीं बचाऊंगा तो वह निश्चय पाप में फंस जाएगा। लोभ से लड़ते हुए आदमी को मैंने देखा था और अनुभव किया कि सोने में कितनी ताकत होती है। अनुभव किया, क्योंकि मैं स्वयं लड़ रहा था उस लोभ से। एक क्षण जब मेरे पास कुछ नहीं था, तब उसने मुझसे सामने आकर कहा था, "मुझे देखो। मुझे ले लो।"—मैं चला जाता परन्तु उसने मुझे रोककर कहा था—मुझे पहचानो, भूल मत करो।—और वहां मैंने देखा था, मनुष्यों के बीच की शक्ति का माध्यम! सुवर्ण। इसमें जान नहीं। बोलता नहीं। लेकिन मैं हूं मनुष्य! आकाश और पृथ्वी के बीच चेतना का पुंज। और मैं इसे देखकर कांप रहा हूं। ऐसी है इस सोने की शक्ति। मैं आंखों से देखता हूं, पर यह मुझे अन्धा किए दे रहा है। और इसकी ताकत का नमूना मैंने देखा है कि भद्दक ने जब जाना कि मैं मनुष्य हूं, मैं भी सोने को चाह सकता हूं, तब उसकी

आंखों में एक भयानक हिंसा चमक उठी। मुझे नहीं मालूम फिर क्या हुआ होता यदि मैं अडिग रहता। नहीं। मैं मृत्यु के भय से नहीं डरा। मैं डरा उस चीज़ की भयानक ताकत से, जिसने भद्दक को पशु बना दिया होता! सोना! इतना घृणित! भविष्य का निर्माण इस सुवर्ण से होगा कि आत्मा से! कहां है वह नाग जिसने इसे गाड़ा। आत्मा कहां ले जा सकी इसे अपने साथ। ले गई आत्मा केवल कर्म, और भद्दक है यहां। गांवों में मैंने देखा है दारिद्रय। परन्तु सन्तोष, क्योंकि जीवन एक नहीं है, एक परम्परा है।

"भद्दक!" मैंने कहा, "धन पाप है!"

'पाप!" वह चिल्ला उठा। और मैंने देखा कि मैं ही नहीं लड़ रहा था, मेरा युद्ध देखकर भद्दक भी लड़ रहा था। सोच रहा था—वह कौन-सा महान अन्त है जिसके लिए यह अतिथि इस सुख को छोड़ रहा है। निस्सन्देह वह और बड़ा होगा। उसने कहा, "तू मुझे धोखा नहीं दे सकता अतिथि! तू उस बड़े सुख को लेने के लिए यह सुख भी छोड़ रहा है! तो वह सुख कितना बड़ा होगा! वह सुख तू मुझे क्यों नहीं बताता। आप जा रहा है उसे लेने! और मैं ऐसा हूं कि मुझे इसमें फंसाए जा रहा है। तू भी इससे हिल उठा था। मगर ज़रूर तू कुछ और जानता है जो देखकर भी हट गया। मुझे भी वही दे! वही दे दे मुझे, नहीं तो मैं पागल हो जाऊंगा। मैं पागल हो जाऊंगा।"

और भी बड़ी प्राप्ति! भद्दक समझ रहा है, मैं अब भी स्वार्थी हूं। मैंने कहा, "भद्दक! वह प्राप्ति मैं तुझे दे नहीं सकता। वह तुझे आप पानी होगी।"

"मुझे बता अतिथि! मैं उसे पाने का यत्न करूंगा।"

"तो अपने कर्म अच्छे कर। देख, यह कितनी भयानक चीज़ है! जिस क्षण तक तू समझता था कि इसे मैं लूंगा, तो ऐसा हो उठा था जैसे मुझे मार डालेगा, पर जब मैं छोड़ चला तो तू भी घबरा उठा। तूने समझा कि इससे भी ऊपर कुछ और है। भद्दक! जब मैंने इसे छोड़ा तब तू मुझे प्यार करने लगा। जब मैं इसे लेना चाहता था, तू मुझे पशु समझता था और पशु बनने लगा था, पर जब मैं इसे नहीं चाहता, तू मुझे देवता समझता है, तू मुझे प्यार करता है। समझा भद्दक! मनुष्य को मनुष्य से घृणा करानेवाला यह भयानक पिशाच है। यह 'मार' है।[1] यह मनुष्य के देवत्व का शत्रु है। समझ रहा है भद्दक?"

१. पाप—वासना का प्रतीक: कामदेव का बुरा स्वरूप

न ? पर कहता है, मैं नहीं लेता। मैं ले लूं ? खुद तो कहता है, मेहनत करके खाऊंगा। मुझे कहता है, तू ले ले। खुद क्यों नहीं लेता ? कहता है अगला जनम बिगड़ेगा। मेरा नहीं है जनम ! यह मेरी आत्मा पूर्व-जन्म के फल से तो किसान की देह में है; अब पाप किया तो मैं सूअर बनूंगा, मल के बीच का कीड़ा बनूंगा।" उसके ये शब्द सुनकर सबपर, मुझपर एक आतंक छा गया ! नरक ! यातना ! भयानक !

एक वृद्धा आगे आई।

"आजी !" उस समय भद्दक ने कहा, "तू कहती थी कि लोक का पाप एक झेलता है।"

"हां बेटा !" वृद्धा ने कहा, "एक ही झेलता है। राजा ! राजा को एक बार नरक जाना ही पड़ता है। राजा ही इसे झेलेगा। राजा या लोक, इन दोनों में से एक झेलता है। यह धन राजा का है, क्योंकि धरती का मालिक तो राजा है ! हम तो उसकी धरती के ऊपरी भाग के मालिक हैं, और मेहनत से जो उगाते हैं, उसका वह हमसे भाग लेता है। भीतर की धरती हमारी नहीं, ऊपर की है, जैसे पेड़ हमारे हैं, राजा के नहीं। राजा की सीताभूमि[1] अपनी है, वैसे हमारी जोती भी अपनी है। धरती सबकी है, अकेले राजा की नहीं। वह सबको बेच नहीं सकता; कर लेने का अधिकार दूसरे को दे सकता है, पर हमें नहीं हटा सकता, क्योंकि हमारा खेत हमारा है। उसी तरह धरती का स्वामित्व उसका है, परन्तु हम तो केवल ऊपरी सतह के मालिक हैं। धरती के भीतर की खान राजा की है, वैसे ही धन भी उसका ही है। राजा के पुण्य से प्रजा पलती है। पुत्र ! पहले जब गणराज्य थे, जैसे उत्तर में हैं—तब हमारे पूर्वज दास थे; हमारी कोई भूमि नहीं थी। हम बिकते थे। फिर अच्छा राजा आया। उसने कहा, 'हम तुम्हें न्याय देंगे। धर्म की स्थापना करेंगे।' हमारे पूर्वजों ने उससे कहा, 'हम तुम्हारे लिए अपने प्राण देंगे।' उसने कहा, 'उठो और लड़ो।' वह आगे बढ़ा, हम पीछे; और तब उन अत्याचारी गणराजाओं को मार डाला और हमें धर्म दिया। तब हम दास नहीं रहे। पहले राजा की सारी धरती थी। अब राजा केवल कर का मालिक है। यह धन राजा को दे दो।"

मैंने सुना।

सबपर से बोझ उतर गया। वे मुझे ले गए। गांव में शाम को नाच-गाना

---

१. आराज़ी खास

हुआ। स्त्री-पुरुष खूब नाचे। एक वृद्ध ब्राह्मण मुझसे मिले। बोले, "वैश्य-पुत्र हो?"

मैंने प्रणाम किया।

बोले, "बैठो, बैठो!"

बातचीत में पता चला कि उनके तीन पुत्र थे। तीनों नगर चले गए। परन्तु वे नहीं गए थे। मुस्कराकर बोले, "श्रेष्ठिपुत्र! ब्राह्मण जब नगर में चला गया तब उसका गौरव घट गया। नगर वैश्य और क्षत्रिय की जगह है। ब्राह्मण कौन है? जो शील का आचरण करे। वह पृथ्वी का देवता है। वेद में धर्म स्थित है, परन्तु वह उसे भुला गया है।"

और भी बहुत कुछ कहा। फिर बोले, "एक ब्राह्मण आए हैं। चतुष्पथ पर रात को वे कथा सुनाएंगे। आना तुम भी। उसमें सब जातियों के लिए स्थान है।"

मैं भी गया। आगे ब्राह्मण-युवक थे। क्षत्रिय-वैश्य भी थे। शूद्र भी। केवल अन्त्यज नहीं थे।

वृद्ध ब्राह्मण जितारि भी थे। कर्मकाण्डी ब्राह्मण अवश्य वहां नहीं थे, जो इस प्रकार सबसे नहीं मिलते थे। मैं जिन-मतानुयायी था, पर कौतूहल से बैठा रहा। व्यासपीठ पर एक वृद्ध आ बैठे। वे ब्राह्मण थे। उन्होंने जय-काव्य सुनाना प्रारम्भ किया। स्वर कितना मीठा था! उपरिचरवसु की कथा थी, जिसमें उसने अहिंसा से यज्ञ का प्रतिपादन किया था।

दूसरे दिन भद्दक और अन्य ग्रामीण खेत में प्राप्त हुए धन के साथ राजा के पास चले। मैं उनके साथ तैयार नहीं हुआ, न गया। उन्होंने बहुत कहा। फिर वे बोले, "तुम ठहरो! हम हो आते हैं।" मैं समझ गया कि राजा से वे मेरे बारे में अवश्य कहेंगे। मैंने कहा, "वे मुझे बुलाएंगे। और मैं नहीं चाहता कि मेरे घरवाले मेरा पता जान पाएं। राजा मुझे बताना ही पड़ेगा।" तब वे मुझे छोड़ गए, पर आश्वासन ले गए कि उनके लौटने तक मैं गांव में ही रहूंगा। यह मैंने स्वीकार कर लिया। वे चले गए। ग्रामीण भी उनके साथ था। वह तो भद्दक का चेला ही हो गया था। भद्दक छोटा देवता था, मैं बड़ा देवता था। उनके जाने पर आजी से मेरी खूब बनी। आजी ने अपने कई किस्से मुझे सुनाए। मोटी रोटी और मट्ठा खिलाती। दूध पिलातीं स्त्रियां, जो भाभी हो गई थीं मेरी। आजी के गीतों के

मुझे पज्जा अम्मा की याद हो आती और मेरी आंखें गीली हो जातीं। मैं भी आजी का काम करता। शायद मैं उसी गांव में रह जाता, पर सभी नगर से लौटे, भद्दक ने बताया कि राजा ने वह धन नहीं लिया। कहने लगे—जो धन कोई न ले, उसे मैं क्यों लूं ? क्षत्रिय का धर्म है जीतकर लेना। दान लेना तो ब्राह्मण का काम है। तुम इसे गांव में लगा दो! लोक में बंटने पर धन का पाप-पुण्य नहीं रहता।

भद्दक को गांव के पुराने ग्रामणी ने ग्रामणी बनवाया था, स्वयं पद से हटकर। तब राजा ने उसका त्याग देखकर उसे सीमा पर वन-प्रान्त के अहेरियों और अन्य जातियों से कर लेनेवाला नियुक्त कर दिया और राजा स्वयं उस वैश्य-पुत्र को देखने आनेवाले थे।

यही मैं नहीं चाहता था। अतः जब रात घनी हो गई, मैं बिना किसीसे कुछ कहे चुपचाप वन में घुस गया। मैं एक ऐसा संसार छोड़े जा रहा था, जिसमें मुझे एक अजीब बात दिखाई दी थी कि सब देते को देते थे।

वन भयानक था और भय भी हुआ, पर पकड़कर घर पहुंचा दिए जाने की कल्पना मुझे डरा रही थी। सारे गांव के लोग कहते थे कि देने से पुण्य होता है। राजा को दिया तो उसने भद्दक को पद दिया। ग्रामणी ने पद छोड़ा और सहर्ष छोड़ा तो उसका भी पद बढ़ गया। अवश्य वह सोना बुरा था, तभी तो उसे छोड़ने के फल से इतनी शीघ्रता से इतना अच्छा परिणाम निकला। यों मैं बहुत दूर निकल गया और तब थककर एक जगह बैठ गया। अवश्य ही मेरे जाने से गांववाले परेशान हुए होंगे। पर मैं और करता भी क्या! वहां रहने से तो मैं पकड़ा जाता और तब फिर वही भाई मिलते, जिन्होंने मुझे गृहहीन बना दिया था।

सांझ का समय हो गया। मुझे पशुओं के गलों की घंटियों की आवाज़ सुनाई दी। समझ गया मैं कि कोई सार्थ आ रहा है।

स्थूलकाय सार्थवाह ताम्रलिप्ति का निवासी था। मैंने उसके साथ चलने की अनुमति मांगी। एक बार संदेह से उसने मुझे देखा और कहा, "आगे-आगे चलो। तुम्हारे पास कुछ नहीं है ? डाकुओं के कोई गुप्तचर तो नहीं हो ?"

मैंने हंसकर कहा, "होता तो आपके पास आता ?"

मैं सार्थ के साथ हो लिया, उसने भी चिन्ता नहीं की। उसके साथ अनेक शस्त्रधारी भृत्य थे। मैं बेचारा अकेला क्या करता! परन्तु इन नागरिकों की

बातों ने मुझे फिर चालबाज़ियों की यादें दिला दीं। तो क्या ग्रामीण चालाक नहीं होते! होते हैं अवश्य। उस ग्राम की स्मृति एक आवेश के क्षण का इतिहास था। आवेश के क्षण में मनुष्य उठ जाता है फिर गिर जाता है, जैसे मैं स्वयं उस समय उठ गया था। तब मेरा मन कितना हलका था? क्या वह अब पहले की तुलना में भारी नहीं हो गया था?

नर्मदा आ गई। सार्थ रुक गया। सब बोझ उतारकर खाने-पीने की ओर लगे।

मैं तीर पर खड़ा होकर देखने लगा। प्रशस्त धारा फैली हुई थी। जाते सूर्य की अन्तिम किरणें पड़ रही थीं और जल की ऊपरी पर्त पर चमक-सी रही थी। क्षितिज लाल हो गया था, अंगारे-सा। मैं मंत्रमुग्ध-सा देखता रहा। प्रकृति कितनी सुन्दर थी! कितनी प्रशस्त! आकाश में पक्षी लौट रहे थे।

उत्कल का एक सैनिक मेरे पास आ खड़ा हुआ और मुझसे टूटी-फूटी संस्कृत में बोला, "यात्री! कहां जाओगे?"

मैंने कहा, "नर्मदा के पार।"

"कहां?"

मैं शीघ्र नहीं बता सका।

उसने कहा, "हमारे साथ ही चलना।"

इस समय उसे किसीने बुला लिया। नर्मदा की धारा पर बहती हुई नावें बहुत ही सुन्दर लगती थीं। किसी-किसी में दीपक जल रहा था। उतरता अंधकार, आकाश में तिरोहित होती ललाई, उड़कर दृष्टि से लोप हुए पक्षी और स्निग्ध चमकीली शिखावाले दीप, फिर मांझियों का गीत···

ओ मांझी, पतवार चला···

तेरे जीवन का अंत वहां तक है जहां तक सागर करवट लेकर आकाश बन जाता है···

वहां पूर्वजों की आत्माएं रहती हैं, जो तेरे लिए ऊपर आकाश में चढ़कर दीप बन जाती हैं, नक्षत्रों की भांति चमकती हैं···

वह पुण्यवानों का नाम है जो चमकता है···

मांझी! सुवर्णभूमि, बर्हिणद्वीप और बावेरु तक की लहरों पर तूने अपनी पतवार से धर्म की गाथा लिखी है। भाग्य देवता तेरे हर लेखे-जोखे को रखता है,

तेरी पत्नी, तेरे बच्चे के लिए सूर्य देवता के फेरे गिनते हैं···

अनन्त आकाश में भरती हुई वह ध्वनि···फिर कभी-कभी वृक्षों की सुर-सुराहट, एक ओर शस्यश्यामला वनभूमि···

मैं एक ओर चल पड़ा···पता नहीं क्यों? वह वन कितना घना था! मैं अंधेरे में उधर क्यों चला? वहां कुछ दीख रहा था मुझे। देखा जाकर पास। एक पेड़ के नीचे दोनों ओर पत्थर रखकर चूल्हा बना था, किसीने यहां कभी आग जलाई थी, शायद यहां खाना पकाया होगा। यही था मनुष्य के वास का चिह्न। पास ही एक चैत्य (चौंतरा) था, जिसपर शिवलिंग धरा था, निर्जन वन में। कभी मनुष्य यहां भी रहा होगा। किसीने यहां खाना भी बनाया होगा। तो मैं यहां पहला आदमी नहीं हूं, उसने भी ऐसे ही सूर्य को डूबते देखा होगा!

यह कितनी विचित्र अनुभूति थी कि मुझसे पहले भी धरती के इस टुकड़े पर मनुष्य रह चुका था। आया था, चला गया था। जैसे मैं आया हूं और चला जाऊंगा।

तभी जन्न की आवाज़ आई।

मैं समझा नहीं। तभी विचार कौंधा कि शायद यह बाणों की वर्षा है। फिर भयानक चीत्कार सुनाई दिया। लगा, उनका प्रहार सफल हो गया। फिर शस्त्रों की खड़खड़ाहट।

उफ! अब सार्थ के लोग सन्नद्ध हुए होंगे।

अब मैं समझा। यह तो जान का खेल था।

फिर भगदड़ और घोड़ों की हिनहिनाहट। मैं और पीछे खिसकने लगा।

डाका पडा था। सार्थ पर आक्रमण हुआ था डाकुओं का। मैं भाग चला। उस क्षण मुझे ऐसा भय हुआ कि मैं नहीं कह सकता।

बहुत दूर निकलने पर मैंने देखा कि मैं नर्मदा के दूसरे स्थान पर किनारे पर ही निकल आया हूं। उस समय चन्द्रमा उठने लगा था और उजाला फैल चला था। निर्जन सांय-सांय से वह स्थान सनसना रहा था। मैं अकेला चेतन प्राणी था। शायद मेरे अतिरिक्त भी कुछ और थे, क्योंकि मेरी उपस्थिति से एक पक्षी उड़कर दूसरे वृक्ष पर चला गया। अवश्य ही और भी पक्षी रहे होंगे। यहां इस जगह जहां मनुष्य नहीं रहते, पशु-पक्षी रहते हैं; और मनुष्य की सत्ता से जैसे उन्हें कोई

मतलब ही नहीं। वे मनुष्य के बिना भी रहते हैं। हठात् प्रश्न हुआ : क्यों रहते हैं? मैं तो डाके में से भी बच गया था! क्यों बच गया था? दोनों ही बातों में बड़ी उलझन थी।

मैंने सोचा, मैं बच गया था, क्योंकि मुझे अभी जीवित रहना था। यह भाग्य नहीं था तो था ही क्या? क्या उसे केवल आकस्मिक घटना कहा जा सकता है? वन के डाकू कितने भयानक होते हैं! परन्तु वे भी मनुष्य होते हैं। राजा राज्य करते हैं। अपनी सीमा में दण्ड से शान्ति रखते हैं। वनभूमि में लोग मरते हैं। कौन? अधिकतर वैश्य और व्यापारी। क्यों? क्योंकि उनके पास माल होता है। वे ही क्यों जाते हैं ऐसे? लाभ के लिए। लाभ क्यों चाहते हैं वे? क्योंकि वैश्य का धर्म है व्यापार करना। व्यापार का अर्थ ही लाभ है। परन्तु यह संसार भी कैसा विचित्र है! क्षत्रिय का कर्म ही क्रूर है और वैश्य का कार्य ही लाभ पैदा करना है। लाभ क्या है? वस्तु के मूल्य में दूसरे की आवश्यकता को जोड़ देना और उसकी विवशता को बीच में डालकर अधिक वसूल करना। परन्तु यह न हो तो कारीगर कुछ बनाए ही क्यों? वस्तुओं के आदान-प्रदान का क्रम तो चलेगा ही। तो व्यापार होगा ही। और होगा तो जान पर खेलना भी पड़ेगा ही यह तो एक चक्र हो गया है।

थककर मैं किनारे की घास पर लेट गया और सोचने लगा—अब मैं कहीं नहीं जाऊंगा। यहीं रहूंगा। एकान्त में। पक्षियों से मैं मित्रता करूंगा। फिर कन्द-मूल खाऊंगा। यह एक परिवार हो जाएगा!

फिर परिवार! यह कैसी भूल है? परिवार! फिर यदि ईर्ष्या हुई तो? तब भाभी सुभामा याद आई। उन्होंने कहा था तब, 'देवर! तुम बहुत अच्छे हो! तुम्हारे भैया तुम्हें नहीं चाहते।' यह कहते हुए भाभी कैसी ग्लानि से भर गई थीं! जैसे पति का पाप उनका अपना पाप था। वे अर्धांगिनी ठहरीं। जीवन-मरण में उनका साथ जो है। स्त्री को तो पति के साथ सब कुछ भोगना होगा। लेकिन कहते हैं कि पतिव्रता के पुण्य से सब पाप दूर हो सकता है।

आकाश में चन्द्रमा अब पूर्ण तेजस के साथ विराजमान हो गया था। पूर्णचन्द्र का भी बड़ा वैभव होता है। दूध-सी चांदनी लोक की विश्रांति को जैसे पी जाती है। अचानक मुझे लगा, कुछ बहता हुआ नदी पर आ रहा था। यह क्या होगा? होगा कोई लकड़ी का टुकड़ा। मैं उधर ही देखने लगा। फिर लगा, उसने हिलना

शुरू किया। तो शायद कोई तैर रहा होगा। पर मेरी आंखें उधर ही लगी रहीं। कैसी भी चांदनी हो, वह बदली में घिरे सूरज की छिपी किरणों की झांईं के बराबर भी उजाला नहीं कर सकती। सौन्दर्य की यह निर्बलता मुझे बुरी लगी। अच्छी होती है वह कुरूपता ही जो सत्य को सत्य के रूप में दिखाती है।

तभी मानो मैं सनसना उठा। वह बहती हुई चीज़ बीच धार में थी! वह तो मनुष्य-सा लगता था। बिना कुछ और सोचे हुए धारा में मैं कूद पड़ा और उस ओर तैरने लगा। मुझे यह सोचने में देर नहीं लगी कि वहां कोई डूब रहा था, या डूब चुका था जो अब बहा जा रहा था।

तब जीवन में पहली बार मैंने अनुभव किया कि तैरना जाननेवाला आदमी कभी भी डूबते को बचाए बिना नहीं रह सकता ; चाहे उसे कैसा ही संकट झेलना क्यों न पड़े। ऐसे ही जैसे कोई महापुरुष लोक के उद्धार के लिए कष्ट उठाता है। और आखिर मैंने उसे पकड़ ही लिया। परन्तु जब धार छोड़कर किनारा देखा तो पता चला कि मैं तो मंझदार तक आ गया था।

अब मेरे हाथ-पांव फूल रहे थे। लगता था अब डूबा, डूबा। तो क्या इसे छोड़ दूं? मन ने कहा, 'मरने दे इसे, अपने को बचा पहले।' फिर भीतर से आवाज़ सी आई, इस समय तुझे देखकर कोई यही कहे तो! बचा उसे, बचा अपने को धनकुमार। मैंने आंख बन्द करके तीर्थंकर पार्श्वनाथ का स्मरण किया और धारा पर अपने को छोड़ दिया।

जब मैं किनारे पर पहुंचा, निःशक्त-सा पड़ गया। जिसने दूसरे को बचाने के लिए मंझदार पर अपने को छोड़कर वीतराग की शरण ले ली, उसे वीतराग के पुण्यों के प्रभाव ने नदी मोड़कर किनारा दे दिया। नदी मुड़ गई थी। मैं तीर पर आ गया था। वीतराग का पुण्य अक्षय होता है और लोक के लिए ही होता है। कब तक मैं पड़ा रहा, वह मुझे याद नहीं है अब। आंख खुलने पर मैंने देखा, मेरा साथी है या नहीं। तब पता चला कि जिसे मैं बचाने गया था, वही मुझे बचा लाया था। आत्मरक्षा के किसी अज्ञात क्षण में मैं उसी देह से चिपट गया था और उसने बहते हुए मुझे बचाया। वह तो शव था। अभी अधिक नहीं फूला था। अभी अति विकृत भी नहीं हुआ था।

इस स्थान पर चांदनी आ रही थी। मैं निःशक्त-सा पड़ा रहा। हवा की सायं-सायं बढ़ रही थी। कौन था यह जो मर गया?

निर्जन वन में शव को देखा। कितना डरावना था सब! शव के वस्त्र फट गए थे। प्रायः नंगा था वह। था कोई तरुण ही। मैंने सोचा और कहा : हाल ही में मरा है कोई यात्री। शायद नदी में प्राण बचाने को कूदा हो।

कितनी विभीषिका थी! चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मानो वन में डरती हुई घूम रही थी। और अचानक ही मेरी आंखें उस शव की जांघ पर पड़ीं। जांघ फट गई थी और उसमें कुछ चमक रहा था। मैंने कौतूहल से निकाला उसे। रक्त नहीं था। अब पानी था शव में। निकले बहुमूल्य रत्न, जिनपर चांदनी चमक उठी। कैसी तड़प थी उन रत्नों में! मैं देखता ही रह गया। एक आवेश-सा भर गया मुझमें। शव में से रत्न! निर्जन वन में रत्न। जहां वृक्षों पर यक्ष और पिशाच रह सकते हैं, वहां भी धन। मनुष्य के शरीर में भी रत्न! शायद कोई यात्री है जिसने दूसरों से बचाने को रत्न अपनी जांघ में सी लिए थे, तभी जब प्राणभय से पानी में कूदा, पीड़ा से तैर भी नहीं पाया और मर गया, और तब रत्नवाला घाव भी मेरी टकराहट से फट गया और निकल आया मेरे सामने उसके जीवन का चिरसंचित कोष! बहुमूल्य हैं ये रत्न! क्या यह अपने जीवनकाल में इन रत्नों को मुझे दे देता? लहू पी लेता मेरा! इन्हींको बचाने कूदा था यह जल में। अब, अब यह कहां है? ओ यात्री! देख, मैं बैठा हूं। देख, मैं बैठा हूं। देख, मैं डाकू हूं! तुझे बचाने गया था और अब तुझे लूट रहा हूं। रोक ले मुझे!

तब उस निर्जन कान्तार में मैं हंसा। पता नहीं मेरा हास्य विकराल था या नहीं, परन्तु पक्षी डर से चिल्ला-से उठे। मैंने फिर कहा : अब तू मुझे नहीं रोक सकता! मनुष्य के भीतर भी धन समा गया है। किन्तु यह उसका नहीं है। वह व्यर्थ ही उसके पीछे पागल हो उठा है। अपनी जांघ चीरकर सीते हुए भी इसे दर्द न हुआ! ऐसा है यह धन!

रत्नों पर चांदनी चमक रही थी। मैंने उन्हें वहीं पटक दिया और तब मैं रोने लगा। मैं चिल्लाने लगा, "पज्जे अम्मां! कहीं किसी दिन तेरा धन वत्स भी तो ऐसे ही नहीं मर जाएगा? क्या वह भी धन के लिए ऐसे ही तो पागल नहीं हो जाएगा? धन! धन ने संसार को पागल कर रखा है। पज्जे अम्मां! संसार का यात्री मनुष्य क्या कभी इस लोक की किसी संपदा को अपने साथ ले जा सकेगा? मैं इस धन से घृणा करता हूं। मैं इससे घृणा करता हूं।

फिर वही धन! मुझे उस शव से अत्यन्त स्नेह हो आया और मैंने उसे उठा-

कर फिर नदी में बहा दिया और पानी में उतरकर मैं अपने को सिर तक डुबा दिया यह मेरा स्नान था या मैं उस गर्मी को छोड़ना चाहता था। जब मैं तीर पर आया, मन ने कहा : धनकुमार ! धन ले ले !

मैं ले लूं ? शव का धन ! वही क्या कर गया इससे जो मैं लूं ?

"तुझे किसने दिया है यह धन !" किसीने कहा, "मूर्ख ! धन तो जीवन के लिए है। संकट तो है ही। ले ले।"

"नहीं, मुझे नहीं चाहिए।"

"अच्छा, किसीको दे दीजिए इसे !"

कौन बोला यह ? क्या तू मुझे धोखा देता है ? यह जो पड़ा था यहां ! वह यात्री !

वह तो तत्वों में मिल गया।

लेकिन मैं रोया था न ?

उसे किसने सुना ?

क्यों नहीं सुना ? काल साक्षी है। यह जो निर्जन के वृक्ष हैं, पक्षी हैं, यह सब क्या आत्मा नहीं रखते ?

तो क्या तू वनस्पति खाता नहीं ? अरे प्राणी से प्राणी जीवित रहता है।

पता नहीं कब नदी-तीर के सिवारों के पीछे चंदा डूब गया और कब उजाला छाया ? जब मेरी आंख खुली, मैंने देखा कि मैं नरकुलों के पास पड़ा था और पक्षी फुदक रहे थे। मैं उठ बैठा। तब देखा, मेरे सामने ही रत्न पड़े थे। अब देखा ! कितने बहुमूल्य रत्न थे वे !

धनकुमार ! तो क्या यह धन तेरे पास आया है ? हां। तो मैं ले लूं ? ले ले। यहां पड़े रहेंगे तो इनका लाभ ही क्या है ? हां सच ! पत्थर के टुकड़े हैं। पशु और पक्षी तो इन्हें छुएंगे भी नहीं। इसके बराबर उगे इस वन के पौधे के फल की जितनी कीमत है, क्या पक्षी के लिए इन रत्नों की भी है ? इस छोटे फूल पर तितली उड़कर आ बैठी है। वह एक बार भी तो इन रत्नों को नहीं छूती। तो क्या मनुष्य ही पत्थरों का प्रेमी है ? क्योंकि ऐसे पत्थर कम मिलते हैं। क्योंकि इन पत्थरों में, बदले में कुछ भी खरीद लेने की ताकत है। किन्तु क्या यह कभी निःस्वार्थ प्रेम भी खरीद सकेंगे ? नहीं। वह असम्भव है।

मुझे भूख लगने लगी। मैं कितना दयनीय हो गया ! कंद-मूल खोजने लगा।

उन बहुमूल्य रत्नों में से एक भी ऐसा नहीं था, जो मेरे जीवन का आधार बन पाता। और तब मैंने सोचा कि उन्हें छोड़ जाऊं। हाथ से उठाकर एक फेंका। नर्मदा की अतल धारा में सिर्फ एक कंकड़ी गिरने की सी आवाज़ आई।

फिर ध्यान आया। अब यहां से चलूं कैसे? वह सन्नाटा मुझे डराने लगा। जब तक मेरी आत्मा वृक्ष में नहीं बसती, तब तक ऐसे निर्जन में मैं नहीं रह सकता। सारे वन की सांय-सांय मुझे डराने लगी और मैं उठ खड़ा हुआ।

वह दुःख की कथा है कि मैं वहां से रत्न लेकर ही निकल आया, और विंध्या-टवी आ गई जब मैंने एक नाव पर नर्मदा को पार करके नई धरती पर पांव रखा।

सघन वन। विंध्या का मैं क्या वर्णन करूं! कहते हैं, हिमालय का भी सौंदर्य है, पर विंध्य का और ही है। वह छवि-वर्णना मुझे इस समय इतनी याद नहीं आती, जितनी यह कि मैं उस सौंदर्य से आतंकित हो गया था और मैंने सोचा था कि यहीं एक दिन नल-दमयन्ती की प्रेम-गाथा की वेदना का स्थल था। उस दिन क्या मनुष्य के हृदय में आज की ही सी कचोट नहीं उठती थी। तब मैंने सोचा था कि यह विंध्याचल क्या सदैव ही मनुष्य को इसी प्रकार अपने से डराता रहेगा! सौंदर्य में एक आतंक होता है यदि वह महान हो। विशालता की गरिमा सदैव ही मनुष्य की लघुता को जगाकर उसकी महत्त्वाकांक्षा को जगाती है। और याद आया कि यहीं एक दिन दण्ड ने अपनी सेनासहित पड़ाव डाला था, जब ब्राह्मणों से उसका युद्ध हुआ था। युद्ध और हत्या की न जाने कितनी कथाएं यहां बन चुकी हैं। यक्ष, गंधर्व, राक्षस, असुर, विद्याधर और न जाने कितनी जातियां यहां आईं और संसार से सदा के लिए लुप्त हो गईं। यह दुर्दमनीय गिरिमाला कब से पड़ी है यहां! यहीं से एक दिन अगस्त्य ने लोपामुद्रा के साथ उत्तर से दक्षिण की यात्रा की थी, जिसके बारे में अब तक प्रसिद्ध है कि उसने एक दिन इस उन्नत गिरि के मस्तक को भी झुका दिया था। क्या मनुष्य के साहस में इतना बल है? इतना महान है यह मनुष्य! और यही भूमि है, हां यहीं अनेक जंगली जातियां आईं और न जाने कहां-कहां फैल गईं। किरात और न जाने कौन-कौन? कभी कोई कवि होगा तो अवश्य इस वन के सौंदर्य का भी वर्णन करेगा। अवश्य ही राम ने भी लक्ष्मण के साथ सीता को लेकर इसे पार किया होगा और विद्याधर रावण और सुग्रीव से वे मिले हों। मैं कितनी प्राचीन भूमि पर चल रहा था! सामने से एक व्यक्ति आया।

वह एक शिकारी था। कमर में खाल बांधे था। सिर पर पंख लगे थे। कर्कश

मुखाकृति। रंग का काला।

मुझे देखा तो बोला, "यात्री! कौन हो?"

मैंने उत्तर दिया, "यात्री हूं।"

उस समय कमर में लगे वे बहुमूल्य रत्न कसमसा उठे और मुझसे जैसे बोल उठे—धनकुमार! तेरी कमर में हम बंधे हैं। इसे न भूल जाना।—मैंने अपने मन से कहा: याद है। और मौका पड़ा तो इन्हें फेंक भी दूं। इन पत्थरों के लिए जान तो नहीं दूंगा!

शिकारी मुझे अपने नगले में ले गया। वह किरात नहीं निकला, शबर था।

मेरे लिए उसने एक कम्बल डाल दिया। मैं बैठ गया। शायद उनके यहां कभी-कभी यात्री आते रहते थे।

एक वृद्ध पास आया। आंखों में उसके ढीढ़ थी। काला, मैला। देह से बदबू आ रही थी।

"ब्राह्मण हो?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"तो वैश्य होगे?"

"हां, वैश्य हूं।"

"यहां, यही दो हैं जो इधर-उधर यात्रा करते रहते हैं।"

एक युवती ने कहा, "अभी कुछ ही दिन हुए, एक ब्राह्मणों का दल दक्षिण गया था।"

बहुत-सी बातें हुईं। तब मैं उठकर उनके नगले को देखने लगा। घर वे दूर-दूर बनाते थे और बीच-बीच में उनकी बाड़ी होती थी। मैंने उनमें तरह-तरह के साग देखे। एक जगह एक घण्टा लटका था, और वह घण्टा लोहे का था। जब बजता था, तब उनके कुत्ते भौंकते थे, मुर्गियां भागती थीं। शबर वृद्धों ने बताया कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में रहते थे, फिर एक बार यहां विंध्याटवी में आ बसे थे। वे सब एक तूंबी से पैदा हुए थे। तूंबी फटी तो बीज निकले। तब शिव ने उन्हें शबर बना दिया।

"हम वनों में रहते हैं," वृद्ध ने कहा, "नगर में केवल पशुचर्म और ऐसी ही चीजें बेचते हैं। परन्तु तुम लोगों में बहुत पाप है। हम घास का दाना बीनकर रोटी बनाते हैं, फिर भी कभी चोरी नहीं करते। हमारे बाण न हों, तो तुम्हारे

डाकू हमें लूट खाएं।"

रात घिर आई। अन्धेरा हो गया। अग्नियां जलने लगीं। आदिम और प्राचीन भूमि में वे अग्नियां मुझे सांत्वना देने लगीं। वन में हिंस्र जन्तुओं की गर्जनाएं सुनाई देने लगीं। परन्तु किसीने भी मुझे लूटने की चिन्ता नहीं की।

"खाओ।" युवती ने मांस मेरे सामने रखा। मुर्गा था।

मैंने देखा। सोचा—ये लोग सार्थों को लूटते तो हैं। अब बनते हैं। हो सकता है वे और हों, ये नहीं हों। युवती की आंखें गड़ी थीं।

"नहीं," मैंने कहा, "मैं यह नहीं खाता। यह मांस है।"

वे हंसने लगे। तब एक ने घास के दाने की रोटी मेरे सामने रखी। भूख तेज थी। मैं उसे खाने लगा। सच! वह मुझे स्वादिष्ट लगी। मेरी मर्यादा कहां गई? वह पवित्रता किधर चली गई? पर सोचा—व्यापारी सब खाते हैं। सब जगह जाते हैं। वे तो म्लेच्छ भूमियों में भी जाते हैं।

परन्तु उस याद में अब है ही क्या? वह तो यात्रा थी। आपद्धर्म था वह! किन्तु जीवन क्या यात्रा नहीं है? तो क्या सारे जीवन हमें आपद्धर्म निभाना है? सच! और सत्य है क्या? जीव, जीव को खाए और अहिंसा की बात करे! क्यों खाते हैं भला? जीवित रहने के लिए ही तो! तो यह भी क्या आपद्धर्म नहीं है, जो आत्मा ग्रहण करती है, इस देह के लिए! शबरों के जीवन ने मुझे इसी सत्य का दूसरा पहलू भी दिखाया।

विन्ध्याटवी भी पार हो गई। वे विशाल वृक्ष, वे घास के मैदान, वे पर्वत, वे निर्झर, वे अन्य जन्तुओं के पांवों के निशान, हिरनों के झुंड, झाड़ियां, हरियालियां, दिन में अंधेरे पथ सब पार हो गए। जिसे जीवित रहना होता है, वह सब पार हो जाता है।

और एक दिन उज्जयिनी के ऊंचे सौधों के दर्शन होने लगे। उनके स्वर्णकलश और उड़ती पताकाएं मुझे अपनी ओर बुलाने लगीं। मैं मानो फिर सभ्यता में आ गया था। यह हर्ष मुझे गुदगुदाने लगा। यह प्राचीन नगरी अपनी समृद्धि से बहुत दूर-दूर से व्यापारियों को बुलाती थी।

मैं बढ़ चला। मन में अत्यन्त उत्साह था।

नगर के बाहर धनिकों के विशाल सुन्दर उपवन बने हुए थे, जिनमें आपानक भूमि भी थी। कहीं-कहीं चैत्य दिखाई देते थे। उनको अश्वत्थ वृक्षों की छाया ने

सुहावना बना दिया था। नगर में मदिरा की दूकानों पर सुन्दरियां बैठी गाहकों का मन मोह रही थीं। पुरपइठान इस उज्जयिनी का छोटा रूप था। उज्जयिनी विशाल थी। जिधर देखता था उधर ही सुन्दरता थी। मेरे वस्त्र साफ नहीं थे। रत्न बेचना सन्देह का काम था। मैंने अपनी सोने की अंगूठी बेच दी और जाकर सुन्दर वस्त्र खरीदकर पहने। जब मैं महाकाल के मन्दिर के पास पहुंचा, मैंने देखा —ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण कर रहे थे। वे शैव ब्राह्मण थे, जो बीच-बीच में वेदमंत्र भी बोलते जाते थे। पुरपइठान में अभी तक कर्मकांडी ब्राह्मण शिव मन्दिर में नहीं जाते थे, यद्यपि वे शिव को प्रणाम अवश्य करने लगे थे। उत्तर के ब्राह्मण दक्षिण के ब्राह्मणों से अधिक भले थे। शिव के नागभक्त भी इनके मित्र थे। बल्कि बहुत-से नाग भी ब्राह्मण हो चुके थे और वेद को उन्होंने भी वैसा ही अपना लिया था। वे भी अब अपने को आर्य कहते थे।

मैं भोजन के प्रबन्ध में लगा। अन्त में मैं जिन मतानुयायियों की धर्मशाला में पहुंच गया, जहां मैंने बहुत दिन बाद भरपेट भोजन किया। आगे के लिए मैंने दूसरे दिन सवेरे ही धर्मशाला से निकलकर अपने कर्णकुण्डल बेच दिए। स्वर्ण के उस आभूषण के मूल्य से मैंने बहुमूल्य वस्त्र पहने और तब मैंने सबसे छोटी मणि ले जाकर हाट में बेच दिया। उससे मुझे काफी सुवर्ण मिला। मैंने जाकर एक प्रतिष्ठित वैश्य के यहां उसे जमा किया और व्यापार में भाग पा लिया। यह पुरपठाइन का सा ही हुआ।

दुपहर हो गई थी। तब मैं नगर में घूमने निकला। वेश्याओं की विशाल अट्टालिकाओं के पास से निकलकर मैंने मुख्य पण्य देखा और तब पता चला कि आज पश्चिम के तालाब पर राजा परीक्षा लेनेवाला था। कौतूहल ने मुझे बढ़ाया।

तालाब के चारों ओर भीड़ थी। बहुत-से लोग वहां खड़े हुए थे। मैं भी जा पहुंचा। अपने बहुमूल्य वस्त्रों के कारण मुझे पीछे रहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मैंने आगे जाकर अपने लिए स्थान चुना जो सिंहासन से कुछ ही दूर पर था। मैं बैठ गया।

मैंने देखा कि तालाब गोल था। काफी बड़ा था। जल के बीचोबीच में एक स्तम्भ गड़ा था। वह काफी लम्बा था। उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के बारे में मैं सुन चुका था कि वे बड़े क्रोधी थे। उनके पास बहुत बड़ी सेना थी। परन्तु देखने का अवसर आज ही आया था। नगर के गण्यमान्य कालीन, और पराक्रमी

लोग प्रतीक्षा में उपस्थित थे। तभी एक फुसफुसाहट व्याप गई।

महाराज ! महाराज ! सुनकर मैं खड़ा हो गया। जय-जयकार के बीच एक पैंतीस वर्ष का भव्य व्यक्ति स्वर्ण रत्नजड़ित किरीट पहने आया और सिंहासन पर सिर उठाए बैठ गया। आते ही उसने इंगित किया। सेनापति ने सिर झुकाया और आज्ञा पाकर बोलने को खड़ा हुआ।

मैं देखता रहा। उसने कहा, "जो भी इस तालाब में उतरे बिना इस स्तम्भ को बांध देगा, उसे महाराज अपना प्रधान अमात्य बनाएंगे, ऐसी महापराक्रमी महाराज की आज्ञा है। आप लोगों में से जो कोई ऐसा कर देगा, वही इस गौरव को प्राप्त कर सकेगा।"

अब प्रयत्न होने लगे। मैं किसीको नहीं जानता था, यद्यपि बाद में जान गया था, परन्तु उस समय इतना ही समझ सका कि उन प्रयत्न करनेवालों में बहुत-से नगर के महामान्य व्यक्ति थे। दर्शकों में कुलीन और साधारण परिवारों की, सब ही तरह की स्त्रियां भी थीं, जिनके पतले हास्य भीड़ के हास्य से उस समय मिलकर गूंज उठते, जब कोई असफल होकर हट जाता।

जब कई लोग हट गए, तब सेनापति ने निराशा से देखा। प्रायः लोगों ने रस्सियां फेंककर स्तम्भ को बांधने का यत्न किया था।

अन्त में सब हट गए।

"कोई और !" सेनापति ने कोट्टपाल की ओर देखकर कहा। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। वह योद्धा था और समझ रहा था कि यह महाराज की मूर्खता-मात्र थी, ऐसा कार्य जो कभी भी पूरा नहीं हो सकता था।

मैं हंस पड़ा कि इतने बड़े नगर में किसीमें भी इस साधारण कार्य को कर दिखाने की बुद्धि नहीं थी। यह तो कोई बच्चा भी कर सकता था।

मेरे हास्य ने महाराज का ध्यान मेरी ओर केन्द्रित किया। उन्होंने सेनापति से कुछ इंगित किया। उसने अपने पास खड़े वृद्ध पुरोहित की ओर इशारा किया।

वृद्ध पुरोहित ने मुझे देखा और कहा, "युवक ! क्यों हंसा तू ?"

"आर्य ! हंसा इसलिए कि सारे नगर में इतने बुद्धिमानों के रहते कोई भी इस कार्य को नहीं कर सका।"

महाराज ने मुझे घूरकर देखा। फिर कहा, "युवक ! तुम विदेशी हो ?"

अब बहुत-से लोग मुझे देखने लगे।

मैंने विनत प्रणाम करके कहा, "हां देव !"

"तुम यह काम कर सकते हो ?"

"हां देव ! परन्तु मुझे सामग्री चाहिए।"

"क्या चाहते हो ? वही मांगो, और तुम्हें वही मिल जाएगा।" महाराज ने आज्ञा दी, "ऐसा ही करो !"

एक निगाह ने ही राजभृत्यों को मेरे पास भेज दिया। मैंने कहा, "मुझे रस्सी दो। बहुत लम्बी, बहुत लम्बी। और एक न हो तो कई ले आओ।"

उन्होंने महाराज की ओर देखा। उन्होंने इंगित किया, मानो जो कहे दे दो। वे ऐसे बैठे देखने लगे जैसे कोई गिद्ध अपने शिकार पर आकाश से ही आंखें गड़ाए हवा में तुल गया हो। नागरिक एक विदेशी का चातुर्य देखने को व्याकुल हो गए थे।

मैंने हटकर एक पेड़ से रस्सी बांध दी। एक ओर का ठहाका लगा। लोग चिल्लाए, "पेड़ नहीं, ताल का स्तम्भ !"

सब हंस पड़े, किन्तु महाराज नहीं हंसे। वे स्तब्ध ही बैठे रहे। उनकी आंखों में कौतूहल छा गया था। मैं चलने लगा। मैंने तालाब का एक चक्कर लगाया और रस्सी खींच ली, फिर दूसरा चक्कर लगाया और इस तरह स्तम्भ को बांध दिया।

उस समय घोर कोलाहल मचने लगा। कोई कहने लगा, "यह तो हम भी कर सकते थे।" कोई कहता, "यह भी कोई बात हुई !" कोई कह उठता था, "यह तो बड़ा सरल था।" बहुतों को बड़ी झेंप लग रही थी। धीरे-धीरे चखचख बढ़ने लगी।

उनको चिढ़ते देख महाराजा ने कहा, "तुमसे केवल यही कहा गया था कि बिना ताल में उतरे स्तम्भ बांध दो। तुम नहीं बांध सके। इस युवक ने बांध दिया ! तुमसे हमने यह नहीं कहा कि किस तरह बांधो। चाहे जैसे बांध सकते थे। तुम्हें यही काम करने से हमने कब रोका था ?" वे उठ खड़े हुए और मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे साथ आओ !" मैं संग चल पड़ा।

महाराज जब सुवर्ण-मंडित रथ पर चढ़े, तो मुझे उन्होंने अपने साथ ही चढ़ा लिया। क्षण-भर पहले मैं महानगर में अपरिचित था और अब ? महानगर मुझे देख रहा था !!

देखा था वैभव मैंने, परन्तु महासेन चण्डप्रद्योत का वैभव मैंने देखा जब उनके प्रासाद में प्रवेश किया। ग्यारह द्वारों में होकर मैं भीतर पहुंचा। परन्तु वैभव की कथा मैं याद नहीं करना चाहता।

महाराज सिंहासन पर बैठ गए। मुझे एक चौकी पर बिठाकर कहा, "युवक, तुम्हारा कुलगोत्र? नाम?"

"मैं पुरपइठान के श्रेष्ठि धनसार का कनिष्ठ पुत्र हूं—धनकुमार। किन्तु मेरा परिचय गुप्त रहे यही प्रार्थना है, क्योंकि मैं पारिवारिक कलह के कारण ही घर छोड़कर आया हूं।"

महाराज मेरी ओर देखते रहे, फिर कहा, "कुमार हो?"

"हां देव!"

"तुम्हारा परिचय गुप्त ही रहेगा कुमार!" सहसा महाराज ने स्वर बदलकर कहा, "तुम जानते हो, मैंने यह परीक्षा क्यों ली?"

मैंने कहा, "अल्प है मेरा ज्ञान देव! किन्तु ताल और स्तम्भ-बन्धन की बात से इतना समझ सका हूं कि प्रधान अमात्य का पद अभी योग्य व्यक्ति से नहीं भरा। केन्द्रीय शक्ति का जो स्तम्भ आपने खड़ा किया है, अभी उसके चारों ओर का राज्य दृढ़ व्यवस्था में नहीं है। उसे चारों तरफ से ऐसा बांधना है कि वह समस्त का केन्द्र हो जाए, किन्तु राज्य में परिवर्तन को कोई लक्ष्य भी नहीं कर पाए।"

"श्रेष्ठिपुत्र!" महाराज ने प्रसन्न होकर सिंहासन के हत्थे पर हाथ मारकर कहा, "अद्भुत चातुर्य है तुममें! तुमने तो मेरे मन की सारी बातें जान लीं। निश्चय ही तुम प्रधान अमात्य-पद के योग्य हो। किन्तु तुम्हारी स्वामिभक्ति का प्रमाण क्या होगा?"

"देव!" मैंने कहा, "वह नमक, जो आप देंगे, मैं खाऊंगा।"

राजकुमारी वासवदत्ता, तीन वर्ष की बालिका, उसी समय अपनी धात्रेयिकाओं के साथ आई। महाराज ने उसे गोद में लेकर चूम लिया और फिर शीघ्र ही धात्रेयिकाओं के साथ विदा कर दिया। फिर मेरी ओर देखकर बोले, "धनकुमार! मेरे पास बहुत सेना है, परन्तु अभी उसका प्रयोग नहीं हुआ है। जानते हो, सेना का व्यय कहां से आता है? प्रजा से! प्रजा की सहिष्णुता प्रसिद्ध है। किन्तु भार किसी सीमा के भीतर रहना चाहिए। वत्स का शतानीक, मगध का श्रेणिक बिम्बसार और कोसल का प्रसेनजित सब चौकस हैं। वज्जि, मल्ल, विदेह,

यौधेय, शाक्य सब तैयार रहते हैं। इस सेना का प्रयोग अब किधर हो। मैंने आत्म-रक्षा के लिए जिसे खड़ा किया था, उसको काम भी तो चाहिए? कर कौन देगा इतना?"

मैंने सुना और महाराज की ओर देखा। वे उत्सुक हो रहे थे। मेरा नया जीवन प्रारम्भ हुआ और कितना अकस्मात्! मैंने कहा, "महाराज! कर श्रेष्ठि देंगे!"

उन्हें विश्वास नहीं हुआ।

"तुम श्रेष्ठि होकर अपनी ही जाति पर कैसे भार डालने की कहते हो, धन-कुमार! विश्वसनीय बात करो। ऐसा न हो कि मुझे तुम्हारी बातों में छल की गन्ध आने लगे।"

दासी गन्ध जला गई।

मैंने कहा, "महाराज! अपनी जाति का हित सोचना धर्म है, तभी तो मैंने ऐसा कहा। राज्य-व्यवस्था यदि अपनी ओर हो तो इससे अधिक सुविधा क्या होगी!"

"वह कैसे?" वे समझे नहीं।

"महाराज! श्रेष्ठियों पर कर बढ़ाने से वे विरोध करेंगे। किन्तु तब, यदि उन्हें हानि होगी। और लाभ होगा तो! वैश्य को लाभ होगा तो वह क्या नहीं करेगा! आपके पास विशाल सेना है। उसे निरन्तर युद्ध करने का अभ्यास भी चाहिए, ताकि वह आलसी न हो जाए। स्तम्भ बनकर बीच में बैठिए। सेना को रस्सी की भांति राज्य के चारों ओर फैला दीजिए। जब चाहे पास खींच सकते हैं, क्योंकि सब ओर से वह पास रहेगी। और सेना का कार्य होगा वनप्रान्त की रक्षा, जहां डाकू घूमते हैं। इससे श्रेष्ठि सार्थों को लूट का भय नहीं रहेगा। आप अनुकरणीय यशस्वी कहलाएंगे और श्रेष्ठि इसके लिए आपको सहर्ष कर देंगे। सार्थों से उपहारस्वरूप जो रिश्वत सैनिक ले लेंगे वह अलग। उससे आपको क्या! श्रेष्ठि उन्हें भी प्रसन्न रखेंगे और तब आपकी सेना को यह कार्य और भी प्रिय लगेगा। प्रमुख श्रेष्ठियों के भृत्यों को जाकर देखभाल करने का अधिकार दें कि वे सेना के बारे में आपको जांच करके खबर दें। इससे सैनिकों को भी भय बना रहेगा और श्रेष्ठियों को भी बड़ा आश्वासन रहेगा कि राजा अपने हैं; हमें शासन में भी मिला रखा है। और महाराज! ब्राह्मणों को चौकियों पर प्रधान

बना दें, ताकि वे दोनों पर आंख रखें, श्रेष्ठियों पर भी और वैश्यों पर भी। ब्राह्मणों को तीर्थयात्रा की सुविधा होगी तो वे बहुत गुणगान करेंगे। और रहे शूद्र! सो श्रेणियां हैं ही। सेना में अन्त्यजों को छोड़कर सबको भर्ती होने का अधिकार दे दें। अब कहें देव कि यह उचित ही होगा या नहीं!"

और मैंने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। महाराज अवाक्-से सुनते रहे। मैंने फिर कहा, "और देव! वनभूमि की पूरी देखभाल से आपका राज्य सदैव सुरक्षित रहेगा। आपको सब पड़ोसी राज्यों की खबर रहेगी। वन में से सड़कें बनाते ही आपका मार्ग साफ हो जाएगा। विदेशी यात्री सहज ही आएंगे और उन सड़कों की रक्षा के नाते वन में आपके दुर्ग जगह-जगह खड़े हो जाएंगे!"

महाराज हर्ष से उछल पड़े। पात्र में मदिरा ढालकर पीते हुए बोले, "अरे श्रेष्ठि-पुत्र! तुम तो विचक्षण हो। इस तरह दुर्ग बन जाएंगे तो पड़ोसी राज्य मेरे हाथ में आते दिन ही कितने लगेंगे! सार्थों के रूप में मेरी सेना घुस जाएगी!"

मैंने जो कहा वह बूल हो गया। क्षत्रिय की तृष्णा जाग उठी। परन्तु वह उसका धर्म था। और उसमें उचित बात थी। मैंने कहा, "महाराज! राज्य भी अपने होंगे, परन्तु अभी नहीं। स्वयं ही अन्य राज्यों के श्रेष्ठि चाहेंगे कि अवंति जैसी शांति सर्वत्र हो और तब एक राज्य बनेगा, हिमालय से समुद्र तक, स्वर्ण-भूमि से पारसीक देश तक। चक्रवर्ती सम्राट होंगे आप!"

शीघ्र ही मैं जनप्रिय हो गया, क्योंकि महाराज मुझपर मोहित हो गए। मेरा शब्द राज्य में सर्वोपरि हो गया। एक महीने में मैंने कर बढ़ा दिया। तीन महीनों में सेना फैल गई। साल-भर में वनभूमि में दुर्ग खड़े हो गए। प्रजा को एकदम इतना काम मिला कि समृद्धि बढ़ी और अवन्ति का यश दूर-दूर तक फैल गया। तब मैं प्रासाद में गया।

महाराज ने कहा, "बैठो अमात्य! पहला स्वप्न तो पूरा हो गया।"

मैंने बैठकर कहा, "देव! अब दूसरा स्वप्न प्रारम्भ होगा। जैसा मैंने कहा था, वही हुआ है।"

महाराज ने गद्गद होकर कहा, "अमात्य! तुम इतने योग्य होगे, इसकी मुझे आशा नहीं थी। क्या करूं, मेरे कुल में इस समय कोई कन्या नहीं है, अन्यथा तुमसे सम्बन्ध जोड़कर तुम्हें सदा के लिए अपना बना लेता!"

"तो क्या अब मैं नहीं हूं आपका देव!"

"मगध की नीति सदैव ही यह रही है।" महाराज ने कहा, "सम्बन्ध और बात है। परन्तु तुम्हारे लिए सम्बन्ध क्या है? कुछ नहीं। जिस दिन तुम्हारा मन उचटेगा, चले जाओगे। पिता को छोड़ आए। कोसल का प्रसेनजित है न? सम्बन्धों के लिए सदैव आतुर रहता है। उसका भी मगध से इसी वर्ष सम्बन्ध हो गया है। पर तुम्हारा क्या ठीक है! अविवाहित मनुष्य का क्या है? है, नहीं है। मन नहीं रमता उसका। तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते? अब क्या आयु है तुम्हारी?"

"देव! पचीस वर्ष हो गए, छब्बीसवां है।"

"वह मूर्ख! अम्बपाली के पीछे," महाराज ने कहा, "अभी तक डोल रहा है, बुढ़िया हो गई! जानते हो कौन? बिंबसार! वैशाली से सम्बन्ध जोड़ने नगर-वधू से टकराया था।" महाराज हंसे और कहा, "हां तो! फिर क्या सोचते हो? नगर के अनेक श्रेष्ठि मेरे पास आते हैं। सारा नगर तुम्हारे कौमार्य पर आंखें गड़ाए बैठा है। बड़भागी हो। कुमारियां सांसें भरती हैं। सच!!" महासेन हंसे, फिर मदिरा का चषक भरकर पीते हुए कहा, "अब काम-पूजा का समय आनेवाला है। अशोक दोहद के समय। क्या कहते हो? समझ में नहीं आता कि जो खाते हो उसका तुम्हारे शरीर में होता क्या है?" वे फिर हंसे और तब मुझे उनकी अन्तः-पुर की असंख्य रमणियां याद हो आईं।

मैंने इस विचार को पसन्द नहीं किया, परन्तु बोला नहीं। क्या यही मेरे जीवन का अन्त था!

जब मैं चिन्तित-सा दीख पड़ने लगा, महाराज ने कहा, "कुमार! स्त्री से डरो नहीं। कहीं, मुझे लगता है, तुम संन्यासी न हो जाओ!"

पता नहीं मुझमें उन्होंने ऐसा क्या देखा जो उन्हें मैं विरक्त जैसा दिखाई दिया। शायद इससे कि अकेला था।

बाहर विदूषक एक कूबर से मजाक कर रहा था और एक नपुंसक उन्हें नखरे दिखाता स्त्री बनकर बातें कर रहा था। ये अन्तःपुर के लोग थे, जो राजा और राजवंश की स्त्रियों को हंसाने के लिए रखे जाते थे। मानवों में यही विचित्र पशु थे, जैसे पहाड़ी तोते होते हैं, जो आदमी की बोली की नकल करते हैं।

महाराज से आज्ञा लेकर मैं रथ पर आ बैठा और सारथी ने रथ हांक दिया। अवन्ति राज्य में ऐसी समृद्धि आई थी कि मुझे लोग याद करते तो सम्मान से बोलते थे।

मैं अपने सतखंडे प्रासाद में पांचवें खंड के सीप-जड़ी भीतोंवाले प्रकोष्ठ में बैठकर वातायन से बाहर देखने लगा। अभी वीणा बजाकर रख दी थी।

शिप्रा के जल पर उस समय छोटी-छोटी नौकाएं चल रही थीं। सब कुछ शांत था। यहीं मेरी पुस्तकें थीं। कुछ पुराण थे, कुछ काव्य। नाटक मुझे प्रिय थे। राज्य के गुप्त संवाद मैं घर पर नहीं रखता था। मेरा घर देखकर कोई नहीं कह सकता था कि मैं अमात्य था। थोड़े-से सैनिक अवश्य मेरे अपने थे। वे भी राज्य के वेतनभोगी नहीं थे। मैं सब कुछ के भीतर रहकर भी सबसे अलग था। सब काम अपने-आप ही सुव्यवस्था में बंध गया था।

उस दिन मैं घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मेरी आदत थी इस तरह नगर के बाहर अकेले घूमने की। जिसे भी शिकायत होती थी, मुझसे राह में कहता था। मैंने प्रजा को कभी आतंकित नहीं किया। काम तुरन्त कर देता था, जिससे लोग मेरी जय-जय कहते थे। तभी मेरी दृष्टि एक ओर अटक गई।

देखा कि कुछ लोग झुके-से, मैले-से चले आ रहे थे, जैसे बहुत बड़ी विपत्ति उनपर आ गई थी। मुझे आश्चर्य हुआ। अवन्ति राज्य में इतना दारिद्रय कहां था? सुनता था, गणराज्यों में दासों की हालत खराब थी। मगध भी समृद्ध नहीं था। परन्तु अवन्ति मेरे हाथ में था। मैं जानता था कि जिस दिन क्षत्रियों पर से अंकुश हटेगा, उस दिन यहां भी दारिद्रय कम नहीं दीखेगा। मैं उनके पास चला गया।

उफ! वह कैसा क्षण था!

लगा कि आकाश टूट रहा था, धरती फटी जा रही थी। काल का चक्र मैंने घूमते देखा। भाग्य के विकराल अट्टहास ने मानो मेरे कानों को विदीर्ण कर दिया। क्या यह सच था? क्या मेरी आंखें सचमुच वही देख रही थीं, जो मुझे दिखाई दे रहा था!

पिता! स्वयं मेरे पिता! श्रेष्ठि धनसार आज चिथड़ों में ढके थे। माता! मेरी माता आज भिखारिन बनी खड़ी थीं मेरे ही सामने।

बड़े भैया धनदत्त इस समय पीठ पर बोझा उठाए हुए थे। मंझले भैया धनदेव के गाल बैठ गए थे। मैल उनपर जम गया था और उनकी वह दृष्टि इस समय दयनीय हो गई थी। उनके पीछे छोटे भैया धनचन्द्राधिप बिस्तर सिर पर धरे खड़े थे। देह पर वस्त्र नहीं, घुटनों तक का एक गन्दा कपड़ा। दाढ़ी बढ़ी हुई।

और यह थी नतांगी भाभी सुभामा। सूनी कलाइयां। कनपटी पर एक घाव का निशान। मुश्किल से बचाए थीं अपनी लज्जा। धूल से भरा हुआ था इस समय भाभी सुमुखी का सिर। वे केश जो अगरुधूम पर सूखते थे, सोने की जाली पर फैलकर, वे कड़े पड़ गए थे। उनमें कुगांठें दीखती थीं। और भाभी अलका की सुकुमार देह इस समय विषण्ण-सी थी।

सब थे पर पज्जा अम्मां न थी; तो क्या वह नहीं रही? यह इनकी ऐसी हालत कैसे हुई? करोड़ों की वह संपदा कहां गई? भाग्य! विभीषण! सब गया? कौन ले गया? कहां गया सब? कैसा है वह संचय यदि भाग्य में नहीं है कुछ? मेरे रोम-रोम में एक आर्त वह्नि-सी सुलग उठी। पीड़ा की मर्मान्तिक वेदना से मेरा कलेजा मुंह को आने लगा।

मैं घोड़े से उतर पड़ा और उनके सामने जा खड़ा हुआ। मेरे सिर पर रत्न-जटित उष्णीश, देह पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, रत्नजटित आभूषण कि आंखें न ठहर सकें, रत्नजटित मूठ का खड्ग कटि में! और वे! भिखारी! कंगले!

मुझे देख वे रुक गए। वे मुझे नहीं पहचान सके। पिता ने देखा कि एक राज्य का उच्च कर्मचारी सामने था। विनम्र हो गए। कोई नहीं बोला, वे जैसे आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। अवाक् होकर! मैंने पिता के चरणों पर झुककर कहा, "आपकी यह अवस्था!"

पिता की आंखों में आंसू भर आए। मुझे पहचान नहीं पाए थे। वे आश्चर्य से देखने लगे और तब उन्होंने शून्य की ओर देखकर कहा, "यही मनुष्य का खेल है श्रीमान्! आता है चला जाता है।"

"पिता!" मैं चिल्ला उठा। उस स्वर को सुनकर वे पुकार उठे। पिता ने मुझे कंठ से लगा लिया और तब वे सब रोने लगे।

यह क्या भाग्य नहीं था! जो मर गया था वह जीवित था। जिनके पास था वे नंगे थे और सच यह सब कितना विचित्र था! मुझे देखकर तीनों भाई भी रोए। मां का तो कहना ही क्या। भाभियां ऐसी हर्षित हो गईं, जैसे पागल हो गई थीं। केवल पिता ही शीघ्र स्वस्थ हो गए और मेरी ओर देखकर मुस्कराकर बोले, "पुत्र! तू सदा ऐसे ही रह!"

तब मां ने कहा, "एक तू पुत्र हुआ, यही मेरे स्त्री-जीवन की सार्थकता हुई। तुझे ऐसा देखा, अब कोई और इच्छा नहीं रही।"

मैंने कहा, "पिता ! मेरे लिए आशीष दो अब ।"

"अब ! कुछ नहीं," मां ने कहा, "तब तक तेरे पिता ने गृह चलाया। अब मैं चलाती हूं। जानता है न ? दुःख मे पुरुष शासन नहीं कर सकता। स्त्री कर सकती है, क्योंकि वह सहिष्णु होती है। यह सब मेरे कारण ही तो एक दूसरे मिले हुए हैं।"

मैं नहीं समझ सका। कहा, "मां ! मैं अब यहां प्रधान अमात्य हूं। किसी बात की कमी नहीं है। मेरे रहते तुम किसी बात की चिन्ता न करो। मेरे साथ चलो।"

भाभी सुभामा ने कहा, "देवर ! जिसके लिए जितना है उतना ही रहने दो। दुःख में बुद्धि आती है न ? कर्म जैसे होंगे, वैसा ही फल होगा।"

"ठीक बात है।" धनदत्त ने भी कहा।

अलका भाभी ने कहा, "पिता और माता को ले जाओ देवर ! उनकी सेवा करो। उनका तुमपर अधिकार है। हमारा क्या है ? कौन-सा सुख दिया था तुम्हें जो अब मांगें !"

मैंने कहा, "भाभी ! यही मानती हो कि हम एक-दूसरे को देते हैं। भाभी ! हम तो एक-दूसरे ऋण चुकाते हैं, क्योंकि काल एक व्यापारी है, जो सूद दर सूद मूल में जोड़ता जाता है।"

धनचन्द्राधिप के होंठ कांपने लगे और तब वह रो पड़ा। मैंने कहा, "रोते क्यों हो भैया ?"

"मुझे क्षमा कर दे धनकुमार, मुझे क्षमा कर दे ! मैंने पाप किया है ! मैंने पाप किया है ! यह जीवन व्यर्थ है, जिसमें मैंने पिता और माता की घृणा को पाया है। मेरे भी तो ऐसे ही कर्म थे। तू चला आया धनकुमार ! हम सब पागल हो गए। पिता ने सबसे उदासीनता ग्रहण कर ली। मां हमें देखती तक नहीं थीं। हमारी अवस्था कैसी हो गई धनकुमार···"

मैंने काटकर कहा, "मुझे मत सुनाओ भैया !" मैंने आंखें पोंछी फिर कहा, "जो गया, वह चला गया। काल कभी लौटता नहीं। अब आगे की बात करो। मैं अभी घर जाता हूं और अपने विश्वस्त सेवकों को भेजता हूं। वे वस्त्राभूषण लाएंगे। उन्हें धारण करके वैभव के साथ मेरे घर आना। तुम सबको मेरी शपथ है। पिता ! माता ! भाभियो ! भाइयो ! सब ! आना होगा ! न आओगे तो मैं

प्राण दे दूंगा। हंसी नहीं करता।"

मैंने आंखें पोंछीं और वे भी आंसू पोंछ उठे। उनकी दृष्टि में कितना स्नेह था। मैंने कहा, "भाग्य के हाथों बिगड़ते-बनते रहने में क्या कोई अपमान है? स्नेह चाहिए। हम मनुष्य उसीके बल जीवित रहते हैं। पिता से मैंने जीवन के चार सत्य सीखे हैं। मनुष्य का वे ही संबल हैं—देना सीखना, स्नेह करना, अपने को मिटाने के लिए तैयार रहना और निरन्तर साधना के लिए कटिबद्ध रहना। यह सब जो कुछ है, सब हमारा नहीं है। धन, वैभव, अधिकार—सब स्वार्थ की भूमिकाएं हैं। सब छलना है।"

पिता ने कहा, "पुत्र! तू मेरे जीवन की साधना है। तू ही मेरे स्नेह का सत्य है। अब मैं कुछ नहीं कहूंगा। जो तू कहेगा वही होगा।"

मां ने काटा, "नहीं, निर्णय मैं दूंगी।"

भाभियां हंस पड़ीं।

धनदेव ने कहा, "तो मां ही कहे।"

मां ने कहा, "जिसे एक दिन इतनी निष्ठुरता से निकल जाने को बाध्य किया था, उसका प्रायश्चित्त तो हुआ ही नहीं।"

"छिः मां!" मैंने कहा, "यह और क्या है? जानती है न? न्याय अपने-आप चलता है!" और तब मैंने बात बदलने को पूछा, "और पज्जा अम्मां कहां है?"

मां ने आंखें पोंछकर कहा, "बेचारी नहीं रही।"

मैं क्या कहूं कि मैं वहीं पथ पर ऊखरू बैठकर घुटनों पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगा। उस समय मुझे यह भी ध्यान नहीं रहा कि कोई देखेगा तो क्या कहेगा। मैंने अपनी कटि में हाथ डाला और उन्हीं बहुमूल्य, शव में प्राप्त रत्नों को निकालकर सामने पटककर मैं चिल्ला उठा, "पज्जा अम्मां! अब इन्हें कौन देखेगा! अब इनका इतिहास कौन सुनेगा!"

उन रत्नों पर जब सूर्य की किरणें चमकीं, तो वे सब चौंधिया गए। पिता ने आकाश की ओर देखा और तब मेरी ओर। भाभी सुमुखी ने मुझे उठाया और अपने आंचल से मेरे आंसू पोंछकर कहा, "देवर! धैर्य रखो। धैर्य रखो।"

भाभी अलका ने रत्न बटोरकर मुझे दिए। मैंने कहा, "यह मेरी भेंट है भाभी! तुम तीनों को एक-एक!"

और मैं घोड़े पर सवार हो गया। दूर कुछ लोग आ रहे थे। मैं संभल गया। कहा, "पिता! यहीं वृक्ष के नीचे ठहरें। मैं सेवक भेजता हूं।"

मैंने घोड़ा मोड़ा और घर की ओर दौड़ा दिया। उस समय मैं बहुत तेज़ी से जा रहा था। शायद पथ में जिन्होंने देखा, उन्होंने आश्चर्य भी किया होगा।

घर आकर मैंने बहलदास से कहा, "बहल!"

एकान्त में मैंने अपने उस विश्वस्त भृत्य को सब कुछ समझाकर कहा, "गौरव के अनुकूल करना सब।"

कुछ ही देर में वह सारथि बाहुक के साथ रथों को लेकर चला गया। प्रासाद से कंचुक आया। महाराज ने बुलवाया था। मैंने कहा, "कंचुक! आर्य! अभी संवाद आया है कि मेरे माता, पिता, भाई और भाभियां आ रहे हैं। इस समय मेरा उनके स्वागत के लिए ठहरे रहना आवश्यक है। फिर भी यदि महाराज की आज्ञा हो, तो अभी उपस्थित होऊं। आप यह पूछकर मुझे सूचित करने का कष्ट करें। यदि मुझे जाना पड़े तो आप यहां मेरी जगह ठहरें।" संध्या हो गई थी। दासी चपला ने दीप जला दिया। मैंने देखा—बाहर रथ रुके। माता-पिता, भाई-भाभियां उतरे। वे आभूषणों और रेशमी वस्त्रों में कितने भव्य लगते थे! मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। तभी कंचुक आए और बोले, "स्वागत! मुझे महाराज ने स्वयं भेजा है।"

वे भीतर आ गए, तब कंचुक ने ताली बजाई। दास-दासियों ने वस्त्रों, रत्नों, आभूषणों, मिष्ठान्नों, फलों, गंध और मालाओं के थाल रखकर उघार दिए। वह प्रासाद की ओर से स्वागत था।

यह देख भाभी सुभामा ने कंचुक से कहा, "आर्य! हमारा प्रणाम विनत महाराज से निवेदन करें। कहें, हम दीन वैश्य हैं। महाराज के सामने क्या आएं। उतना साहस हममें कहां? इस योग्य भी नहीं।" और मैं समझा कि अब जीवन क्या होगा, क्योंकि भाभी ने वही बहुमूल्य रत्न निकाला, जिसे देख सुमुखी और अलका ने भी अपने रत्न निकाल लिए। और एक रत्नजटित सुवर्णथाल उठाकर उन्होंने उसमें तीनों रत्न रखकर कहा, "आर्य! यह तुच्छ भेंट महाराज के श्री-चरणों में हमारी ओर से समर्पित करें।"

"किन्तु वह मेरी भूल है भाभी!" मैंने कहा, "कल सब प्रासाद चलेंगे। यह मैं तुमसे अभी कह नहीं पाया। जो हो! आर्य जानें। भाभी जानें।"

में आया और चला गया। क्या मैं एक माध्यम-भर था ? क्यों आया मैं और क्यों चला जाऊंगा ? परन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है। मनुष्य कर्मफल को नहीं छोड़ सकता।"

मैंने कहा, "इस समय तनिक आज्ञा दीजिए। मैं महाराज की सेवा में जा रहा हूं। उन्होंने बुलाया है।"

"अवश्य जा पुत्र ! तेरा कल्याण हो !"

मैं चला आया।

जब मैं राजप्रासाद में पहुंचा, मेरा और भी अधिक सत्कार हुआ। मानियों के रत्नों ने महाराज को द्वार पर खड़ा दिखाया।

यों कई दिन बीत गए। मेरा सम्बन्ध अब महाराज से और भी अधिक हो गया। मेरे परिवार के वैभव की कथा जानकर तो बस वे प्रसन्न ही हो गए। प्रमाण थे रत्न। मैंने मानियों को फिर एक-एक रत्न दे दिया था, जो वे सोने में जड़वाकर गले में डाले थीं।

इन्हीं दिनों पता चला कि महाराज श्रेणिक बिंबसार का अम्बपाली से मिलना-जुलना बन्द हो गया था, परन्तु अम्बपाली से उत्पन्न उनका पुत्र अभयकुमार उनका प्रिय था। अम्बपाली और बिंबसार का सम्बन्ध ही वज्जियों और मागधों का सम्बन्ध था। अम्बपाली को नगरवधू बनाया था गण क्षत्रियों की लालसा ने। और गण क्षत्रिय ऐसे कट्टर थे कि हज़ार बुराई होने पर भी अपनी व्यवस्था, अपने द्वारा प्रतिपालित दासत्व, असाम्य, दमन और हिंसा को स्वर्गतुलनीय मानते थे। गर्व तो उनमें ऐसा था कि पूछो ही नहीं। मैं महाराज से मिलता तो देखता कि वे न जाने क्यों चंचल हो रहे थे। वे एक बार अब मगध से लड़ना चाहते थे। महाराज का क्रोध चण्ड था, तभी तो प्रद्योत के साथ उन्होंने अपना विक्रम दिखाने को स्वयं चण्ड जोड़ लिया था। मुझसे उनका व्यवहार बहुत मीठा था। वे कभी-कभी प्रासाद की छत से झुककर हाथियों की लड़ाई देखते, कभी सिंहों की। एक बार एक गेंडा और काला शेर लड़ाया। एक बार रीछों का युद्ध देखा। इनमें उनका क्षत्रियत्व जाग्रत् रहता था। मांस खाने की रुचि अद्भुत थी। प्रायः प्रत्येक देश का एक मांस पकानेवाला रसोइया उन्होंने रख छोड़ा था, जिनमें एक पारसीक तक था।

समय बीतता रहा। मेरे मन का साथी था केवल संगीत; और सब होकर भी नहीं था।

पिता, माता, भाई, भाभियों की मैं जहां तक होता स्वयं देखभाल करता। रात के समय हम मिल-बैठकर मौका पाते तो खूब बातें भी करते। एक रात थी वह। पिता से मैंने कहा, "किन्तु अब ऐसी क्या परेशानी है जो आप संसार-त्याग करना चाहते हैं ?"

"तुम ठीक कहते हो," पिता ने कहा, "परन्तु मैंने यह वैराग्य तुमसे ही सीखा है।"

"सो कैसे ?" मैंने विस्मय से पूछा।

"तुमने यही नहीं पूछा कि हमारी अवस्था कैसे बिगड़ गई थी !"

मैंने कहा, "आर्य ! उससे आपको कहीं कष्ट न पहुंचे, यही सोचकर चुप था। कहीं जानने पर भाई सोचते कि वह सब पूछकर हमें चिढ़ा रहा है।"

पिता मुस्कराए। कहा, "पुत्र ! तू बहुत चतुर हो गया है।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा, "यह प्रसाद भी श्रीचरणों का ही है !"

"पुत्र," पिता ने कहा, 'तेरे आने के पहले महाराज ने तेजुत्तरी रेत का सोना बनवा लिया और प्रसन्न थे। परन्तु जिस रात तू चला आया, ठीक सवेरे ही उन्हें तेरी कोई आवश्यकता पड़ी। वहां तू था नहीं। एकदम क्रुद्ध हो उठा। राजा भला किसका मित्र ! चाटुकारों ने लगा-लगूकर भड़का दिया। नगर-भर में प्रसिद्ध हो गया कि उसे भाइयों ने मार डालना चाहा था, तभी वह भाग गया। यह पज्जा की आकस्मिक मृत्यु ने पक्का कर डाला। राजा ने बुलाकर इन तीनों को खूब डांटा। ये मूर्ख प्रसन्न थे ही। हालत यह हुई कि मैंने सबसे मिलना-जुलना बन्द कर दिया। तेरी मां मेरे पास आ गई। केवल वधू थीं, जो उन्हें समझाने की चेष्टा करतीं। इन तीनों ने एक दूकान खोली। मेरा सारा रुपया लगा डाला। परन्तु खर्च आय से बढ़कर रहने लगा। नौकर छा गए। और उसी समय रानी के आभूषण चोरी गए। दासियों ने लाकर इन्हें सस्ते-मंदे बेचे। मूर्खों ने खरीद लिए। सुभामा ने बहुत समझाया कि इतने सस्ते मिलने का कारण यही हो सकता है कि ये चोरी के हैं। पर कौन मानता था वहां ? ले ही लिए और वधू बिचारी चुप हो गई। दासियां पकड़ी गईं एक दिन। राजा की चोरी क्या छिपती है ? नाम ले दिया उन्होंने और तीनों पकड़े गए। सारा नगर विरुद्ध था ही। राजकुमार अरिमर्दन ने तुरन्त मेरी सारी सम्पत्ति को राजकोष में डाल दिया। बस, अब बचा वह धन जो तूने भाभियों को दिया था। कहा : स्त्रीधन है।—तब छूटे। उस दारिद्रय में वहीं

स्वजनों के बीच रहना असम्भव हो गया। हम लोग रात को पुरपइठान से बचा माल लेकर भाग निकले। परन्तु देव को यह कब स्वीकृत था! चोरों ने हमें वन में नंगा कर दिया और तब हम मजूरी करते, पेट पालते हुए चल पड़े। उसी अवस्था में तूने हमें देखा था वह तो तू जानता ही है।"

मैं सोचने लगा कि यह सब क्यों हुआ? देव के ही तो कारण हुआ। मुझसे छीना था सब। स्वयं सब छिन गया। सचमुच, इस धन से मनुष्य का जो सम्बन्ध रहता है, उस सम्बन्ध में हृदय की जो लिप्ति अथवा निर्लिप्ति होती है, वही हमारे पाप-पुण्य का भार वहन करती है। पिता के कहने पर मैंने भी अपनी कथा सुना दी, पर शव की बात नहीं कही। और एक रत्न भी दिया। अब मेरे पास चार रत्न बाकी थे।

वह रत्न देखकर पिता ने कहा, "पुत्र! इसका मूल्य जानता है?"

"नहीं, क्यों जानता पिता?"

"इस अकेले के मूल्य में पुरपइठान का मेरा सारा वैभव था। इसका मतलब है कि मैंने कुछ भी नहीं खोया। दैव ने केवल दण्ड दिया था।"

फिर पुकारकर कहा, "धनदेव!"

धनदेव आए।

पिता ने कहा, "भाइयों को भी ले आ।"

तीनों आ गए, तब पिता ने कहा, "पुत्रो! धन वत्स ने तीन रत्न भाभियों को दिए थे। देखे थे तुमने? वे राजा के पास पहुंच गए। फिर तीन और दिए। वे उनसे बहुमूल्य थे। यह देखते हो अब!"

रखा पिता ने नीले मखमल पर।

"अरे!" तीनों कह उठे।

"यह आपने दिया है धन वत्स को?" धनदेव ने कहा।

पिता का मुख स्याह हो गया।

"मैंने दिया है?" वे झल्लाए, "मेरे पास था क्या जो देता! मैं तुम्हारे साथ रास्ते पर मजूरी करता था। क्या मतलब है तुम्हारा कि मैं इसे छिपाए हुए था, जब परिवार सड़क पर पत्थर तोड़ रहा था? तुम्हारा मतलब है कि मुझे रत्न अपने बच्चों, बहुओं और पत्नी से भी ज्यादा प्यारा है?"

धनचन्द्राधिप ने कहा, "क्षमा करिए पिता! भैया, तुम्हें सोचकर बात करनी

चाहिए।"

"तू भी," धनदेव ने कहा, "ऐसा कहता है!"

"तो पूरी बात कह न कुलाङ्गार!" पिता हांफ उठे।

वह स्वर इतना उठ गया कि भाभियां आ गईं। मां भी। दास-दासियां ताक-झांक करने लगीं। मैंने तो उस मामले को वहीं रोकना चाहा। परन्तु पिता क्रोध के कारण मूछित हो गए। धनदेव चला गया बाहर के प्रकोष्ठ में। धनदत्त धीरे-धीरे गया। नहीं गया चन्द्राधिप। पिता ने जागने के बाद कहा, "वत्स धन! यह रत्न तू ही रख। किसीको कुछ न देना। सबको निकाल यहां से। कमाकर खा लेंगे। मां को रख ले अपनी। मैं संन्यास लिए लेता हूं।" कोई कुछ नहीं बोला।

फिर योंही छः दिन बीत गए। सातवीं रात मैं सोने को था, तो भाभी सुमुखी मेरी शय्या के पास बैठ गईं आकर।

मैंने कहा, "भाभी! कैसे आई?"

उन्होंने ग्लानि से मुंह छिपा लिया और कहा, "देवर! जिस स्त्री का पति कृतघ्न और पापी हो, वह स्त्री क्या करे? ऐसी स्त्री का पति के प्रति क्या कर्तव्य है? क्या स्त्री हर अवस्था में पति के साथ बंधी हुई है? जड़ प्रतिहिंसा में डूबे हुए पुरुष ही के साथ क्या स्त्री भी डूबने को बाध्य है?"

घृणा से मेरा मन विषाक्त हो गया। कहा, "क्या हुआ?"

"वे कहते हैं कि यही रत्न पिता ने तुम्हें घर छोड़ते समय दिए होंगे चुपचाप। पुत्रों से छल करने के कारण ही वृद्धावस्था में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। देवर ने समझाया भी।"

"कौन? छोटे भैया धनचन्द्राधिप ने? और बड़े नहीं बोले?"

"देवर! धन्य भाग्य है अलका का, सुभामा और मैं तो कहीं की न रहीं। मां मुझे नहीं देखना चाहतीं। मेरा क्या दोष है इसमें? सुभामा जिठानी को काटो तो लहू न मिलेगा। देवर, हमें विष ला दो।"

और तब मैंने रत्नों को निकाला और कहा, "भाभी! इन्हीं रत्नों का झगड़ा है न?"

चारों रत्न पहलेवालों से बड़े थे। मैंने कहा, "देखो भाभी! तीन पहले दिए, वे महाराज को पहुंचे। तीन तुम्हारे पास हैं, तीनों के। एक पिता के पास है। बाकी बचे पांच। कुल बारह थे। ये रहे चार। तीनों को एक-एक दे दो। एक मां

को। मेरावाला मैंने पहले ही ले लिया।"

"छि?" भाभी ने कहा, "ले लो। पत्थर दो पत्थर देवर! हमें निकाल दो। भूखे मरेंगे, आप ठिकाने आ जाएगी अकल। जिठानी माता होनेवाली हैं।"

मेरा उल्लास छिपा नहीं। भाभी ने कहा, "तू देवता है देवर! तू देवता है कोई!"

भाभी मेरे चरण पकड़कर रोने लगीं।

मैंने पांव हटाकर उनके पांव छूकर हाथ आंखों से लगाए और कहा, "भाभी! मुझसे पाप कराती है तू?"

आज हम 'तू' पर आए थे।

"अच्छा तेरावाला कहां है?" भाभी ने पूछा।

"है मेरे पास!" मैंने सिर हिलाकर कहा।

"मुझे दिखा।"

"हां, दिखा दूंगा।"

"तो वह मुझे दे दे।"

"क्यों भाभी! वह क्यों दूं?"

"अपनावाला और तेरावाला मिलाकर हार बनवाऊंगी और अब आएगी न देवरानी, उसे पहनाऊंगी।"

अब शान्ति छा गई थी। मैंने कहा, "वह कहां से आ गई भाभी! पर मेरा-वाला तो पानी में गिर गया।"

"वह कैसे?"

मैंने कहा, "भाभी! यह धन कहां मिला, जानती है?"

तब मैंने धनवाली कहानी सुनाई और बताया कि अपना भाग मैंने नर्मदा में डाल दिया था। वह स्तब्ध-सी सुनती रही। अवाक्। फिर मैंने कहा, "सो भाभी! ऐसा है यह धन! सच तो यह है भाभी! मेरे भाग में सिर्फ हाथ-पांव और बुद्धि की कमाई है। यह सब जो हैं न? यह मुझे मार के प्रलोभन हैं।"

किन्तु मैं नहीं कह सका कि इसीलिए यह धन तुम भी मत लो।

"जा भाभी! चैन से सो। यह रत्न बांट दे। और झगड़ा बन्द हो जाएगा।"

भाभी बड़ी किंकर्तव्यविमूढ़-सी बैठी रही।

तब मैंने कहा, "जा भाभी! नींद आ रही है। सवेरे ही बुलावा आया तो

राजा के यहां दौड़ना पड़ेगा। राजा की नौकरी आग पर खेलना समझ। अब वह श्रेष्ठियोंवाला ठाठ नहीं है कि मन लगा तो किया, नहीं तो छोड़ दिया।"

"तो तू व्यापार ही जो कर ले।" भाभी ने कहा।

मैंने कहा, "करना क्या है भाभी! मैंने अपनी इच्छा से किया ही क्या? मैं तो देख रहा हूं कि मुझे किस तरह खिलाया जा रहा है। भाभी! तुम जिस तरह धनकुमार को देखती हो न, उसी तरह मैं भी इसे अलग से देखा करता हूं। यह नाम-रूप का जो संगठन है, जिसे धनकुमार कहकर लोग पहचानते हैं, उसे मैं भी दूर से देखा करता हूं।"

भाभी कुछ नहीं समझ पाई थी।

और तभी आ गया हूं आज फिर मैं इस राह पर, जिसपर हजारों चल चुके हैं। लाखों, करोड़ों! सम्भवतः पद्म, नील और न जाने कितने मनुष्य! क्यों कर्मचक्र में फंसे? पारिवारिक जीवन की उस घृणा ने मुझे फिर उखाड़ दिया! और भी एक कारण था। चण्डप्रद्योत की तृष्णा। मगध से युद्ध की तृष्णा। वह चाहता था युद्ध। और मैंने सोचा कि युद्ध होगा। जो व्यवस्था मैंने बनाई है, वह अवश्य नष्ट हो जाएगी। मगध इतना निर्बल नहीं कि अवन्ति जीत ले। एक महान राष्ट्र बने, शान्ति हो, वह तो ठीक है। परन्तु परस्पर शक्तियों का टकराना कैसे ठीक होगा! समान बलवालों को तो संधि कर लेना उचित है। युद्ध में हत्या होगी! अकारण ही इन क्षत्रियों की विक्रम-लोलुपता से लहू बहेगा! और मैं चुपचाप चला आया हूं। अब जो हो, सो हो। मेरे रोके वह रुकेगा नहीं, फिर रोकूंगा सामने जाकर तो मुझे और परिवार को कष्ट देगा। पर अब कहां जाऊं?

अब प्रद्योत मुझे नहीं पाएगा। समझेगा कि शायद ब्याह का ज़ोर दिया होगा घरवालों ने। चल दिया मनमौजी। मुझसे उसने युद्ध के विषय में कहा ही कब है? मुझसे भी उसने इस बात को गुप्त रखा। ऐसा है वह क्षत्रिय? सोचा होगा कि पार्श्वनाथ का अनुयायी है, कहीं उगल न दे अपना विरोध! बना-बनाया अमात्य क्यों बिगाड़ूं!

वत्स धन! यह है जीवन का खेल। अब पिता क्या करेंगे? धनदेव पर सारा घर टूटेगा। धनदत्त पर भी। टूटने दो। परन्तु मैंने उन्हें इतना समृद्ध छोड़ा है कि वे जीवन-भर आराम से बैठकर खा सकते हैं। अरे दुःख का क्या है; आता है, तो लोग झेल भी लेते ही हैं। अब मेरा भतीजा होगा। पौत्र दीखेगा तो दादा-दादी

सब भूल जाएंगे। वह न जाने कैसा भाग्य लेकर आएगा! ऐसे किस-किसका हिसाब कर सकता हूं मैं? पर वह जो आनेवाला है, वह भी उतना ही महत्त्व रखेगा इस लोक में, जितना हममें से कोई रखता है।

यह जीवन योंही चलता चला जाएगा।

पर यह कैसी बात है कि आज मुझे उतनी उद्विग्नता नहीं, जितनी पहली बार घर छोड़ने पर हुई थी। जैसे अब आदत-सी हो गई है।

चण्डप्रद्योत तू सुखी हो, सद्बुद्धि पाए। तूने मुझे आश्रय दिया। मैंने तेरी सेवा की। परन्तु अब मुझे तुमसे डर लगता है। जिधर तू जा रहा है, वह तेरे वर्ण का भले ही धर्म हो, मेरे वर्ण का, मेरे मनुष्य का नहीं है। मैं जानता हूं कि तुझे अवंति के श्रेष्ठि भड़का रहे हैं। वे मगध की सम्पदा के लिए आतुर हैं। लेकिन अभय के रहते वज्जिजय मगध के हैं, और कुणिक के रहते कोसल भी मगध के पीछे है। तू स्वयं हठीला है कि वत्स का शतानीक भी तेरा मित्र नहीं है। अब तो तपोवन से उसका पुत्र उदयन भी आ गया है सोलह वर्ष का होकर! यदि तू मेरी राय के मुताबिक वासवदत्ता का उदयन से सम्बन्ध जोड़ने की बात करता, तो वत्स तेरा होता! परन्तु तू ठहरा दुरभिमानी! उदयन को तो कहते हैं, काम भी देखकर लजा जाता है।

तो चलो वत्स धन! मगध! कोशल! काशी! अब उन्हें देखें जिनका यश है इतना! दार्शनिक! अजितकेस कम्बल! काश्यप! मौद्गलायन! परन्तु क्या देंगे वे मुझे? कुछ नहीं। न सही। दुनिया तो देखने को मिलेगी। हो सका तो तक्षशिला भी चलेंगे। चलते रहना वत्स धन! जीवन है ही क्या? अनुभवों के संस्कारों का पुंज!

आज मुझे केवल जिज्ञासा है। आज वह पहलेवाली विह्वलता नहीं। आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या हो सकता है?

एक बार मुड़कर देख लूं। रात के चन्द्रमा! उस दिन भी तूने ही पथ दिखाया था। अवन्ति-भूमि प्रणाम! उज्जयिनी! तेरी गोद में कवियों और दार्शनिकों के अनमोल वचन सुने। देश-विदेश के व्यक्ति देखे! ले अब मेरा प्रणाम ले। वत्स धन जा रहा है। वह बंधकर रहना नहीं चाहता। वह आत्मा को भींचकर नहीं रहना चाहता। वह तो यात्री है। जैसा आया है, वैसा ही चला जाएगा।

३

छोड़ आया हूं सब कुछ। नहीं, मैं छोड़ दिया गया हूं। नहीं, मैं अभी नहीं छूटा हूं।

आकाश में अनन्त नक्षत्र बिखरे हुए हैं। चारों ओर नीरवता छा रही है। और मैं अकेला बैठा सोच रहा हूं।

क्या सोच रहा हूं मैं? सोचता हूं कि जीवन के समस्त कोलाहल का क्या हुआ! मृत्यु आएगी। मैं उनमें मिल जाऊंगा। मेरे अंग-अंग सब प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में मिल जाएंगे। और तब यह धनकुमार कहां रहेगा? नामधेय का अन्त हो जाएगा जिस दिन, उसके बाद क्या लोक नहीं रहेगा? मेरे मर जाने के बाद कौन सोचेगा कि एक दिन मैं भी था; जिसमें वेदना थी, प्यार था, और था सब कुछ, जो मनुष्य में होना चाहिए। हजारों वर्ष बाद तक भी यदि मेरा नाम बच गया, तो उससे मुझे क्या मिलेगा? क्या मिलता है मान्धाता को, क्या मिलता है दधीचि को! लोग मुझे जानते हैं। बच्चा-बच्चा मेरा नाम लेता है। परन्तु इसका मूल्य क्या है? कुछ नहीं।

वासनाएं अपना केन्द्र आत्मा में बनाती हैं। यह आत्मा ही तो है जो है। वह शाक्य सिद्धार्थ जो अपने को बुद्ध कहता है, वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, क्योंकि यहां तो सब कुछ क्षण-क्षण बदल रहा है। तब फिर पाप-पुण्य और पुनर्जन्म है ही क्या? मेरा मन नहीं मानता है उसे। मुझे यही पथ अच्छा लगा है। यही पथ मुझे भाया है। सिंह सेनापति बुद्ध की ओर चला गया है, तीर्थंकर के वचन को अविश्वास के योग्य समझकर? क्षत्रिय ठहरा। वह तो चाहता ही ऐसा धर्म है

जिसमें गणक्षत्रिय आत्मा के पुनर्जन्म के भय से मुक्त हो जाएं। गर्व बना रहे क्षत्रियत्व का। मैं वैश्य हूं और सदैव ही मैंने दया का पालन किया है। और तभी मैं आया हूं वर्द्धमान की शरण में।

किन्तु क्या यही मनुष्य का अन्तिम सत्य है? मैं नहीं जानता। शायद जानूंगा भी नहीं। परन्तु यही मुझे भाता है, क्योंकि मैं पीड़ा चाहता हूं। और इसी मार्ग में है वह पीड़ा। मनुष्य के गर्व का खण्डन करने को उसे पीड़ा ही चाहिए। और क्योंकि इस पथ में यातना है, मुझे यही चाहिए। यातना! मनुष्य बर्बर है। आज भी बर्बर है। उसे अपने अहंकार का गर्व है। किसलिए? क्योंकि वह अपने को ही सबका केन्द्र बनाता है। यह संसार इतना पुराना हो चुका है कि मनुष्य अपने सुख को भूल चुका है। क्या है मनुष्य का सुख?

कहते हैं, एक समय था जब सब संसार सुखी था, तब न द्वेष था, न तब घृणा थी, न तब धन था, न ही था कहीं अहंकार। वह युगलिया संस्कृति थी। एक पुरुष और एक स्त्री भाग लेते थे। वे भाई-बहिन होते थे। वे ही परस्पर विवाह करते थे। और उनकी भी युगलिया संतान होती थी। उस संसार में शान्ति थी। वृक्ष इच्छाफल देते थे। तब मनुष्य को परिश्रम नहीं करना पड़ता था। फिर पुण्य-क्षय का क्रम प्रारम्भ हुआ। वृक्षों ने इच्छाफल देना बन्द कर दिया। कृषि प्रारम्भ हुई। युगलिया सन्तान का होना बन्द हो गया और यह पृथ्वी पाप का वास बन गई। प्रकृति की गोद में रहनेवाला मनुष्य अपने रूप से लज्जा करने लगा। पहले जो नियम से मैथुन करता था, पहले जिसके अंग उसके संयम में थे, वह उनपर से अपना अधिकार खो बैठा। तब उसे लज्जा हुई और वह अपने को, अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करने लगा। तब लोभ, ईर्ष्या, अत्याचार, अहंकार झूठ, हत्या और अन्य पापों ने सिर उठाया। पहले यह पृथ्वी स्वर्ग थी। तब स्वर्ग अलग हो गया और आत्माओं के कर्मों के पापों ने नरकों की सृष्टि की और फिर यह चक्र प्रारम्भ हो गया, जिसमें पड़े हुए हम इतनी सांसत सह रहे हैं। तब तीर्थंकर जागे। उन्होंने संसार का त्याग किया। वे फिर नग्न हो गए और उसी पुण्यवान मानव-स्वरूप को उन्होंने प्राप्त किया और वे प्रायश्चित करके, तप करके पापों को धोने लगे। वह पाप, कर्मों के द्वारा जन्मान्तर तक, शताब्दियों तक उतर गया था। उन्होंने बताया कि मनुष्य ने भुला दिया था अहिंसा को, अस्तेय को, सत्य को, ब्रह्मचर्य को। तभी वह अपने प्रारम्भिक पुण्यमय स्वरूप से दूर हो गया था। उन्होंने

कहा कि जाति-घृणा व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि मनुष्य तप करके शुद्ध हो सकता है और लोक के लिए उन्होंने घोर तप करके पृथ्वी पर पुण्य का उदय किया। वीत-राग का पुण्योदय लोक में बार-बार मंगल की स्थापना करने लगा। अनेक बार जब-जब लोक भटका है, तब-तब तीर्थंकर हुए और किसलिए? इस आत्मा का कल्याण करने को। और हम फिर भी वासनाओं में पड़े तड़प रहे हैं! हम केवल बाह्य के पीछे अन्तस्थ को भूल बैठे हैं।

प्रकृति निरन्तर बदल रही है। निस्सन्देह कोई परमात्मा नहीं है। यदि वह होता, तो इस लोक में बुराई होती ही क्यों? वह इस प्रकार खेल खिलाता ही क्यों? यह तो प्रकृति है, जो सत् और असत् का मिलन बन के पड़ी है। इसमें कार्यानुसार ही परिणाम मिलता है।

और जो मैं यह सब सोच रहा हूं, क्या मैं अब भी सचमुच कह सकता हूं कि अब मैं ऐसे कर्म में लग गया हूं कि मुझे अब कोई भय नहीं है?

उधर शालिभद्र सो रहा है। पत्थरों पर। क्या वह पत्थर पर सो सकता था? मैं! मैंने तो जीवन के उतार-चढ़ाव भी देखे हैं। परन्तु इसने? लेकिन यह मैं सोचता ही क्यों हूं? रेशम और मखमल के वे गद्दे वास्तविक सुख है ही कब! जब से मनुष्य ने उस सबको सुख समझा है, सारा संसार उसीको सुख समझ बैठा है। सुख मनुष्य का क्या है? पृथ्वी का शमन। इस झूठे सुख की ओर भटकते हुए मन को दबाना ही धर्म है। फिर मनुष्य पृथ्वी पर लौट आए। क्या यह हो सकेगा? परन्तु लोक! क्या सब ही कर सकेंगे ऐसा? नहीं। उन्हींके लिए तो तीर्थंकर अपना बलिदान देते हैं। उनका अक्षय प्रकाश युगान्तर तक अंधकार में सान्त्वना दिया करता है।

मनुष्य सदैव प्रयत्न करता है। निरन्तर। अंधकार में पड़ा हुआ वह वासना का क्रम-विकास बढ़ाता है, परन्तु जब वह उजाले में आ जाता है, तब उसका दूसरा विकास प्रारम्भ हो जाता है। तो क्या था मेरा जीवन? वासना का विकास या विरक्ति के विशाल सिंहद्वार में घुसने की चेष्टा?

आज मैं नगर में भिक्षा मांगकर लौटा हूं। मैं! महाश्रेष्ठि धनकुमार! और किसीने भी पहचाना तक नहीं! मांगना है निकृष्ट! तभी तो उसमें अहंकार मरता है। देते रहने ने सदैव मुझे अहंकार दिया है और एक दिन के मांगने ने मुझे हिला-कर धर दिया है।

तो क्या मैं इतने दिन तक अपने को धोखा ही देता रहा हूं ? मैंने लोक का कल्याण करने की चेष्टा की, परन्तु क्या लोक का दुःख समाप्त हो गया ? निस्सन्देह यह व्यक्ति का कर्म नहीं। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को उठना होगा। क्या यह सम्भव हो सकेगा ? मैं आ गया हूं। परन्तु मेरी वे पत्नियां ?

भूल जा धनकुमार ! इसे भूल जा !

पर मन तो नहीं भूलता। यह संस्कारों में निहित वासना है। यह कैसे छूट सकेगी ! और मुझे याद आ रहा है।

उस दिन जब मैं घर छोड़कर उज्जयनी से चला, तो मेरे सामने कोई पथ नहीं था। कहां जाऊं ?

कौन-सा पथ है ? मैं कहां जाऊं ? भोग चुका हूं मैं राज्य का सुख। क्या है वह ? एक महाराज ? हम सब चारों ओर फैले हुए प्राणी। सब अपने-अपने स्वार्थ में लीन। भय और अविश्वास में डूबे रहे। रिश्वत की शक्ल में भेंट देते रहे। अपने से नीचेवाले के लिए शेर, अपने से ऊपर वाले के लिए कुत्ता। विडम्बना ही तो है यह अधिकार की छलना।

मार्ग कई हैं। कौन-सा पकड़ूं ? किधर जाने का है मुझे अधिकार ? फिर वही अधिकार याद आ गया मुझे। यह सारा अधिकार मनुष्य का मनुष्य के ही लिए तो है। क्या यह सूर्य, यह चन्द्र उसके अधिकार में हैं ? क्या वर्षा उसके अधिकार में है ? क्या जीवन और मृत्यु भी उसके अधिकार में है ? कोई नहीं। एक भी तो नहीं। फिर मैं अधिकार के लिए क्यों कचोट खा रहा हूं ?

सामने वन आ गया। सघन हरियाली फैली हुई थी। सब कुछ बड़ा सुरम्य लगता था। तब समझा कि सौंदर्य एक बाह्य छवि है। उसकी वास्तविकता क्या है ? जैसे मनुष्य ऊपर से सुन्दर है, उसके भीतर क्या भरा है ? मल, मांस, रक्त और···

नगर छोटे हैं, राज्य छोटे हैं। उनके दायरे बहुत छोटे-छोटे-से हैं। संसार वन है। क्या सारे संसार में अधिकतर वन ही हैं ? दो राज्यों के बीच-बीच में यह भयानक वन ऐसे ही हैं जैसे मनुष्य की यात्रा में बीच-बीच में संकट आ जाया करते हैं। इसी पृथ्वी के ऊपर पर्वत हैं। वे खड़े ही रहते हैं। कहीं भी उनका गौरव नीचे झांककर नहीं देखता। कहते हैं, पर्वत बहुत पुराने हैं। अगम्य शिखरवाले ये गिरि मनुष्य से भी पुरातन हैं। कहते हैं, पहले ये उड़ते थे। बाद में इनके पंख काट

दिए गए। सचमुच इनका अधिकार कितना भयानक रहा होगा ! ऐसे ही शिखर हैं हिमालय में। लालसा जाग उठी, देखूं वे गगनचुम्बी शिखर, वे शिखर जिनपर सदैव कुहरा छाया हुआ रहता है, जिनके भीतर निरन्तर एक रहस्य का सिरजन हुआ करता है। उसे पर्दा-सा डालकर यह प्रकृति मनुष्य से छिपाए रहती है। सुनसान ! वहां मनुष्य कभी भी नहीं पहुंच पाता। यह जो शताब्दियों से मनुष्य इस पृथ्वी का स्वामी है, यह कभी वहां तक नहीं पहुंचा !!

पथ फैल गया। मैं चल पड़ा। मार्ग में मैंने अनेक रूप देखे। मैंने देखे कमकर। वे प्रसन्न थे कि वे अब दास नहीं रहे थे। वे अपने पूर्वजों के बारे में कहते थे कि वे पशुओं से भी गए-बीते जीवन बिताते थे। वे कहते थे कि जीवन अच्छा होता जा रहा था, परन्तु फिर पतन आने लगा है। पता नहीं क्यों ऐसा हुआ ! मैंने देखे मार्ग में चाण्डाल। उनकी बस्तियों में भी मैं रहा। मैंने यह जीवन भी देखा। उनके वृद्ध पुरानी कहानियां सुनाते थे, जब वे ही संसार के शासक थे। कौन जाने कितना सत्य था ! वे कहते थे कि वे पतित हो गए; तब ब्राह्मणों को ब्रह्मा ने भेजा और उनको नीचे गिराने को उन्हें शक्ति दी। जब मुझे कहीं म्लेच्छ जातियों में कोई मिलता, तो मैं उससे बातें करता। वे प्रायः व्यापारी होते। उनके अपने देवता होते थे। वे भी संसार और आत्मा के बारे में बातें करते थे। परन्तु वे पुनर्जन्म की बात को समझ ही नहीं पाते थे। यह वे मानते थे कि एक दिन संसार समाप्त अवश्य हो जाएगा। सैंधव यात्री भोगप्रिय अधिक होते के। उनको अपनी प्राचीनता का बड़ा दम्भ था। वे बताते थे कि प्राचीनकाल में उनके देश में गंधर्व रहते थे। एक बार वे गंधर्व देवताओं से लड़ मरे और नष्ट हो गए। उनको मदिरा पीने का बड़ा शौक था। वे मस्त रहते थे और व्यापार में वे नितान्त हृदयहीन होते थे। उत्तर-पश्चिम में गांधार था। वहां के सुदृढ़ व्यक्तियों की आंखें नीली होती थीं। वेद का उनको अच्छा अभ्यास होता था। उन्हींसे मुझे पता चला कि पाणिनि नामक ऋषि ने वहां बड़ा अच्छा व्याकरण बनाया था जो तक्षशिला विद्यालय में पढ़ाया भी जाता था। तक्षशिला में संसार के सब देशों से अभिजात युवक आते थे। चीन के भी, पारसीक देश के भी। यवन (ग्रीक), मिस्री भी आते थे कोई-कोई। सुवर्णभूमि का एक युवक मैंने वहां जाते भी देखा था। कहते थे वहां बड़े विद्वान् होते थे। वज्जिय, शाक्य मल्ल विदेह, मागध, यहां तक कि प्राग्ज्योतिषवासी तक ज्ञान की अग्नि लेने वहां जाते थे और स्नातक होकर लौटते थे। कितना प्राचीन था वह विद्यालय,

यह कौन जानता था ! दक्षिण के चोल और पाण्ड्य से युवक प्रायः वहां समुद्र-मार्ग से जाते। वे पहले भरुकच्छ आते, फिर द्वारका और तब उत्तर में स्थल-मार्ग पकड़ते। विंध्याटवी का ऐसा भय था उन दिनों। जीवन के इन विभिन्न रूपों को देखकर भी मुझे यह अनुभव नहीं हुआ कि मैं किसी वैचित्र्य में घूम रहा हूं। कर्मकाण्डी ब्राह्मण देखे, और देखे उच्छवृत्तिवाले नाग, देखे अनेक प्रकार के प्राणी; परन्तु अपने मन का रिक्त जैसे वहीं का वहीं बना रहा। वह कैसे भरेगा, यही उस समय सोचता था मैं !

चलते-चलते मैं गंगा-तीर पर पहुंच गया। देखते ही चित्त प्रसन्न हो गया। बहुत ही मनोरम दृश्य था। मैंने तीर पर ही वस्त्र उतार डाले और कटि में एक वस्त्र बांधे उतरकर स्नान किया। गंगा के जल में मैंने एक विशेषता अनुभव की कि वह शीघ्र ही सारी थकान को हर लेता और शरीर को ऐसा हलका कर देता है कि जिनका वर्णन मैं नहीं कर सकता। इस जल में कोई बात है ! यही है वह गंगा, तब मैं सोचने लगा, जिसे सब ही इतना पवित्र मानते हैं। प्रत्येक वन, पर्वत और भील में एक देवता है, गंगा भी देवी है। तभी वह इतनी पूत है।

मैं किनारे पर बैठकर बदन सुखाने लगा। मनोहारिणी वायु के स्पर्श ने मुझे बहुत सुख दिया। मुझे गंगा के बारे में यादें आने लगीं। कहते हैं, पहले कभी यहां नाग रहते थे और तब यहां उन्हींका शासन था। फिर निषाद आए, और उनका शासन हो गया। वे नावें चलाते थे और समुद्र तक जाया करते थे। और समय बदला। निषाद-कन्या एक दिन आर्यावर्त के सिंहासन पर बैठी और आर्यों का दम्भ, क्षत्रियों का गर्व खण्ड-खण्ड हो गया। किन्तु क्या वह सचमुच खंडित हो गया है ? गणों के क्षत्रियों में कितना दम्भ अभी तक बाकी है। वैश्य को गर्व नहीं है क्या ? अवश्य है। क्या कुलीन और अकुलीन का गर्व वैश्य में नहीं ? फिर क्षत्रिय का गर्व क्यों अखरता है ? ध्यान फिर गंगा पर आ गया। इसे ही भगीरथ स्वर्ग से उतारकर लाया था ! कैसी कठोर की होगी उसने साधना ! कितनी शताब्दियों तक किया होगा उसने तप ! मनुष्य का तप ही उसकी महानता का द्योतक है। उसीके कारण वह अनेक युगों से पुण्य को धारण करता आ रहा है। गंगा को देखा। यही कहलाती थी पतित-तारिणी !

मैं जितना ही गंगा को देखता, उतना ही मन में डूबता-उतराता जाता। धीरे-धीरे मेरी आंखें उसकी धारा पर स्थिर हो गईं। बहता पानी मेरी आंखों पर

छा गया। मैं तो किनारे की बालू में बैठा हूं और यह धारा बह रही है। बहाव देखने से मैं भी जैसे बह उठा। कब से बही आ रही है यह ? मैं सोच उठा। और बहाव में ठहरी आंख ने कहा—सब कुछ ऐसे ही बहा जा रहा है, बहता चला जाएगा। हज़ार साल पहले बही थी, दो हज़ार साल पहले बही थी।—और मिस्र के म्लेच्छ की बात याद आई, जो कहता था कि उसके देश में तिकोनी कब्रें थीं, जिनमें उनके सम्राट सो रहे थे। गगनचुम्बी कब्रें, जिनके पाषाण बहुत विशाल थे। उन्हें मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने बनाया था। कब ? कौन जाने ! तब से सो रहे हैं और सृष्टि के अन्त तक सोते रहेंगे। उस विचित्र कल्पना से मुझे रोमांच हो आया। मैं उठा और चल पड़ा।

दूर काशी नगरी दीख रही थी। लोग कहते थे कि काशी नगरी को शिव देवता ने बनाया था और वह बहुत पुरानी थी ! मैंने शैव बहुत देखे थे, और शैवों में मैंने अनेक सम्प्रदाय देखे थे। कुछ वैदिक सम्प्रदाय के लोग शैव थे, कुछ वेद को नहीं भी मानते थे।

काशी के कलश मुझे बुलाने लगे।

अब मैं क्या कहूं कि मैं नगर में गया और मैंने शिव का मन्दिर भी देखा। देखा हाट को। देखा, वही मिला जो किसी भी नगर में मिलता है—वैभव और दारिद्रय, भोग और घृणा, मदिरा और सम्प्रदाय। मैं नहीं जानता, मनुष्य कितने धर्म मानता है, और प्रायः सभी अपने ढंग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। त्याग और तप को सब स्वीकार करते हैं।

यों यह यात्रा एक किनारे आ लगी और मैं अब फिर गंगा-तीर की ओर चल पड़ा।

जब मैं लौटा, मांझी मुझे बैठे दिखाई दिए। वे काले बदनवाले लोग थे। उनके कंधों और हाथों की पेशियां बहुत दृढ़ थीं। वे सिर पर छोटे उष्णीश बांधे थे और कमर में चुस्त धोती। शायद उनका खाना पक रहा था। पास में ही कुछ झोंपड़े थे, जिनमें से बच्चों और औरतों की आवाज़ें आ रही थीं। कोई बुड्ढा खांस रहा था। उन्हें पहले मैं देखता रहा, फिर पास चला गया।

"यात्री !" एक ने कहा।

उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ। विस्मय क्यों होता ? प्रायः काशी में अनेक स्थलों से नाग आते थे। अब अन्य लोग भी आने लगे थे। मांझियों में नाग थे, जो

शूद्र थे।

ऐलापत्र मांझी ने पुकारा, "ओरी! आ तो।"

एक युवती वहां आई। उसकी कमर में एक कपड़ा था। उसके स्तन खुले थे: उन्नत थे, पीन, बड़े ही सुन्दर! वह जैसे उनकी शक्ति जानती थी। मेरी ओर देखकर मुस्कराई। मैंने आंखें हटा लीं। उन्होंने भुना हुआ मत्स्य मेरे सामने रखा। मैंने मना कर दिया।

उन्होंने मुझे भात दिया।

शूद्र! क्या मैं खा लूं? यह विचार आया।

याद आया, पार्श्वनाथ भी नागों के साथ रहते थे। अवश्य ही खाते-पीते थे। उन्होंने ब्राह्मणों से नागों की रक्षा की थी। मैं खाने लगा। वे प्रसन्न हुए।

मैं खाकर सो गया।

आधी रात के समय कुत्तों के भौंकने से मेरी आंखें खुल गईं। चारों ओर नीरवता छा रही थी।

मैं उठा और हटकर बैठ गया। सोचने लगा—मैं किनके साथ टिका हूं! अरे! ये हिंसक हैं। ये मांस खाते हैं। क्या इनके साथ खाकर मैंने अच्छा किया? तब मन किलकने लगा और मैं एकान्त में गाने लगा। गाकर मन तृप्त हो गया। चांदनी खूब खिली हुई थी। टहलने लगा। शायद चल भी पड़ा। पीछे पगचाप सुनकर मुड़ा तो देखा वही स्त्री। उस समय वह कितनी आकर्षक लग रही थी! यह मुझमें जीवन में पहली बार कैसा नया भाव जागा था! आज तक क्या युवतियां नहीं देखीं? पर आज तक जैसे मैं सुप्त था।

स्त्री पास आ गई। उसके मुख से मदिरा की गन्ध आ रही थी, जिसने मेरा स्वप्न तोड़ दिया। फिर भी मैं अवरुद्ध-सा उसे देखता रहा।

उसने कहा, "यात्री, कितनी अच्छी रात है!"

उसने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया। उसके श्वास मेरे पास आने लगे। वह अत्यन्त विह्वल थी।

मदिरा की दुर्गन्ध आ रही थी। फिर भी मैं मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा था। यह मेरे सामने क्या आ गया था! मांस की ऊष्मा मुझे अन्धा किए दे रही थी। यह क्या हो रहा था! मैं उस समय भी अपने को देख रहा था। पर मैंने स्त्री का वह रूप कभी नहीं देखा था। कितना उन्माद था उसके नेत्रों में! उसके उन्नत पीन स्तनों

पर नखों के क्षत्रों के चिह्न थे। वह तनिक भी लज्जित नहीं थी। मुझे देखकर वह हंस पड़ी। मैंने उसके दांतों की सुघर पांत देखी। वह गेहुएं रंग की थी। उफ! मेरा सिर चकराने लगा। मेरे हाथों में बिजली-सी कौंधने लगी। तभी मुझे झटका-सा लगा। मैं इसे पकड़ लूं? 'परन्तु वह विवाहित है,' न जाने कौन चिल्ला उठा मेरे भीतर से। सदा से सुनता आया था कि पाप परस्त्री से प्रारम्भ होता है। पज्जा अम्मां कहती थी। आज याद करता हूं तो सोचता हूं कि जब तक पुरुष को अपनी माता का स्मरण रहता है, वह पाप नहीं करता। वह झपटी।

उसे मेरा धैर्य अवाक् करने लगा। उसने मुझे बांध लिया अपने हाथों में। मदिरा की दुर्गन्ध मेरे मुंह पर आ गई। मेरा मन मिचलाने लगा। मुझे लगा, मुझे नागों ने बांध लिया था। उस क्षण भी मैं एक नहीं, मैं दो था। एक वह, जो स्त्री की भुजाओं में फंसकर दीन हो गया था। और दूसरा वह था, जो मेरे उस फंसे हुए रूप को देखकर व्यंग्य से मुस्करा रहा था।

मैं भाग चला। मैंने झटके से उसे गिरा दिया।

कब तक भागता रहा, नहीं जानता।

रात योंही कांटों में बीत चली। पांव छिद गए। वह सुख था! उस मांस की ऊष्मा मुझे डराने लगी, जो अब भी मेरे शरीर में बसी हुई थी! क्या मैं विजयी हुआ था! नहीं! मैं भागा था। वह पलायन स्वयं सम्भोग से बड़ा पाप था।

मैं अन्त में ठोकर खाकर गिर गया और मुझमें उठने की इच्छा नहीं रही। अब मैं उस स्त्री के साथ ही कल्पना में चिपट गया। वासना और सम्भोग शरीर से जन्म लेकर आत्मा में उतर जाते हैं। सुख और सुख की ज्वाला आत्मा में बचे रहते हैं, देह में नहीं।

पड़ रहा। तब तक पड़ रहा कि जब तक आकाश में चंदा डूब नहीं गया। एक झिल्ली-सी छा गई व्यापक व्योम में, जो अन्धेरी भी थी और जिसमें से चमक भी फूटी पड़ रही थी।

उठा तो जिस पत्थर पर हाथ पड़ा, वह खिसक गया और मैं मुंह के बल गिरा होता।

संभला। और तब बैठ गया। एक बार कुत्ते की सी मुझे फरफरी आई। वह स्त्री, यदि मैं अपने अंक में कस लेता और! क्या इस देह का एक नया सत्य मुझे ज्ञात नहीं हो जाता? क्यों मैं उससे आज तक वंचित रहा हूं? क्या मैं बच्चा हूं

ग्नी? और मैंने सोचा कि यह मेरा झूठा अहंकार था। मैंने पहली वार जाना कि यह चोर मुझमें था। पहले भी था, परन्तु उसे मैंने देखा नहीं था, या देखना नहीं चाहा था। अपने सामाजिक पद ने मुझे उसपर पर्दा डालने लायक अहंकार दे दिया था। अहंकार! तो क्या वही मेरे छद्म का अनावरण था?

मुझे लगा, मैं मर गया था! अब मेरी सारी मान्यताएं नष्ट हो रही थीं। क्या अहंकार इतना बड़ा दम्भ है कि वह उदात्त बनने के छल में वासना जैसे विद्युत्वेग को भी अपने भीतर छिपा सकता है? आकाश से टूटनेवाला वज्र भी वह एक निर्मम पहाड़ की तरह झेल सकता है, महान बना रहने को!

हाथ से रेत उठाई। कुछ अटका तो उठा लिया। आंखों ने देखा तो मैं सन्न रह गया। एकदम ही वह फूट गया। पहली किरन ने उसपर छींटा-सा दिया। वह वस्तु मुस्कराने लगी।

मणि! साक्षात् जैसे चिन्तामणि!

एक ओर स्त्री!

इधर धन!

दो चपेटें! मैं अकेला! किस-किससे लड़ूं! क्यों लड़ूं? लोक इनके लिए आतुर है। मैं भी बनूंगा। मैं भी अब यही खेल खेलूंगा। क्यों त्यागूं इन्हें?

मैंने उसे उठा लिया और मन में कहा : तो तू मुझे मिली है ओ बहुमूल्य मणि! आ मैं तुझे छिपा लूं।

वस्त्रों में रखा तो लगा कि कोई देख लेगा, फिर टटोला। हैं! यह मुझे क्या हुआ! यह कैसी प्यास है! एक पत्थर के टुकड़े के लिए मैं इतना भयभीत हूं! यह मेरे भाग्य ने दिया है। तब से पड़ा था? किसका है? अरे मुझे क्या मतलब इन बातों से? उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन यदि मैं अपने वक्ष से दबाता तो?

उठकर चल पड़ा। चला। जल्दी-जल्दी। अब लगता था, मैं उस स्त्री की भुजाओं में था। उसे चूम रहा था, उसकी उन नशीली आंखों को। मदिरा में से अब सुगन्ध आ रही थी। और मैं कितना धनी था! मेरे पास कितनी बहुमूल्य मणि थी? कैसा मूर्ख था मैं भी! सब कुछ था। सब कुछ पा सकता था। फिर भी अपने दंभ में सब छोड़ता रहा और हुआ क्या उससे? छाई एक नीरस शुष्कता। घने वृक्षों के पीछे से चलते हुए मुझे लगा—मेरे पीछे कोई आ तो नहीं रहा? ठहरकर देखा। कोई नहीं था। तो वह मेरा भ्रम था? ऐसा क्यों हुआ

मुझे ? तब मेरे दूसरे 'मैं' ने कहा : वह स्त्री ! वह मणि ! इन दोनों ने तुझे पथ से डिगा दिया है।

कुछ साधु वहां बैठे थे, एक ओर निर्जन में। वे एक लंगोटी-मात्र लगाए थे। उनके सिर पर जटाएं थीं और देह थी बिलकुल सुती हुई।

मैं उन्हें देखने लगा और देखता रहा। सोचा—ये भी किन्हीं माताओं के पुत्र हैं। ये यहां ऐसे क्यों हैं? क्या अन्त है आखिर इनकी साधनाओं का? किस सुख के लिए यह धरती पर, कठोर पत्थरों पर बैठे हैं?

अरे ! ध्यान आया। इनके पास था ही क्या जो ये आनन्द मनाते। आनन्द का साधन मेरे पास है। मुझे भाग्य ने दिया है। मणि ! और भाग्य ने मुझे स्त्री दी थी। मैं डर गया। भाग गया। साधुओं में एक अपने सिर के बल खड़ा था। न जाने क्यों, मैं मन में हंसा। मूर्ख ! पांव नीचे कर ले ! यह कौन-सी दिशा की यात्रा का तेरा प्रयास है? शून्य में पांव उठाकर सिर नीचे कर लिया है। योगी ! क्या लेगा? गंगा की धारा की भांति उस क्षण उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन उमड़ते हुए मेरे सामने आ गए और मुझे लगा, मैं उनमें कूद पड़ा, कूदा और उतरता चला गया। और फिर उसमें लय हो गया। अब मुझे दाह-सा लगने लगा। मुझमें अशांति-सी छा गई। कहीं चला जाना चाहता था।

और मैं फिर चल पड़ा। कुछ ही दूर जाने पर मुझे एक शव दिखाई दिया, जिसे कुत्ते और सियार खा रहे थे। मैं खड़ा रह गया। यह भी किसी माता का पुत्र है। तब वह पीनोन्नत स्तनोंवाली स्त्री धीरे-धीरे उस शव में समाने लगी और मैं देखता रहा। पशु उसे खाते रहे, खाते रहे। अपने उत्थान-पतन की इस अति-क्रमणमयी निरन्तर चलती दुरारोह तृष्णा का मैं अब कहां तक स्मरण करूं ! यह तो ज्वार-भाटा है। आई लहर। चली गई। वह आती रहेगी और लौटती रहेगी। बस, यही हो गया मेरा थपेड़ों से भरा जीवन !

विभिन्न भूमियां मेरे पांवों के नीचे आती चली गईं। कभी मैं आकाश में उठता था, कभी मुझे चारों ओर अतल अंधकार दीखता था। न जाने किस असह्य तृष्णा से मैंने वह मणि छिपा रखी थी, परन्तु लगता था कि बस चारों ओर शव जला रहे हैं, जलाए जा रहे हैं। कभी मुझे लगता कि मैं किसी बहुत बड़े घास के भरे-हरे मैदान में चलता जा रहा हूं, कभी लगता कि मैं सीढ़ियों पर चढ़ता चला जा रहा हूं, चढ़ता चला जा रहा हूं। आंख खुलतीं तो मैं चुप बैठा रहता। मार्ग में

स्त्रियां भोजन देतीं, तो मैं सिर झुकाकर खाता। अब मैं आंखें उठाकर नहीं देखता। स्त्री को देखने में अब मुझे संकोच-सा होने लगा था।

अन्त में मैं राजगृह जा पहुंचा। यह थी मगध की भूमि। वही मगध जिसमें जरासन्ध था, जिसकी राजधानी गिरिव्रज के बाहर रखे मनुष्य की खाल के नगाड़े की चर्चा आज तक ग्रामीण किया करते हैं। और मैंने लोगों से सुना कि वहां न जाने कब से साम्राज्य बनते रहे हैं। इन मागधों को अपनी भूमि का गर्व था। परन्तु उस गर्व में एक अच्छाई थी कि वे अन्यों से घृणा नहीं करते थे। उस समय वहां अनेक दार्शनिक रहा करते थे और मैंने वहां अनेक विदेशी देखे।

अंधेरा हो चला था। नगर के उस बाह्य प्रदेश में अब सन्नाटा छाने लगा था। कहीं-कहीं चैत्य थे, जिनमें मणिभद्र यक्ष की मूर्तियां थीं। कहीं-कहीं अनार्यों के लांगूल महादेव की पाषाण-खंड पर खुदी हुई आकृति दिखाई देती थी, जिसपर सिंदूर मला हुआ दिखता था। धनी नागरिकों के दूर-दूर तक फैले हुए विहार-वन अब सोने लगे थे।

भूख लग रही थी। मैं थक गया था। कहां जाऊं? अब मुझमें इतनी शक्ति नहीं थी कि आगे बढ़ता। नगरद्वारों के बन्द होने का समय हो गया था। जब तक पहुंचूंगा, तब तक वे बन्द हो चुकेंगे। फिर अब मुझे भोजन कौन देगा? मुझे हंसी भी आई कि एक बहुमूल्य मणि लेकर भी मैं भूखा था, क्योंकि छोटे दूकानदारों के पास उसका मूल्य चुकाने को कुछ नहीं था। सामने ही एक उद्यान दिखाई पड़ा। मैं उस उद्यान में घुस गया। वह जीर्ण हो चुका था। रौसें कुछ खंडित-सी हो गई थीं।

चांदनी निकली, तब मैंने देखा कि वह बहुत बड़ा था। उसके वृक्ष सूख चले थे। किसी समय वह उद्यान कितना भव्य रहा होगा? अब ऐसा सूख गया था, जैसे कोई अपने यौवन के बीच में ही अकाल वार्द्धक्य से मुरझा गया हो। सब कुछ ऐसे ही नष्ट हो जाता है। मैंने देखा और मुझे उन युवतियों की याद हो आई, जो कभी उसके आपानकों में किलकारियां मारकर हंसी होंगी। उन मृगों की, उन सारसों की, हंसों की याद हो आई, जो कभी उसमें मनहर गति से चले होंगे।

बीच में एक विशाल कुआं देखकर मुझे बहुत ही सुख हुआ। वृक्षों का अंधकार उस स्थल को स्पष्ट नहीं देखने देता था; एक ओर ऊंचा ढाना था और शायद बाकी तीन तरफ बन नहीं पाया था; क्योंकि मिट्टी तो थी परन्तु उसका

सिर नहीं बंधा था। पत्थरों के विशाल शहतीर वहां आड़े-तिरछे रखे थे।

अपना उष्णीश उतारकर मैंने कुएं में लटकाया। अब वह भीग जाए तो उसे खींचूं और अपने मुख में निचोड़ लूं, और इस तरह बार-बार करने से शायद मेरी प्यास बुझ जाए, यही मेरे मन की इच्छा थी।

मैंने हाथ भी लटका दिया और इधर-उधर देखा तो लगा कि कुआं था पुराना ही। फिर मिट्टी क्यों पड़ी थी? यही सोचकर मैं चौंका और तब खींचा। उष्णीश सूखा ही निकला। देखकर मुझे कितनी घोर निराशा हुई! क्या करूं अब?

उष्णीश छोटा है। मैंने उसमें अपना कटिबंध जोड़ा और लटकाया। फिर उसे बाहर खींचा, परन्तु वह फिर वैसा ही सूखा निकल आया। इस बार एक कबूतर फड़फड़ाकर बाहर उड़ गया।

मैंने कंकड़ फेंककर देखा।

कंकड़ सूखे पर गिरा।

यह कुआं सूखा है। तभी सारा बाग सूख गया है। तभी यह निर्जन हो गया है। और तब ध्यान आया: मूर्ख! अब तेरे लिए जीवन भी सूखा है! देख, यह उसीका इंगित है।

निर्दयी! क्रूर!—मैंने मन ही मन कहा: इस लोभ और वासना का फल मुझे हाथोंहाथ मिले, और सब लोग सुख से रहें। मैंने किस स्वर्ग का ठेका लिया जो मुझे ऐसा इस हाथ दे, उस हाथ ले वाला व्यापार मिला है। छिः! कुछ भी हो, मैं नहीं झुकूंगा! अब मुझे सुख चाहिए!

मैं मुड़ा। हठात् पांव डगमगाया। एक पत्थर सरका। मैं तो लपककर पीछे हुआ कि पास में जो एक लम्बा पत्थर का शहतीर रखा था वह हिला। मैंने दोनों हाथों से ढाने का जुड़ा हुआ पत्थर पकड़ लिया। तभी पहला खड़ा पत्थर कुएं में गिरा।

मैं जब तक संभला, तब तक तो शहतीर टेढ़ा हो गया था और एकदम मैंने कान बन्द कर लिए।

धुंधड़ाम! धूं-धूं···धुंआ हो—धुंआ हो···धध···धड़ड़ड़···और पत्थर सीधा कुएं की तह में जाकर गिरा। भयानक आवाज उठी और तब आवाज आई छन-छनछन···फलफल फलफल फलल···

पश्चिम की ओर कोलाहल मचने लगा। वहां शायद कोई जागा होगा। पर

कोई आया नहीं। कोलाहल जैसे उठा था, वैसे ही शांत हो गया।

कुएं के भीतर से आवाज आती रही…

सुबक डुबक…थपक…थपक…

मैंने झांककर देखा। पानी आ गया था।

पानी !

मैंने दोनों हाथ ऊपर उठा दिए और कहा, "जय जिनेन्द्र !"

और मेरा आश्चर्य तो तब बढ़ा, जब पानी उफनकर कुएं के ऊपर बहने लगा। मैंने छककर पानी पिया और कहा, "कूप देवता ! तुझे सौ बार नमस्कार।"

पानी चांदनी के उजाले में मुस्कराने लगा, जैसे कोई बन्दी बहुत दिन बाद किसी कारागृह से बाहर निकल आया हो। मैं उसका मुक्तिदाता था। पानी ढाने पर से गिरा तो चारों तरफ। मैं घुटनों तक भीगता खड़ा रहा। चारों ओर प्रपात-सी गिरती धारा कुएं की गोलाई को चांदनी में ऐसे चमका रही थी, जैसे वह आकाश का विशाल रत्नजटित चषक धरती पर रख दिया गया हो। वह पानी की आवाज सुनकर जैसे उपवन हंस पड़ा। तब मैं एक वृक्ष के नीचे लेट गया और मुझे लगा कि पुरानी क्यारियों में दौड़ता वह पानी जो चांदनी में चांदी के सांपों-सा चमक रहा था, अपने पुराने मित्रों—वृक्षों, उनकी पत्तियों, बेलों-लताओं से मिलने भाग रहा हो; वह जाकर उनके चरण चूमेगा और फिर वे मित्र उसे सिर पर धर लेंगे, मित्रता से उनका रोम-रोम खिल जाएगा। शायद मैं सो गया।

प्रभात का समय आया और आंख खुलते ही मैंने देखा कि कई लोग वहां खड़े हुए मुझे देख रहे थे। वे बातें भी करते थे, तो बहुत ही धीरे-धीरे। शायद मेरी नींद न बिगड़े, उन्हें इसका ध्यान था। वे शायद सेवक थे। उनके मुख पर विनय तो था ही, मुझे देखकर उन्होंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

मुझे आश्चर्य हुआ।

मैंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

उनमें से एक वृद्ध, जिसके कानों के बड़े-बड़े कुण्डल हिल रहे थे, क्षण-भर कुछ साहस-सा एकत्र करता रहा और फिर उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "आप देवता हैं ?"

मैं स्तब्ध रहा। उसने स्वयं कहा, "कुआं सूख गया। उद्यान सूख गया। तब स्वामी ने इसे इतना खुदवाया कि कारीगरों ने निराश होकर खोदना छोड़ दिया।

राजगृह में इस तरह चलता कुआं सूख जाने से स्वामी की सर्वत्र निंदा होने लगी। आज आपने उस कूप से पानी निकाल दिया!"

तब मैं समझा कि इस सम्मान का कारण क्या था। वह कहता गया, "आपने न खोदा, न छुआ। आपके आगमन से स्वयं धरती फटी, मानो वज्र का हृदय फट गया और भीतर से अमृत निकल आया। इन वृक्षों की प्यास मिट गई। प्रभु! स्वामी आते ही होंगे। हमने हरकारे ही आदमी भेज दिया है।"

इसी समय एक रथ आकर रुका। स्वर्णमंडित रथ पर प्रभात की किरणें पड़ीं। पीछे का रेशमी, भारी और जरी से खचित पर्दा हटा। वृद्ध ने कहा, "आ गए स्वामी!"

कई व्यक्ति उधर चले गए। प्रणाम किया।

मैंने देखा, एक अधेड़ व्यक्ति एक कन्या के साथ रथ से उतरा। वे कुएं के पास गए। पानी को ऊपर उफनते देखकर लड़की हर्ष से ताली पीटने लगी। तब मानो पेड़ चारों ओर खिलखिलाकर हंसने लगे। अधेड़ व्यक्ति के नयनों में आंसू-से भर आए। एक व्यक्ति ने मेरी ओर इंगित किया।

वे दोनों मेरे पास आ गए। मैं बैठा रहा। भूखा था। पुरुष मेरी ओर अत्यन्त विस्मय और श्रद्धा से देखता रहा।

वृद्ध सेवक ने कहा, "स्वामी! न जाने किस तरह इनके प्रताप से पानी ऊपर उमंगकर वह रहा है!"

उस कन्या ने मेरी ओर देखा। वह मानो एक विचित्र वस्तु को देख रही थी। कैसी कमल जैसी थीं उसकी आंखें!

"प्रणाम करती हूं," उसने हाथ जोड़कर कहा, "उस आत्मा को, जिसे पृथ्वी ने पानी पिलाने को अपना जल इतने ऊपर उठाकर बाहर फेंका।" वयस्क मेरी ओर देख रहा था। मैं कन्या की ओर। उसे अपनी ओर देखते देखकर नयन मैंने झुका लिए, परन्तु ऐसा लगा जैसे हृदय पर एक रेखा खिच गई थी। उस आवेश के क्षण में मैं मूर्छित हो गया।

जब मेरी आंखें खुलीं, वयस्क मुझे पंखा कर रहा था और वह लड़की अपनी जंघा पर मेरा सिर रखे थी। उसके कानों के फूल झुककर उसके पराग-रंजित गंडस्थल पर भूल रहे थे और उनके नीचे से मणिकुण्डल झाईं मारकर उसके कपोलों की स्निग्ध स्वच्छता को और भी पवित्र बना रहे थे, जैसे वह तुहिन-धौत कोई

स्निग्ध कमल का मांसल दल था, श्वेत—जिसमें गुलाबी आभा भीतर से फूट पड़ रही थी।

मैं उठकर बैठ गया। वृद्ध सेवक ने मुझे गाढ़ा दूध दिया। मैं दोना मुख से लगाकर धीरे-धीरे पी गया। नवीन चेतना का स्फुरण हुआ। तभी बौर से लदे आम्र की ताम्र सुषमा सहस्रबाहु वसन्त की भांति झूम उठी, क्योंकि पुंस्कोकिल पुकार उठा। और उस क्षण, बस उस क्षण, उस युवती के कपोलों पर लालिमा ऐसी कौंध गई जैसे रागारुण अम्बर में विद्युत् की तृष्णा धीरे-धीरे स्वर्ग के विद्रुम-द्वारों को थपथपा उठी हो। तब वह समस्त उद्यान एक मरकत शोभा से गमकने लगा और विभोर अतीन्द्रियता मेरी चेतना बनकर व्यापक अन्तराल में सिहरने लगी।

वयस्क ने कहा, "आर्य! आप कौन हैं? वनदेवता हैं? ऐसा रूप! ऐसा सौन्दर्य! जिसे देखकर मुझे मन्मथ का भ्रम होता है!"

मैं लजा गया। जानता था, यह पानी निकलने के प्रभाव से उत्पन्न इन्द्रजाल का ही प्रभाव था। अन्यथा पुरुष कभी पुरुष से ऐसी बात नहीं करता।

मैंने कहा, "नहीं आर्य! मैं मनुष्य हूं।"

"तो यह जल आपके ही पुण्य-प्रताप से प्रकट हुआ! राजगृह में मेरी निन्दा होती थी। पुरुष-परम्परा से यह उद्यान चला आता है। मेरे समय में आकर अचानक ही यह शुष्क हो गया। लोगों ने कहा कि श्रेष्ठि कुसुमपाल पापी है अन्यथा ऐसा क्यों होता। यह कुसुमश्री सखियों में व्यंग्य-बाण सहती थी। सम्राट श्रेणिक बिम्बसार ने मुझे बुलाकर स्वयं इसके विषय में पूछा था। मैं क्या उत्तर देता! मैंने राजगृह के सबसे कुशल कारीगरों को बुलाकर इसे खुदवाया। परन्तु जल नहीं निकला। और आपके आते ही यह फूट निकला। मेरे ये सेवक हैं। इनमें से कुछ पास के नगले में रहते हैं। रात को इन्होंने एक प्रचण्ड शब्द सुना। समझे कोई उपदेवता होगा, क्योंकि शापग्रस्त उद्यान में और कौन होता! आज प्रातःकाल आकर देखा..."

वृद्ध सेवक ने काटकर कहा, "मैं आया! लोगों ने कहा—उधर मत जा जरठ (बूढ़े)!—मैंने कहा: नहीं। फिर भी यह स्वामी का उद्यान है।—मैं आया और मेरे नेत्र आश्चर्य से फटे रह गए। जल कुएं के बाहर निकल रहा था। मैंने इधर-उधर देखा। देवता शान्त सोए थे। एक बार एक वन्य फूल पर बैठी तितली उड़ी और आकर देवता के कोमल होंठ पर बैठी और देवता स्वप्न में मुस्करा उठे। तब

वह उड़ गई। शीतल वायु ने देवता के माथे पर पड़ी लट को हिलाया। स्वामी! स्वामी! मैंने तभी प्रणाम किया और लौटकर लोगों से कहा: आज रात श्रेष्ठि कुसुमपाल के जीर्णोद्यान में कोई देवता आया है। उसने इस शुष्क उपवन को हरा करने के लिए पदार्पण किया। उसने धरती से कहा कि जल दे। उसकी आज्ञा से धरती फट गई और जल ऊपर चढ़ने लगा और बाहर निकलकर बहने लगा।—मैंने युवकों को स्वामी के पास भेजा—स्वामी! घर में देवता आया है। यह भाग्यवान है। उत्सव मनाने की आज्ञा दें। हम प्रार्थना करते हैं कि देवता गौरव के साथ राजगृह में प्रवेश करे और स्वामी के भवन में ठहरकर सोए भाग्यों को जगा दे।"

श्रेष्ठि कुसुमपाल ने कहा, "आर्य! इनकी बात सुनकर मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने बार-बार पूछा। मैं समझा, कोई उपहास है। पर इन्होंने बार-बार यही कहा। तब द्वार पर कोलाहल होने लगा। पथ पर जाते प्रासाद के कर्मचारियों को पता चला। तब बेटी ने कहा, 'पिता! चलकर देखिए न!'—और मैं देखता हूं। यह तो सच था!"

मैंने कहा, "श्रेष्ठि! जल अपने-आप नहीं निकला। पत्थर के शहतीर ने तल को फोड़ दिया।"

अवाक् रह गए वे! हूह निकल गई मुंह से। कुसुमश्री ने कहा, "अम्मणि!"

वृद्ध सेवक पुकार उठा, "मत छिपो अब! दयालु! जिस पत्थर के शहतीर को बीस आदमी उठाते थे, उसे उठाकर फेंका तुमने! जय! तुम्हारी जय!"

वह लौट गया।

बात उलटी पड़ गई। मैंने कहा, "वह मैंने नहीं गिराया। स्वयं गिर गया।"

तब कुसुमपाल ने हंसकर कहा, "रहने दो, रहने दो आर्य! तुममें महापुरुष के समस्त लक्षण हैं। शील, विनम्रता, निरहंकार! मेरे भवन को कृतार्थ करना ही होगा। मैं याचना करता हूं।"

कुसुमश्री ने कनखी से देखा और कहा, "चलें आर्य!"

अब वह मुझे याद आता है कि मैं गया तो सही, परन्तु कैसा परिवर्तन था! वह एक जुलूस था। सारा राजगृह टूटा पड़ रहा था मुझे देखने। राजप्रसाद के वातायनों से भी झांकते सिर देखे मैंने रमणियों के।

चर्चा थी—वही है! जिसने कुसुमपाल के उपवन में जाकर पत्थर का शह-

तीर योंही उठा लिया जैसे वह बांस था ! फिर मारा तो पृथ्वी फाड़कर पाताल से खींच लाया जलधारा को। उपदेवता के अनिष्ट घात को खण्डित करके उसने जल को आज्ञा दी कि ऊपर आ। जल ऊपर चढ़कर बाहर निकला और क्यारियों में बढ़ने लगा। यह वही है ! कितना सुन्दर है ! कैसा छलिया है ! इतनी कुलीन है इसकी छवि, फिर भी कैसे साधारण वस्त्र पहने है !

मुझपर फूल फेंके गए। चन्दन चर्चित हुआ। और मैंने सोचा कि अहोभाग्य ! धनकुमार ! संसार में है क्या ? इनसे बढ़कर कोई विचित्रता है ? 'नहीं नहीं' करने से ही लोक जय-जयकार करता है ! यह विचार आते ही मुझे एक नया हर्ष हुआ।

ज्योंही मैं रथ से उतरा, और कुसुमश्री की माता ने मुझे देखा, उसने आगे बढ़कर आरती की, और मुझपर सुहागिनों ने फूल बरसाए, धनी और मानी श्रेष्ठियों ने बढ़कर स्वागत किया। मैं शांत-सा भीतर चला गया। जब मैं बैठ गया, तब सुनहले तारों से कढ़ा मखमल का पर्दा एक सुन्दरी ने हटा दिया और कुसुमश्री ने मेरे सामने रत्नजटित सोने का थाल ला धरा, जिसमें फल धरे थे, सुगन्धित। मेरे भूखे पेट को वह दृश्य स्वर्ग-सा लगा। श्रद्धा और कनखियों से देखते सौंदर्य की वह भेंट और फलों की मादक गन्ध ने मुझे विभोर कर दिया। उस समय मैंने कहा, "श्रेष्ठिकन्ये ! तुमने मुझ दीन-हीन का स्वागत किया है, इसके लिए मैं तुम्हारा ऋण तो नहीं चुका सकता, परन्तु जो राजगृह की इन अकलुष आत्माओं"
—मैंने हाथ चारों ओर घुमाया जिसे सुनकर सब प्रसन्न हो उठे, और फिर मैंने कहा—"ने मुझे स्नेह दिया है, उसकी मैं अकिंचन भी कुछ सेवा करना चाहता हूं। तुम कुसुमश्री हो। राजगृह मधुवन है। तुम नगर की श्री हो। तुम यहां की पुत्री हो। मेरी ओर से यह भेंट स्वीकार करो। तुम्हारे पिता और पूज्यवृन्द मेरा अनुमोदन करेंगे, क्योंकि तुमने मेरी आत्मा के संवर्द्धन के लिए यह फल दिए हैं, अतः तुम्हारे पिता और इन पूज्यवृन्दों को सम्मानित करने का मुझे अधिकार है।"

सभा में कौतूहल जाग उठा। तब कन्या ने पिता को देखा। मैंने पिता को। पिता ने स्वीकृति दे दी। परन्तु किसीको भी वह आशा नहीं थी कि मैं क्या दूंगा। एक विस्मय की आवाज निकल गई। मैंने अपने वस्त्रों में हाथ डालकर जब हाथ बढ़ाकर उसके सामने मुट्ठी खोल दी, तो आंखें चमककर चौंध गईं।

वह गंगा का दिया दान था —मणि ! बड़ी बहुमूल्य मणि। चिन्तामणि जैसा रत्न !

वृद्ध सेवक फुसफुसाया, "देवता ! ऐसी मणि ! आज तक किसने देखी ? राज्यगृह के महामान्य श्रेष्ठियो ! ऐसी मणि किसीके पास है ?"

"नहीं।" एक वृद्ध ने विचलित स्वर से कहा। वह राजगृह का 'दानशूर' कहलाता था।

उस रत्न का प्रभाव ऐसा पड़ा कि वे बातें ही करते रह गए और मैं फल खाने लगा। भूख मिट गई। उठकर सोने के पात्र से ढाले गए सुगन्धित जल से हाथ-मुंह धोए और बैठ गया। दानशूर महाश्रेष्ठि मलयदास ने कहा, "आर्य ! यह रत्न ! यह वस्त्र !"

मैंने हंसकर कहा, "महाश्रेष्ठि ! जीवन एक क्रीड़ा है। यह वस्त्र हैं दारिद्रय के प्रतीक। मैं दरिद्र हूं। यह रत्न मुझे भागीरथी ने दिया था ! मैंने उसे योग्य पात्र के पास पहुंचा दिया।"

"स्वयं देवी गंगा ने !" वृद्ध सेवक पुकार ही तो उठा।

अब सनसनी मच गई। सचमुच वह रत्न ही ऐसा था। मैंने सभा-विसर्जन के बाद स्नान किया। शरीर पर गन्ध लगाई। श्रेष्ठि के भेजे नये वस्त्र पहने। मध्याह्न के भोजन में श्रेष्ठि कुसुमपाल, उनकी पत्नी और पुत्री-पुत्र तथा कुछ निकटस्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्धी थे। मैंने वैसे ही भोजन किया जैसे कभी अवसर पड़ने पर महासेन चण्डप्रद्योत के प्रासाद में किया करता था। वे लोग बहुत प्रसन्न हुए। मैं रत्न देकर हलका हो गया था, मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था इस भाग्य के खेल पर और प्रतिक्षण तैयार कर रहा था अपने को फिर किसी भयानक परिवर्तन के लिए। उसके आने-जाने में देर ही क्या लगती है !

परन्तु आज सोचता हूं कि उस समय की उस प्रफुल्लता के मूल में कुछ और भी था। वह था कुसुमश्री का सान्निध्य। जाने क्यों, सब कुछ बहुत हलका-सा लग रहा था। खूब बातें हुईं। अन्त में श्रेष्ठि कुसुमपाल ने मुझसे मेरा परिचय पूछा। मैंने कहा, "जन्मना श्रेष्ठि हूं। परन्तु मैं तो यात्री हूं महाश्रेष्ठि। इतना ही परिचय होना था। हो गया। भाग्य लाया था, ले जाएगा।"

श्रेष्ठि कुसुमपाल के एक चचेरे भाई श्रेष्ठि नमितपाल ने हंसकर कहा, "कुल और गोत्र छिपते नहीं कभी, चाहे आप कितना ही छिपा लें। शील तो कुलीनों को ही घुट्टी में पिलाया जाता है। अहंकार थोड़े धन में जन्म लेता है, परन्तु आपका गांभीर्य और यह उदारवृत्ति साधारण कुल का लक्षण नहीं है। आपके भोजन करने

के ढंग को देखकर मुझे तो लगा कि आपने अवश्य महाराजाओं के साथ समय व्यतीत किया है। और सौजन्य देखकर कह सकता हूं कि आप निश्चय ही किसी गणराज्य के निवासी नहीं है। कुबेर की शपथ ! क्या मेरी कोई बात गलत है ?"

मैंने कहा, "पितृव्य ! आपकी सूक्ष्म दृष्टि की मैं प्रशंसा करता हूं। फिर भी अकिंचन हूं।" और अपने कुलीन भाइयों की भी मुझे याद हो आई।

कुसुमश्री का मुख मलिन पड़ गया था, खिल उठा। और अन्त में वह मुस्करा दी।

चार दिन में ही ऐसे वे लोग मुझसे घुलमिल गए कि मुझे अपना नाम तो बताना ही पड़ा।

मैंने कहा, "नाम ! शुभ तो नहीं है। है धनकुमार।"

कुसुमश्री ने कहा, "धन के तो आप कुमार हैं ही, सच्चा नाम क्या है ?"

मैंने हंसकर कहा, "जीवन की विडम्बना यही है श्रेष्ठिकन्ये ! मैंने बहुत यात्रा की है और देखा है कि जिसका नाम सिंहपराक्रम होता है, वह चूहे से भी डरता है; और जो धनकुमार कहलाता है, वह बेचारा दरिद्र होता है।"

वह ऐसा बना गई मुंह को, जैसे मुद्रा हो, 'क्या बात करते हैं ! हम क्या इसे मान सकते हैं ?'

अब वह उस विशाल मणि को हार में पहनती थी। महारानी मृगावती ने मणि का हाल सुनकर कुसुमश्री को प्रासाद में बुलाया था। श्रेष्ठिपत्नी भी गई थीं। लौटकर बोलीं महाश्रेष्ठि से, "सम्राट भी वहीं थे। देखकर बोले, 'श्रेष्ठि कुसुमपाल के घर तो भाग्य आ गया है। अब क्या करोगी ?' मैंने कहा, 'देव ! जैसी आज्ञा दें।' बोले हंसकर, 'बांधकर रखो।' और पुत्री की ओर देखकर मुस्करा दिए।"

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ बैठा। बाहर दासियों में ठिठोली हो रही थी। एक कह रही थी, "हला सखी ! आज तो मजा आ गया।"

दूसरी ने कहा, "अरी कैसे ?"

पहली बोली, "अरी सुन ! स्वामिनी तो श्रेष्ठिकन्या के साथ भीतर गईं। मैं वहीं दासियों के साथ बैठ गई। पता चला कि सम्राट को अर्श रोग तो था ही, अब भगन्दर-सा हो चला है। वैद्यराज जीवक लगे हैं तक्षशिला के, दवा देने में। परसों महाराज के रक्त आ गया तो वस्त्र बिगड़ गए। प्रासाद की स्त्रियों ने महाराज को

खूब छेड़ा कि अब तो महाराज को भी ऋतुस्नान करना होगा…"

दोनों खूब हंसीं। वे चली गईं। मैं महाराज की बात, श्रेष्ठिकन्या की लाज-भरी मुस्कान, महाश्रेष्ठि के मुख का तृप्त आनन्द। श्रेष्ठिपत्नी के नयनों का रहस्य-भरा गर्व…एक-एक कर सबके बारे में सोचता रहा।

सन्ध्या अभी आई नहीं थी। योंही घूमने निकल पड़ा श्रेष्ठि की अश्वशाला से घोड़ा निकालकर। वसंती रंग का उष्णीश था। अधोवासक था हलका पीला। उत्तरीय सुनहले तारों का और कंचुक नीला रेशमी, कटि में खड्ग। घोड़ा था काला। माथे पर तिलक। पानी पीता था तो मुंह डालकर। बड़ी ठण्डी और मादक बयार चल रही थी। उष्णीश का पीछे का छोर हवा पर फहरा रहा था। वनप्रान्तर में पहुंचकर उतर गया और एक चट्टान पर बैठकर डूबते सूर्य की सुषमा को देखने लगा। आकाश में नारंगी चमकदार मेघों की ऊन छितरी थी हरियाली पर भीगा-सा नीलापन डाले। एक वृक्ष का विशाल कोटर बहुत ही लुभावना-सा था। उन दीर्घ वृक्षों के पीछे अनेक छोटे वृक्ष थे जिनपर चिड़ियां बहुत ही मीठा कलरव कर रही थीं। देखते-देखते सूर्य पेड़ों की हरियाली के पीछे डूब गया और मैं घोड़े पर लौट चला। जब मैं सिरिमा यक्षी के चैत्य के पास से आगे निकलकर घने पेड़ों के बाहर आ गया, मुझे सुनाई दिया एक अत्यन्त करुण स्वर, "पानी ! अरे कोई पानी…"

फिर स्वर रुक गया। मैं उस तिमिर में किसी अकेले व्यक्ति को तड़पते हुए सोचकर कांप उठा। घोड़े से उतर पड़ा और आगे बढ़ा। देखा, एक व्यक्ति तड़प रहा था। उसके पास ही एक घोड़ा खड़ा था; शान्त ! स्वामी की दारुण यातना को देखता हुआ। स्वामिभक्त भागा नहीं था। मैंने अपने घोड़े की वल्गा छोड़ दी और भागा। पानी ! पानी वहां कहां था ! हठात् याद आया कि कुछ दूर पर एक ताल था। मैंने उस व्यक्ति को उठाकर उसके घोड़े पर रखा और उधर ले चला। मेरा घोड़ा मेरे पीछे आने लगा। हम तालाब के पास आ गए। मैंने उसे उतारा और देखा, वह मूर्च्छित हो गया था। लिटाकर मुंह में पानी डाला। हवा की। अब अंधेरा हो गया था। निर्जन कांतार ! वही सुन्दर स्थल अब डरावना-सा लगने लगा। ध्यान आया। श्रेष्ठि समझे होंगे कि अतिथि मेरा बहुमूल्य घोड़ा लेकर भाग गया। कुछ क्षण बाद फिर उसके मुंह में पानी डाला। तब उसने आंखें खोलकर कहा, "कौन ?"

मैंने उसके हाथ सहलाकर कहा, "यात्री ! क्या हुआ तुम्हें ! अब तो जी अच्छा है ?"

वह मेरी ओर अवरुद्ध-सा देखता रहा। फिर उसने कहा, "मैं कहां हूं ?"

"तुम राजगृह के बाहर हो। कुछ ही दूरी पर नगर है। अब यदि उठ सको तो तुम्हें नगर ले चलूं। वहां अवश्य कोई वैद्य तुम्हारा उपचार कर देगा।"

वह एकदम खांस उठा। और तब उसके मुख से रक्त और कफ ढेर-ढेर निकल पड़े और उसके ऊपर ही गिर पड़े। मैं उसकी पीड़ा से व्याकुल हो गया। उसको सांस जुटाना कठिन हो गया था, और इस चेष्टा में उसके मुंह से कभी-कभी ऐसी चिल्लाहट निकलती थी जैसे कोई गीदड़ चिल्लाने की चेष्टा कर रहा हो, परन्तु चिल्लाने में असमर्थ-सा घुट रहा हो ! जीवित व्यक्ति की ऐसी यन्त्रणा मैंने कभी नहीं देखी थी। मैंने उसे फिर पानी पिलाया और जब वह फिर चुपचाप निश्चेष्ट-सा लेट गया। मैंने अनुभव किया कि मैं रोना चाहता था। यह भी मनुष्य का जीवन था ! इस सत्ता के लिए भी प्राणी मोह कर सकता है ? तब मैंने अपना हाथ बढ़ाया और उसके वस्त्र को हाथ से साफ करने लगा। वह चुपचाप देखता रहा। हां, वह देख रहा था, परन्तु बोल नहीं पा रहा था। मैंने रक्त धोया, कफ धोया और तब हाथ धोकर मैंने उसके माथे को हाथ पर पानी लगाकर तनिक गीला किया। चन्दा चढ़ आया था अब न्यग्रोध के ऊपर, जिसकी किरणों में मैंने देखा कि उस वाणीहीन व्यक्ति के नेत्रों से आंसू बह रहे थे। यातना ने कैसा निर्बल कर दिया था उसे ! कैसा निर्बल-सा पड़ा था वह ! आंसू आ रहे थे अब ! उसका घोड़ा शान्त खड़ा जैसे देख रहा था।

"कहां जाओगे ? अब उठ सकते हो ?" मैंने झुककर कुछ ऊंचे स्वर से पूछा।

वह मुस्कराया और उसने इंगित किया—उंगली उठाकर—आकाश की ओर !

तब मैं सिहर उठा। आकाश की ओर ! और वह मुस्करा रहा था ! आकाश ! शून्य ! इतना चलने के बाद कहां ! कहां का लक्ष्य बांधा ! शून्य की ओर ! इतना ही था इस सबका तात्पर्य ! और अन्धेरे तरुओं पर भीनी चांदनी ने कहा, 'हां, यही है इसका अन्त। अपरिचित स्थान ! अज्ञात क्षण ! अब यह जाएगा ! है कौन ? क्या था यह ? कहां का था ? कोई बात नहीं।' एक मुस्कान और इंगित

—शून्य की ओर ! वहां कौन-सी है वह जगह, जहां यह चला जाएगा ?

मेरा गला रुंध गया। मैंने कहा, "यात्री !"

वह धीरे से बोला, "तुम मनुष्य हो या वनदेवता ?"

"मैं ?" मैंने कहा, "मनुष्य हूं यात्री !"

"तुम !" वह धीरे-धीरे कहने लगा, "तुम मनुष्य नहीं हो सकते। मैंने कभी मनुष्य ऐसा नहीं देखा। मुझे जरा उठा लो।"

मैंने उसे सहारा देकर बिठाया। अब उसका गला कुछ अधिक खुला। वह कहने लगा, "मनुष्य कब निस्स्वार्थ किसीके लिए इतना करता है ? तुम मुझे जानते हो ?"

मैंने कहा, "जानता हूं। तुम कोई दुःखी हो, यात्री हो। मैंने तुम्हें तड़पते हुए देखा।"

"मैं इस निर्जन में तड़प रहा था प्यासा।" उसने कहा, "समझा था, यही अंत होगा···"

वह रुक गया। निढाल-सा हो गया। फिर लगा जैसे उसके पेट में मरोड़ा होने लगा था। वह मेरी गोद से लुढ़क गया और अब तक के शांत व्यक्ति को मैंने एक भयानक संघर्ष करते हुए देखा, जैसे जीवन उसके रोम-रोम में अंतिम युद्ध कर रहा था। मैंने तेज हवा में कांपती दीप-शिखा देखी थी, परन्तु जीवन की शिखा को मृत्यु के अन्धकार में तड़पते हुए देखना मेरे लिए प्रथम अनुभव था। यहां एक व्यक्ति था, शायद राजगृह जा रहा था, शायद यही उसकी अन्तिम मंज़िल थी; और मंज़िल के इतने पास आकर भी वहां नहीं पहुंच पा रहा था, शायद उसकी मंजिल यहीं समाप्त हो गई थी। पसलियां पकड़कर जब वह खांसता और भीतर ऐंठन उठती, तो उसकी कठोर यन्त्रणा देखकर मेरे मेरुदण्ड में कांतरों की पांति-सी चिपक जाती। और मैं बैठा था। कुछ नहीं कर पा रहा था। वह था अपने दुःख का अकेला भोगी। मैं क्या करता ? मैं कभी खड़ा होकर इधर-उधर देखता, कभी उसे सहारा देता और कभी उसे हवा करता, परन्तु अब यन्त्रणा असह्य हो गई थी। वह चिल्लाने लगा, "छोड़ दो मुझे, छोड़ दो मुझे···"

अन्धेरे में वह स्वर भर्राया-सा चीत्कार कर उठा। वह पुकारने लगा, "अब नहीं करूंगा···अब नहीं करूंगा···ओ यम ! अरे मत आ मेरे पास···"

और ऐसा पीड़ा-भरा रोदन गूंज उठा, जो शायद मैंने कभी नहीं सुना।

मैंने उसे सहारा दिया, परन्तु बहुत-सा रक्त उगलकर वह दर्द से बड़ी ज़ोर से कराह उठा और चिल्लाता-सा मुझसे कहने लगा, "अब नहीं सहा जाता···नहीं सहा जाता···"

वह कराहता जाता था···

और जैसे बहुत दूर, सुदूर अतीत में देखते हुए उसने अन्धकार को घूरते हुए कहा, "पाप ! मैंने पाप किया था···हां···मैंने भी उन्हें तड़पा-तड़पाकर मारा था···वे मेरे ऋणी थे···वे दरिद्र थे···मैंने धन के मद में उन्हें भूखा मार डाला था···दास बनाकर बेचा था···"

फिर वह कराहने लगा और तब उसने अपने बालों को नोच लिया और कहा, "राजगृह ! तू मेरा लक्ष्य था···तेरे लिए मैं भागा था घोड़े पर···सोचा था···राजगृह में मैं नगरश्रेष्ठि बनूंगा···परन्तु···परन्तु मुझे काल ने पकड़ लिया मार्ग पर···और वह सारा धन···क्या होगा उस धन का, जिसके लिए मैं सदैव हिंस्रजन्तु से भी अधिक भयानक बना रहा···क्रूर बना रहा···मरतों को देखकर भी कभी नहीं दहल सका। सुवर्ण की ढेरियों से मैंने मनुष्यों की मृत्यु के हाहाकार को ढंक दिया···"

मैं अवाक् सुनता रहा। धन ! वही धन !

और तब वह फिर तड़पने लगा। अब मैं नहीं हिला। जैसे मैं पत्थर बन गया था।

उसने कराहकर कहा, "और तूने मेरा रक्त धोया···कफ धोया···तू देवता है···जीवन के इस अन्धकारमय दारुण नरक के अन्त में तू स्वर्ग की सुगन्धित शीतल वायु का एक झोंका कहां से आ गया···बोल···कौन है तू···"

मैं नहीं बोला। वह तड़पता था, जैसे मछली जीवित ही किसी जलते तवे पर डाल दी गई थी। मैंने धीरे से कहा, "उसकी याद कर यात्री, जो तेरे लिए जीवन में कभी पवित्र था···"

वह अब हंसा। उसका विकराल क्रूर हास्य ! जैसे मृत्यु से चुनौती देने को ललकार उठा। उसने कहा, "उसकी याद ? और अब भी ! उस विष की ? आज ही तो तूने वह विष मुझमें से खींचा है···"

"क्या था वह···" मैंने पूछा।

"धन !···मेरा धन···मेरा संचित धन···"

"यात्रा ! उसे भूल जा ! वह तेरा नहीं। वह अस्थिर था, है और रहेगा··· शांति से मर···वीर की तरह मर···"

"शांति···पाप का पुंज·· मैं·· और मुझे शांति···देगा शांति मुझे···मैं नहीं मर सकता···मेरे पाप का प्रायश्चित्त क्या है···मैं तो तड़पता रहूंगा···तब तक··· जब तक प्रलय नहीं हो जाता···"

"मुझे बता यात्री !" मैंने कांपते कंठ से कहा, "मैं तेरी इच्छा पूरी करूंगा। बता। तेरा घर कहां है···मैं तेरा संदेशा पहुंचा दूंगा···"

"तू लेगा मेरा पाप ? उसे पुण्य बना देगा ? वचन दे !"

"देता हूं।"

"तो घोड़े की पीठ पर बंधा चमड़े का थैला ला दे···यह मेरे प्राण अटक रहे हैं···उसके बिना यह नहीं निकलेंगे···जल्दी कर···"

मैंने थैला निकाला और उसके हाथ में दे दिया। उसने एक बार उसे देखा और कहा, "यह ले···मेरा पाप···पुण्य बना दे···

और जैसे दीपक हठात् बुझ जाए वह एकदम लुढ़क गया। एकदम शांति छा गई।

रक्त और कफ से लिसड़ा वह अनजान यात्री अब पीड़ा से मुक्ति पा गया था, सदा के लिए। मैंने देखा कि असह्य यातना ने उसके मुख को टेढ़ा कर दिया था, जिसके कारण उसकी जीभ भी ऐंठ गई थी और वह भी ऐसा पड़ा था, जैसे किसीने उसे मरोड़ दिया हो, परन्तु उसके नेत्रों में एक मुस्कान थी···

और मेरे हाथ में था उसका पाप, जिसे मुझे पुण्य बनाना था। मैंने अपना उत्तरीय उसे उढ़ा दिया। उसका घोड़ा उसके पास आ गया था और रो रहा था। मैंने घोड़े को रोते देखा तो मुझे भी आंसू आ गए। मैंने अनुभव किया कि एक अनजान यात्री, जो किसी उद्देश्य को लेकर राजगृह जा रहा था, मंजिल के पास आकर सारे अरमान लिए मर गया था और ऐसे तड़प-तड़पकर कि देखना असह्य था। अन्तिम क्षण में उसे लगा था जैसे उसका सारा जीवन एक पाप था, एक जघन्य स्मृति थी, जिसके स्मरण से वह डरता था ; उसके प्राण नहीं निकलते थे। और अब ! वह सदा के लिए चला गया था।

मैंने लकड़ियां इकट्ठी कीं और चिता बनाई और पत्थरों को रगड़कर आग सुलगाकर तिनके जलाए और तब चिता पर उसे लिटाकर आग लगा दी। मैं बैठा

उसे जलते देखता रहा। उस ज्वाला में जाने कैसी पीड़ा थी कि उसका घोड़ा जोर से हिनहिना उठा और भाग चला। मैं बैठा रहा। एक मनुष्य के अन्त को देखता रहा। उसका एकमात्र साक्षी मुझे ही होना था। मेरे ही हाथों उसे दाह लगना था!

चिता की अग्नि फैलती गई और तब उसके उजाले में मुझे ध्यान आया। क्या है उसका पाप जिसे मुझे पुण्य बनाना है? मैंने हाथ बढ़ाकर चमड़े का थैला उठा लिया और खोला। ज्योंही उसे उलटा किया, मेरे हाथ पर हीरे और मोती बरस पड़े। जिसने अपने जीवन-भर इन्हें कमाया था, इन्हीके लिए पाप किया था, इनका ही जिसे इतना भय और मोह था कि उसके प्राण तक नहीं निकल रहे थे; आज वे ही धन के टुकड़े मुझ अपरिचित के हाथ में थे और मैं उन्हें उसीकी चिता के प्रकाश में देख रहा था, जिसने इन्हींके लिए जीवन बिताया था। आज वह स्वयं जलकर अपने जीवन की सार्थकता का पाठ पढ़ाकर, मुझे अपनी चिता के आलोक में दिखा रहा था कि उसने अपना सारा जीवन किस तरह व्यर्थ ही बर्बर और हिंस्र मूर्खता में नष्ट कर दिया था! और इसे मुझे पुण्य बनाना है? इसे पाप कहूं कि पत्थर! इसे पुण्य बनाना है।

मैं ठठाकर हंसा। मेरा घोड़ा मेरे पास आ गया।

तब मैं उठ खड़ा हुआ। चंदा अब उतार पर था। रात सुनसान अंधेरी हो चली थी। भीनी-सी हवा अब फिर बह निकली थी। चिता की अग्नि भी बुझ चुकी थी। मैंने हाथ-पांव धोए। और तब मैं घोड़े पर चढ़ गया और थैला लिए मैंने एड़ लगाई। घोड़ा भाग चला।

अलस अंधेरे की वेला में, मैं सम्राट बिंबसार के विशाल प्रासाद के सामने पहुंच गया। बाहर जो घंटा लटका था, विशेष कार्य से प्रार्थना करनेवालों के लिए, उसकी रज्जु मैंने खींच दी। तुरन्त दो सेवक आ गए। मैं घोड़े से उतर पड़ा।

"क्या चाहते हो?" दण्डधर ने घूरकर कहा।

शायद मेरे बिखर गए थे बाल। शायद मेरे लाल-से थे नेत्र। शायद मेरे अस्त व्यस्त-से थे वस्त्र। मुझे याद नहीं है।

"मैं सम्राट के दर्शन करना चाहता हूं।"

"इस समय?"

"हां, इसी समय!" मेरा स्वर उठ गया था।

प्रासाद का वृद्ध कंचुक आ गया और बोला, "युवक ! सूर्योदय हो जाने दो। तुम्हें विशेष कार्य है कुछ ?"

मैंने कहा, "यह लो ! सम्राट को पहुंचा देना। जिसका यह दान है, वह सम्राट के महानगर के द्वार पर आकर आकस्मिक रोग या दैव से मर गया। वह चाहता था कि इस पाप को पुण्य बना दे कोई। यह कार्य केवल राजा कर सकता है।" मैंने थैला उसके हाथों पर फेंक दिया।

यह कहकर मैंने घोड़ा मोड़ा।

कञ्चुक ने मुझे रोककर इंगित किया, "थैला भीतर चला गया। सम्राट अभी आएंगे युवक ! बैठ जाओ।" कञ्चुक ने कहा। मैं चुपचाप एक फलका पर बैठ गया। जब सम्राट आए, वे कुछ विस्मित भी थे, कुछ घबराए भी।

"कौन है ?" सम्राट ने कहा।

"दास है देव !" मैंने उठकर प्रणाम किया।

"वह तुमने दिया है ?"

"हां देव !"

'वह किसका है ?"

"पाप और श्रम का। एक विनष्ट जीवन का। उसके स्वामी हो सकते हैं केवल देव !"

सम्राट श्रेणिक बिंबसार मुझे देर तक देखते रहे। फिर कहा, "तुम कौन हो युवक ! कहां रहते हो ?"

"मैं धनकुमार हूं देव ! एक विदेशी हूं। इस समय महाश्रेष्ठि कुसुमपाल का अतिथि हूं।"

बिंबसार चौंक उठे और तब उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा, "आओ मेरे साथ।"

झुकते दण्डधरों, प्रतिहारों के बीच से होकर वे मुझे अपने विशाल प्रकोष्ठ में ले गए और स्वयं अपने हाथ से उन्होंने पात्र में पानी भरकर मुझे दिया और कहा, "पियो !"

मैंने गट-गट करके पी डाला उसे। स्वयं सम्राट ने फिर उसे भरा और मैंने फिर पी लिया। और तब मुझे लगा कि मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने हाथ फैला दिए, परन्तु जब मुझे होश आया, मैंने देखा—एक ओर से सम्राट

मुझे संभाले थे, दूसरी ओर एक प्रतिहारी थी। उन्होंने मुझे एक शय्या पर लिटा दिया। सामने जलती चिता देखकर मैं चिल्ला उठा, "बुझा दो उसे! कितनी भयानक है वह चिता!"

मैंने आंखें बन्द कर लीं। दूर से लगा कोई कह रहा था, "देवि! इस दीपक को बुझा दो। युवक अभी अस्थिर है।"

मैं सो गया।

जब मैं जागा तो शरीर काफी हलका-सा लगता था। दासी ने कहा, "प्रभु! स्नान कर लें।"

मैं स्नानागार में पहुंचा तो देखा, संगमरमर के कुट्टिम पर कहीं-कहीं केसर पड़ा था। हंस क्रीड़ा कर रहे थे। उष्ण और शीतल-सुगन्धित जल लिए दासियां प्रतीक्षा कर रही थीं। मैंने देखा और कहा, "एकांत!"

वे सब चली गईं। स्नान करने से मैं जैसे शांत हो गया। भोजन का थाल प्रकोष्ठ में ही आ गया। निरामिष भोजन था। कितने ही तरह के व्यंजन थे। खाकर सोया तो संध्या को उठा। तभी कंचुक ने आकर कहा, "प्रभु! देव ने स्मरण किया है।"

मैं उठ खड़ा हुआ।

विशाल सुवर्ण सिंहासन पर सम्राट उपस्थित थे। एक ओर कुणिक अजातशत्रु, और दूसरी ओर अभयकुमार; दोनों राजकुमार खड़े थे। प्रतिहारी मुझे भीतर ले गई। मैंने झुककर प्रणाम किया।

सम्राट की आज्ञा से मैंने सारी घटना सुनाई, जिसे सुनकर वे कुछ क्षण मौन रहे। कुणिक और अभय भी। तब कहा, "अभय! तुम मेरे साथ चलो। कुणिक हमारी ओर से धनकुमार के लिए एक प्रासाद, और सारी सुविधाएं। वह धन कोष में दे दो।"

"जो आज्ञा देव!" कहकर कुणिक मेरे पास आया। सम्राट और अभय के जाने पर कुणिक से मुझे पता चला कि कुसुमपाल को सम्राट ने बुलाया था और मेरी बहुत प्रशंसा की थी।

मैंने कहा, "मैं अपने घर जाना चाहता हूं।"

कुणिक ने मुस्कराकर कहा, "वह तुम्हारा घर कहां श्रेष्ठिपुत्र! तुम्हारा प्रासाद तो उत्तर कोण में है। सम्राट ने स्वयं अपने लिए बनाया था। तुम हमारे

अतिथि हो। वैसे जाओ अवश्य। कुसुमश्री पथ देखती होगी।"

मैं अकचका गया।

उत्तर कोण में ! प्रासाद ! अपने लिए बनाया था सम्राट ने ! अब मेरा है वह ! मैं कितना हंसूं—भाग्य की विडम्बना पर ! मैं समझ नहीं पा रहा था। श्रेष्ठि कुसुमपाल के यहां पहुंचकर घोड़े से उतरा। संवाद नगर में पहले ही पहुंच चुका था। घर-भर जानता था अब कि मैं सम्राट के पास था। कुसुमश्री मुझे देखकर मेरे समीप आ बैठी। बोली, "आर्य ! मेरी बधाई स्वीकार करें।"

मैंने उसे आंखें फाड़कर देखा। एक बार हमारे नयन उस एकान्त में मिले। मैंने उसके हाथ पकड़कर कहा, "मत दो मुझे बधाई कुसुमश्री ! मुझे भय लगता है।"

"पुरुष होकर भय !" उसने कहा जैसे पुरुष क्या हुआ पहाड़ हो गया ! और सोचा, ठीक ही तो कहती है। स्त्री पुरुष ही की कल्पना करती है। वह नहीं जानती कि अपनी वेदना में पुरुष कितना निरीह होता है। कुसुमश्री ने उच्छ्वसित होकर कहा, "पुरुष शक्ति है !" और फिर मेरे देखते ही लजाकर सिर झुकाकर कहा, "स्त्री प्रेम है। पुरुष और स्त्री ! जानते हो ? सच ! मैं कह नहीं सकती !"

"मैं बहुत व्याकुल हूं कुसुमश्री ! मुझे आधार दो। मुझे सब कुछ होते हुए भी, लगता है, मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ सूना है। सब कुछ शून्य है। चारों ओर एक अत्यन्त क्रूर और निर्मम प्रकृति बिना कहे, बिना सुने, हमें नचाती चली जा रही है। यह क्या है कुसुमश्री ! बोलो ! कुसुमश्री !" और फिर मैंने रात की बात सुनाई।

वह मेरी ओर देखती रही, फिर कहा, "जीवन है तब तक है। कोई कैसे ही मरता है, कोई कैसे ही।"

और सचमुच दो बार उस कहानी को सुनाने पर मुझे लगा कि वह घटना ऐसी कुछ विचित्र नहीं थी। केवल कुसुमश्री ने कहा, "श्रेष्ठिपुत्र ! तुम सचमुच बहुत महान हो। सब कुछ दे डालना तुम्हें सहज है। अपने से कुछ भी मोह नहीं तुम्हें। तभी तो सब तुम्हें चाहते हैं। अब प्रासाद भी नहीं चाहते !"

"तुम चलोगी मेरे साथ देखने ? चलो कुसुमश्री।"

उसने लजाकर कहा, "हाय अभी से !" और उसका कटाक्ष मुझे विभोर कर गया। मैंने कहा, "तुम नहीं चलोगी तो मैं वहां क्या करूंगा !" उस समय मैं नहीं

जानता था कि मैं कितना उच्छ्वासित था। मैंने घुटनों पर टिककर उसके वक्ष पर अपना सिर रख दिया। उसके धड़कते हृदय की आवाज़ मैंने सुनी। उसने मेरे सिर को अपनी छाती पर दबा लिया। मैं कहता गया, "कुसुमश्री! मुझे सहारा चाहिए। धन, अविकार, शक्ति, पाप और पुण्य, परिवर्तन यह सब प्रकृति और दैव के निर्मम खेल हैं। मैं इनसे लड़कर नहीं जीत सकता। यह सब मनुष्य के हाथ की बातें नहीं हैं। मैं इनको समाप्त भी नहीं कर सकता। परन्तु प्रेम मनुष्य की शक्ति है। थोड़ा-सा स्नेह! दे सकोगी कि इस शून्य का विस्तार भर जाए! इस विराट अस्तित्व में तिनके का सहारा यह प्रेम!"

कुसुमश्री ने उसी प्रकार मुझे लिपटाए कहा, "तिनका! जिसे पकड़कर सावित्री ने यम को हराया था, स्वामी!"

स्वामी! मैं विभोर हो गया।

बाहर कुसुमश्री की सखी ने आहट करके कहा, "हला सखी! अब आगे के लिए भी कुछ रहने दो। माता आ रही हैं।"

यह बिल्ली कब से खड़ी थी यहां? हम दोनों लाज से लाल होकर अलग हो गए। कुसुमश्री तो तुरन्त बगल के द्वार से चली गई।

श्रेष्ठिपत्नी आईं। मैंने प्रणाम किया। बैठकर बोलीं, "बैठो श्रेष्ठिपुत्र! प्रासाद से सम्राट् ने कहलाया है। सब सुना है हमने। कुसुमश्री के पिता तो हर्ष से मुग्ध हो गए हैं।" फिर स्वर बदलकर कहा, "श्रेष्ठिपुत्र! कैसे कहूं। मुंह नहीं खुलता कि तुम न जाने क्या सोचोगे। परन्तु अपनी यह पुत्री मैंने बड़े लाड़ से पाली है। इतने दिन से राह देखती थी कि कोई योग्य वर मिले..."

फिर मेरी ओर गूढ़ दृष्टि से देखा।

मैंने कहा, "अम्ब! मैं अज्ञात कुलशील..."

"चलो रहने दो," वे काटकर कह उठीं, "बोलो मत। सब देख रहे हैं। फटे वस्त्रों में भी देखा था तुम्हें। तब नहीं समझ गए थे हम?"

मैंने सिर झुका लिया।

और आज याद करता हूं। क्यों मैं इतने वेग से गया था उस ओर। उस विषाद की अति ने मुझे वासना के प्रवाह में उठाकर दे मारा था। और तब मैं प्रासाद में गया, विवाह हुआ, कुलीनों की भीड़ हुई, सम्राट् आए, वैभव नाचने लगा और तब? तब कुसुमश्री के नयनों में मैं अपने-आपको भूल गया और भूल गई

कुसुमश्री अपने-आपको मेरे संगीत में।

इन्हीं दिनों एक हलचल हुई। महाराज चण्डप्रद्योत महासेन सेना लेकर बढ़ आए। लगा कि युद्ध होगा ही, परन्तु अभयकुमार ने किसी प्रकार उन्हें ऐसा भ्रम में डाला कि वे घबराकर पीछे हट गए। कुछ ही दिन बाद संवाद आया कि चण्ड-प्रद्योत उज्जयिनी से लौटे और धोखा खाने से क्रुद्ध होकर किसी छल से अभय-कुमार को पकड़ ले गए। मुझसे किसीने राय नहीं ली। अतः मैं कुछ नहीं बोला। और फिर मुझे अब कोई टीस नहीं थी। प्रासाद था, दास-दासियां, भृत्य, अनुचर, सैनिक, धन, उद्यान, श्रेष्ठ भोजन था और मित्र थे, जो दिन पर दिन बढ़ रहे थे। सारा समय कला-विलास में बीतता था और सबसे ऊपर थी मेरी प्रिया कुसुमश्री! फिर भी अभयकुमार का पकड़ा जाना साधारण विषय न था। मैं भी सम्राट् के पास गया। संवेदना प्रकट की। मैं बोला, "महाराज! कुछ मेरे योग्य सेवा···"

हंसे। मैंने देखा कि वह व्यक्ति राजनीतिज्ञ था। समुद्र का सा गम्भीर। बोले, "वत्स! राजा किसीका अपना नहीं होता, क्योंकि उसे प्रजा का हित देखना पड़ता है। अभय अभी वहीं रहे, तो युद्ध दूर रहेगा। प्रद्योत में इतना साहस नहीं कि उसे दुःख दे या मार डाले। मेरे गुप्तचरों से मुझे सब समाचार मिल रहे हैं। प्रद्योत हठी और मूर्ख है।"

"तो देव, मैं कुछ···"

"मेरा कौन-सा व्यक्ति कब राज्य के काम आएगा, यह मैं देखता रहता हूं वत्स! जहां तलवार की ज़रूरत होगी तलवार भेजूंगा, जहां सूई की ज़रूरत होगी वहां सूई भेजूंगा। अभी खेलो-कूदो। मैं स्वयं जागृत हूं। हां, तुमने सुना! नगर में ज्ञातृपुत्र महावीर वर्द्धमान आए हैं। वैशाली के क्षत्रिय। गणराजा सिद्धार्थ के पुत्र। कहते हैं लोग, वे तीर्थंकर हैं।"

मैं हंसा। कहा, "इस युग में तीर्थंकर?"

"अरे वत्स!" वे बोले, "वह भी आ गया है।"

"कौन देव?"

"शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम। गणराजा शुद्धोदन का पुत्र। वह अपने को बुद्ध कहता है। मुझे याद है, वह गृह त्यागकर यहां आया था—राजगृह। अच्छा सुन्दर-सा व्यक्ति था। मैं भी उसे देखकर प्रसन्न हुआ था। मैंने उससे कहा था कि धन, स्त्री, अधिकार, जो तू चाहे, मैं दे सकता हूं। उसने कहा: नहीं। यह मेरे

पास था। अब मैं लोक में धर्म की दुन्दुभी बजाना चाहता हूं। मैं सत्पथ खोजूंगा। —वत्स! उस युवक में कुछ था जरूर! उसमें लगन थी। मैंने कहा था : अच्छा! यदि तू कुछ खोज सके तो मुझे ज्ञान देना!—अब वह आ गया है, सारे शाक्य उसके पीछे लगे हैं। कुछ पा गया लगता है। वत्स! ऐसे लोग कुछ कर तो लेते हैं। मैंने अजित केसकम्बल को भी देखा। मंखलि गोसाल से भी मिला हूं। पता नहीं मार्ग किसका अच्छा है! पर हैं ये लोग कुछ ठोस! लोक-मानस को जीतना क्या सहज है? कहते हैं, गौतम ने शास्त्रार्थ में काश्यप को हरा दिया। अरे काश्यप! उफ! उसकी मेधा का डंका गांधार से सुनकर लोग आते हैं।"

मगध में हलचल थी। जगह-जगह विवाद। बुद्ध और तीर्थंकर! दो-दो मानव के पथ! परन्तु मैंने कुसुमश्री से कहा, "प्रिये! ये दोनों कभी मिलते भी हैं परस्पर!"

वह हंसकर बोली, "बस! स्वामी! तुमने कह दी। न मिलने में ही गौरव है। मिलेंगे तो लड़ न पड़ेंगे? एक वन में दो सिंह कभी रहे हैं!"

मैं भी हंस पड़ा। परन्तु राजगृह के भाग चेते। बड़े-बड़े लोग आने लगे। मैंने कहा, "चलो कुसुमश्री, देखें तो। सम्राट, महारानी वैदेही, देवी चेल्लना, देवी मृगावती, सबने हिस्से बांट लिए हैं।"

वह बोली, "स्वामी! एक और आए हैं, आपने नहीं सुना?"

मैंने कहा, "कौन ?"

"शाक्यपुत्र देवदत्त! वे कुणिक के गुरु बने हैं। कहते हैं, ये सिद्धार्थ गौतम के विरोधी हैं।"

"पर सुना है तुमने? अनाथपिंडक ने, जेतकुमार है न? उससे स्वर्णमुद्राओं से पृथ्वी ढंककर मूल्य चुकाकर भूमि खरीदी है उसने। अब जेतकुमार भी एक उपवन बुद्ध के लिए बनवा रहा है! आखिर तो बुद्ध में कुछ होगा ही!"

"स्वामी! कहते हैं, इस सिद्धार्थ गौतम की तो स्त्री यशोधरा अभी जीवित है। यों कहते हैं, वह उसे सोते में छोड़ भागा था।"

यों हम बातें किया करते। मैं सम्राट के साथ दोनों के दर्शन भी कर आया। ये दोनों पहुंचे हुए। वही सम्राट कहते थे, "वत्स! मनुष्य हैं। प्राचीन ऋषि भी किसीसे कम थे? वह भी हैं। सब ठीक है। धर्म तो व्यक्ति का स्वावलम्बन है।"

एक दिन मैं सोच रहा था : धनकुमार! तू क्या था! और अब क्या हो

गया है !—मन ने कहा : वह भटकन थी, व्यक्ति का अतृप्त हाहाकार था। शांति परिवार से आती है, जहां कोई हो अपना। जहां कोई हो जो सुख-दुःख का साथी बनकर रहे। लोक है। सुख-दुःख का भण्डार।—परन्तु एक बात की मुझे कचोट कभी-कभी होती थी। मेरे पास जो अब सब कुछ था, वह क्यों ? किसी पापी के धन का पुण्य मुझे मिल रहा था। उधर सम्राट का कहना था कि सूई और तलवार, दोनों ही वे रखते थे। मैं तलवार हूं या सूई ! यही मेरी समस्या थी।

इसी समय कोलाहल सुनकर मैं बाहर आ गया।

"स्वामी !" उद्यानपाल चिल्लाया, "सिचानक छूट गया। नगर में उत्पात मचा रखा है उसने। बाहर मत जाइए।"

अनुचर फाटक बन्द कर रहे थे, किन्तु मैं घोड़े पर छूट निकला। पीछे कुसुमश्री को देखा। बाद में क्या हुआ मैं नहीं जानता। सिचानक अभयकुमार का प्रिय हाथी था। मैंने विशाल राजपथ पर जाकर देखा, प्रासाद के वातायनों में से राजकुल झांक रहा था। सम्राट ने पुकारकर कहा, "हट जाओ वत्स ! सिचानक पागल हो गया है।"

मैंने पास खड़े घबराए हस्ति-संचालकों में से एक के हाथ से दण्ड छीन लिया और आगे भागा, घोड़ा छोड़कर। और भग्गी पड़ गई थी। सिचानक चिंघाड़ रहा था। चारों तरफ टूट रहा था। ठीक सम्राट के वातायन के सामने आकर वह चिंघाड़ने लगा। उसने अभी चार व्यक्ति कुचल दिए थे, दो को चीर दिया था। दूकानें छोड़कर दुकानदार भाग गए थे। अब एक ओर से बाण चढ़ाए सैनिक आ रहे थे। सम्राट किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। अभयकुमार का प्रिय हाथी सिचानक मरने को था। सम्राट का मुख खुला रह गया था। और उधर अभय पिता के राज्य के लिए बन्दी था।

मैंने खुले में जाकर हाथी को ललकारा। भीमकाय गज ने मुझे देखा और झपटा। उसका वेग देखकर लोग चिल्लाए, "हट जाओ श्रेष्ठि ! भाग जाओ !"

परन्तु आज मेरी नागदमनी विद्या की परीक्षा थी। ज्योंही हाथी पास आया, मैं एकदम उसके पीछे हो गया ; भीड़ चिल्ला उठी। सम्राट, सम्राज्ञी, प्रजा, सब देख रहे थे। मैं अब जीवन और मरण के संकट में था। ज्योंही मैं पीछे गया, हाथी रोष से चिल्लाया और पीछे पलटा। उसने सूंड बढ़ाई। मैंने झाड़ से लौहदण्ड का प्रहार किया। हाथी फिर चिंघाड़ा। अब कोई चारा नहीं था। अब दौड़ होने लगी।

हाथी मुझे पकड़ना चाहता था और मैं कन्नी काट रहा था। मेरा वह अद्‌भुत कौशल देखकर बार-बार जय-जयकार होता, किन्तु मृत्यु मुझपर झूल रही थी। बार-बार के दण्ड-प्रहार से हाथी अत्यन्त विह्वल हो गया। वह कभी-कभी क्रुद्ध-सा पिछले पांवों पर खड़ा हो जाता। सन्नाटा छा गया। उसी समय मैं चिल्लाया, "अंकुश फेंको।"

तुरन्त मेरे और हाथी के बीच कई अंकुश आ गिरे। हाथी टूटा। मैं फिर चक्कर दे गया और तब लगा कि हाथी की सूंड मुझे लपेट लेगी। लोगों की सांस रुक गई, परन्तु मैंने अंकुश उठा लिया और वह हाथ मारा कि हाथी पीछे हटकर फिर चिल्लाया। वह घूम गया कि मैंने लपककर उसकी पूंछ पकड़ी और मुंह में अंकुश दबाकर उससे लटक गया। अब हाथी घबराने लगा। वह बहुत-बहुत चिल्लाया, नाचा, कूदा; पर अब मैं उसकी पकड़ से बाहर था। तभी वह दुष्ट बैठने लगा मुझे नीचे दबाने को, और मैं तुरन्त उसकी पीठ पर चढ़ गया और ज्योंही उसने सूंड उठाने की चेष्टा की, मैंने भरपूर वेग से अंकुश उसके माथे में घुसेड़ा। हाथी चिल्लाने लगा और मैं ऊपर लेटकर अंकुश मारता ही चला गया। हाथी घबरा गया। मार बढ़ती गई और तब नागदमनी संकेत से बोलकर मैं उसे आलान के पास ले चला। जब हाथी बैठ गया और हस्ति-चालकों ने लोहे की जंजीरों में उसे जकड़ दिया, मैं उतर आया। कैसा निर्घोष उठा! कैसा कोलाहल! कैसा जय-जयकार! राजगृह की ईंट-ईंट चिल्लाने लगी।

"जय! सिचानक-विजेता धनकुमार की जय!"

"जय! महापराक्रमी धनकुमार की जय!"

वही पथ। मैं धूलि और स्वेद श्लथ। हाथी ने सूंड हिलाकर मुझे प्रणाम किया। सम्राट, सम्राज्ञी, रानियां, कुणिक, श्रेष्ठकुलीन और नागरिक,...उसी चौक में...और मैं विश्रांत परन्तु अथकित मन...जय...जय...तभी रथ से उतरी कुसुमश्री...प्रसन्नमुख।

श्रेष्ठि कुसुमपाल ने मुझे छूकर सान्त्वना पाई। कहीं चोट नहीं।

सम्राट बिंबसार ने मुझे देखा और स्नेह से कहा, "वत्स! तुम मेरी चितना के अनुकूल हो। अभी तक मैंने तुम्हें बुद्धिमान ही समझा था, परन्तु यह वीरता असाधारण है। सिचानक—तुम इसे नहीं जानते! इस युग का ऐरावत है। इसका दमन करना क्या सहज है? शतानीक का पुत्र उदयन जो चौदहवें वर्ष में ही नाग-दमन में कुशल माना गया, वह अब सोलह का है। वह सिचानक तो क्या, इससे

उतरते मदवर्षक को भी नहीं दवा सका। तुमने सिंचानक को ऐसे दवा लिया! सच!"

"सम्राट!" सम्राज्ञी वैदेही ने कहा, "मैं तो समझी थी कि वत्स अभय का प्रिय हाथी अव मारना ही होगा। तुमने सच हमारी लाज वचा ली श्रेष्ठिपुत्र!"

"और तिसपर," दानशूर मलयदास ने कहा, "नगर में बुद्ध ठहरे हैं, तीर्थंकर ठहरे हैं। यह हाथी उधर ही जाने को था! उफ! पता नहीं क्या हो जाता! धनकुमार! तुम सचमुच परमवीर हो!"

सम्राट ने सहसा कहा, "कुसुमपाल!"

"आज्ञा देव!"

"एक मेरी विनय है। वोलो दोगे!"

"महाराज को अदेय क्या है? ऐसा क्या है जो सम्राट का नहीं?"

"तो अपने इस जामाता को मुझे दे दो। मेरी सोमश्री के लिए।"

कुसुमश्री मेरे पीछे खड़ी थी। मर्यादा के रक्षण में थी। सहसा बोल उठी, "मुझसे कहें पिता! सम्राट को मैं दूंगी।"

मैंने कहा, "क्या कहती हो?"

परन्तु वह वोली, "लोग नहीं समझते कुछ स्वामी! आपके जाने पर सब घबरा उठे।" मैंने कहा, "भयभीत न हो। मेरे स्वामी हाथी को हरा देंगे। वे दैव को हरानेवाले हैं। उनकी सामर्थ्य और पराक्रम तुम नहीं जानते। और जो मैंने कहा था वही ठीक निकला। अब यह अवसर मैं कैसे चूकूंगी? सम्राट और मेरे पिता, समकक्ष होंगे। स्वामी! राजकुमारी सोमश्री मेरी स्वामिनी बनकर रहें। पलकों में रखूंगी। इस समय तुम्हें मेरे सुहाग की शपथ, 'ना' न करना। यह मगध के वैश्यों के सम्मान का प्रश्न है।"

सम्राट बिंबसार ने प्रसन्न होकर कुसुमश्री को अपने गले का रत्नहार देते हुए कहा, "पुत्री! जैसा सुना था, तुझे वैसा ही पाया।"

कुसुमश्री ने हार पहनकर प्रणाम किया सम्राट को।

हो गया। सब कुछ। राजगृह में अद्भुत आनन्द छाया। सोमश्री आई। और नारी नारी ही थी!

अब मुझे अवकाश नहीं मिलता था। सम्राट बिंबसार जैसा व्यक्ति भी क्या सहज समझ में आने को था? मुझे पता भी न चला कि उस व्यक्ति ने मुझे कैसा

बांध दिया। दिन-रात उसीके काम करता, परन्तु कभी उसने काम नहीं बताया; आज्ञा नहीं दी। राय लेता था। और मैं! उसके हाथ का कठपुतला था। घर में सोमश्री, कुसुमश्री, कुसुमश्री, सोमश्री'''बाहर मित्र, श्रेष्ठिगण, नागरिकगण। फिर पच्चीसों शिकायतें लेकर प्रजा। सबका काम कौन करे? धनकुमार! और सब कुछ करके भी हाथ में अधिकार क्या? कुछ नहीं। और कौन-सी ऐसी है जगह जहां धनकुमार की सलाह नहीं चलती? मानता हूं। बिंबसार के सामने चण्ड-प्रद्योत सचमुच बच्चा था। उधर जैनों में बिंबसार की जयजयकार हो रही है, इधर बौद्धों में। वज्जियों से पूछो तो बिंबसार भला। कोसलवालों से पूछो तो वह देवता।

पर तब मुझे नहीं मालूम था। आज सोचता हूं यह सब। उसने मुझे फंसाया भी किस कौशल से! कोई मुझसे ईर्ष्या करता तो किस बात की! मैं जामाता! अधिकार कोई नहीं। वैसे मैं ही मैं। सच मनुष्य भी ऐसा ही है। 'न कुछ' में कितना व्यस्त रहता है! उसके कौशल की पराकाष्ठा मैं आज सोचता हूं। उस समय क्या पकड़ पाता मैं।

अभयकुमार उज्जयिनी में था। यह जानकर नगर में क्षोभ था। एक दिन श्रेष्ठि गोभद्र आए। घबराए-से। सभा भर गई। भरी सभा। सारा राजगृह उमड़ पड़ा। गोभद्र ने बेईमानी की! कोई मामूली बात थी! गोभद्र! जिसका नौ खंडवाला भवन मगध में ही नहीं, दूर-दूर तक विख्यात था। वह बोहरा भी था। उसके यहां मूंछ का बाल रखकर एक दिन श्रेष्ठि मलयदास ने उससे धन लिया था, यह बात और थी कि आज भाग्य ने मलयदास को उससे भी बढ़ा दिया और वह दानशूर कहलाने लगा। गोभद्र के सार्थ संसार पर फैले हुए एक जाल के समान थे।

प्रतिवादी थे गोभद्र और वादी था एक श्रेष्ठि बलभद्र! उज्जयिनी का। उज्जयिनी में था अभयकुमार। ऐसे में उस व्यापारी के साथ न्याय होना आवश्यक था, क्योंकि युद्ध तो राजाओं का था, श्रेष्ठियों का नहीं। इसमें श्रेष्ठियों के विमुख होने की सम्भावना थी।

मैं सम्राट के पास पांचवें आसन पर था।

झगड़ा भी बड़ा विचित्र था। काना बलभद्र कहता था कि उसने छः महीने पहले उज्जयिनी से आकर राजगृह में दूकान खोली थी। वह धनहीन था, सो गया

गोभद्र के पास। गोभद्र ने कहा : बन्धक दो।—बलभद्र ने एक आंख निकालकर दे दी। गोभद्र देखता रह गया। चुपचाप दस लाख मुद्राएं दीं। तब से वह चमक उठा। अब उसके पास धन है और अपनी विवशता के उस स्मारक—उस आंख—को वह लेना चाहता है, पर गोभद्र देता नहीं। धन ले ले और दे दे। एक दिन था, जब बलभद्र की ऐसी भी हालत थी कि यह तक करना पड़ा। पर अब गोभद्र को अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान आया है कि एक दिन धन के पीछे यह इतना अमानुषिक हो गया था। अब यह स्वीकार ही नहीं करता कि इसने ऐसा काम किया। धन नहीं लेता। और मैं तो क्या, उस समय जिन्होंने लोभ की इस सीमा को देखकर इसकी निन्दा की थी गोभद्र ! तू भी सब ले न जाएगा साथ, आज यह उनको भी झुठा रहा है। पूछ लीजिए। मैं विदेशी सही, पर यह तो यहीं के श्रेष्ठि हैं। साक्षी हैं। धन दिलाकर मेरी आंख दिला दीजिए। वह मैं अपनी दूकान पर रखूंगा और कहूंगा—देखो ! यह है गोभद्र की मनुष्यता। जिस दिन मैं भूखों मरने को हुआ था, उस दिन उसने मेरी यह हालत कर दी थी।—सम्राट ! यह कहता है कि बीस लाख मुद्रा दूंगा पर बात को छिपा दे। परन्तु धन से मेरी टीस नहीं मिटेगी देव ! न्याय चाहता हूं। न्याय दीजिए।

प्रतिवादी गोभद्र ने केवल इतना कहा, "सम्राट ! मैं नहीं जानता, यह क्या कहता है। इसे मैंने कल के सिवा कभी देखा तक नहीं। क्या कहूं ! कल यह आया। मैंने अस्वीकार किया। यह चिल्लाने लगा। इसने यहीं के श्रेष्ठियों की साक्षी भी दिला दी। परन्तु मैं ऐसा जघन्य कार्य कभी करता ही नहीं।"

तब साक्षियों ने कहा, "तुमने श्रेष्ठि मलयदास के सम्मान को घटाने को उनकी मूंछ का बाल गिरवी नहीं रखवाया था ?"

गोभद्र सकपका गया। बोला, "वह और बात है ! और यह तो भयानक बात है। विदनीय ! यह झूठ है। वैसे महाराज कहें तो दण्ड मैं भर सकता हूं, परन्तु इस बात पर नहीं।"

गोभद्र अपने एकमात्र पुत्र शालिभद्र की शपथ खाता था। साक्षी सामने थे। जब गोभद्र ने कहा कि बलभद्र के सारे साक्षी उसके कर्जदार थे, तब बलभद्र ने कहा, "बताओ, उनकी धरोहर तुम्हारे पास है ?" गोभद्र ने कहा, "यह तो विश्वास पर दिया गया धन था। अब वे नहीं देना चाहते तो इस तरह मुझे बरबाद करना चाहते हैं।" यह सुनकर मलयदास ने पुराना रोष निकाला और कहा,

"विश्वास ! विश्वास ही करनेवाले होते तुम गोभद्र, तो मेरा अपमान ही क्यों कराते ?"

बलभद्र ने मलयदास की जय बोली। और यह था मामला। बलभद्र ने अन्त किया, "न्याय सम्राट के हाथ है, मैं न्यायार्थी हूं। उज्जयिनी का हूं, यह मेरा अपराध है अवश्य ; पर अब सम्राट की प्रजा हूं। आगे जो भाग्य में होगा, वह स्वीकार्य है।"

अन्तिम बात बड़ी गहरी बैठी। गोभद्र ने सब ओर देखा। कुछ में सहानुभूति नहीं थी, कुछ में थी। पर सब सम्राट की ओर देख रहे थे। मैंने समझा कि सम्राट भी घबराए-से होंगे। यह मामला इतने बड़े न्याय और सम्मान का था। बहुत-से लोग थे। कहते थे कि गोभद्र ने सच कहा। क्या निर्णय हो। उधर उज्जयिनी में अभयकुमार बन्दी था।

परन्तु सम्राट के मुख पर कोई चिन्ता न थी। सुनकर हंसे। हंसे कि सब अप्रतिभ रह गए। एक बार गूढ़ दृष्टि डाली बलभद्र पर और मुस्कराए, फिर देखा गोभद्र को और हंसे। वादी-प्रतिवादी दोनों के मुंह फक पड़ गए थे। सभा बिलकुल स्तब्ध थी। सम्राट ने कहा, "बस ! यही मामला है ?"

वे फिर हंसे और कहा, "धनकुमार ! देखा तुमने, न्याय मांगते हैं दोनों ! और उज्जयिनी में बंदी अभयकुमार को जोड़ते हैं बीच में। मूर्ख ! वह मामला है हमारा और महाराज चण्डप्रद्योत का। इसे उसमें जोड़ने से समझते हैं कि हम न्याय से हट जाएंगे। कितनी-सी बात और इतना आडम्बर ? धनकुमार ! तुम कहते थे : महाराज, मेरे योग्य सेवा !—हमने क्या कहा था, याद है ? लो, अब समय आया है। हम तुम्हारी परीक्षा लेते हैं। देखें, तुम समझते हो या नहीं। न्याय करो इनका। हम उसे देखेंगे। पर ध्यान रहे, पक्षपात न होने पाए। अन्तिम निर्णय हमारा ही होगा। वादी-प्रतिवादी कल आएं।"

मैंने उठकर कहा, "सम्राट ! यह तो···"

सम्राट ने कहा, "अरे, इतने ही से घबरा उठे ! देखो ! दोनों को देखो। देखकर ही पता चलता है, कौन झूठा है।" और फिर दोनों को देखकर कहा, "अपराधी तो मेरी आंख में है। पर नहीं; पहले तुम्हें देख लूं, तब बताऊंगा।"

वे उठ गए। सभा विसर्जित हो गई।

मैं बड़े चक्कर में पड़ गया। सम्राट ने मुझे सारी विपत्ति का केन्द्र बना दिया।

सचमुच राज का खाकर रहनेवाला, उसके बल पर मौज उड़ानेवाला किस तरह तलवार की धार पर बैठा रहता है, इसका मैंने अनुभव किया। राजा किसका ? किसीका नहीं। पुत्र तक को बंदीगृह में रखवा दिया। अब जामाता को फंसा दिया। आप भले बने रहे। अब श्रेष्ठियों की चाल व्यर्थ हो गई। अब तो फैसला श्रेष्ठि देगा। परन्तु मुझे भी तो नमक अदा करना है। न कुसुमश्री मेरी समस्या को हल कर सकी, न सोमश्री। मैंने अपनी ही योजना बनाई।

दूसरे दिन भीड़ जमा थी, बल्कि और बढ़ गई थी। सम्राट बैठ गए, तब मैंने खड़े होकर कहा, "देव ! वादी-प्रतिवादी उपस्थित हैं। न्याय-कार्य प्रारम्भ करने की आज्ञा दें।"

सम्राट ने सिर हिलाया। मैंने कहा, "वादी बलभद्र ! तुम्हारे साक्षी ?"

साक्षी आए। प्रतिष्ठित। गणमान्य।

एक। श्रेष्ठि उत्तमदास।

"हां श्रेष्ठि ! आपने देखा ऐसा ?"

"देखा श्रेष्ठिपुत्र !"

"नहीं," सम्राट ने कहा, "इस समय धनकुमार न्यायाध्यक्ष हैं। मर्यादानुकूल बात करो।"

"हां श्रेष्ठि उत्तमदास ! आप मागध हैं ?"

"पुरुष-परम्परा से आर्य !"

"आपके सार्थ चलते हैं ?"

"हां आर्य, उज्जयिनी तक।"

"आप धर्मानुसार शपथपूर्वक कहते हैं ?"

"हां आर्य।"

साक्षी—दो। श्रेष्ठि मणिवाहन।

वही प्रश्न।

"आपके सार्थ कहां अटके हैं ?"

"उज्जयिनी में।"

उज्जयिनी में अटके हैं सार्थ। श्रेष्ठि उत्तमदास। श्रेष्ठि मणिवाहन। श्रेष्ठि दधिकुमार। श्रेष्ठि सुकुमारदत्त। श्रेष्ठि रघु। और कोई साक्षी ? हां वादी बल-भद्र ! आपको कुछ और कहना है ?

"नहीं आर्य।"

प्रतिवादी गोभद्र।

"हां प्रतिवादी गोभद्र! आपने सर्वश्रेष्ठि उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु को ऋण दिया है?"

"हां आर्य।"

"किस शर्त पर?"

"आर्य! उज्जयिनी से आते सार्थ हमारे होंगे। हम उनका लाभ लेंगे। चौथाई इनका होगा।"

"इससे इन्हें क्या लाभ प्रतिवादी? ऋण इन्होंने क्यों लिया?"

"आर्य! इन्होंने उसी समय लाभ की आशा में ताम्रलिप्ति में नये सार्थ लिए।"

"फिर?"

"अब मेरे अप्रतिष्ठित होने से ये मुझे लाभांश और मूल, दोनों देने से बच जाएंगे।"

"यह झूठ है—" वादी और साक्षी पुकार उठे।

"मर्यादा!" मैंने पुकारा। निस्तब्धता छा गई।

"हां प्रतिवादी, और कुछ कहना है?"

"आर्य! बलभद्र उज्जयिनी का है। महाराज चण्डप्रद्योत ने इसे भेजा होगा।"

"नहीं प्रतिवादी। यह अनुमान हम नहीं सुनना चाहते। हम स्वयं महाराज चण्डप्रद्योत को जानते हैं। श्रेष्ठियों के झगड़े में वे नहीं पड़ते। यह श्रेष्ठियों का पारस्परिक संघर्ष हो सकता है। आप इन्हें दरिद्र करना चाहते हैं। ये आपको। इस झगड़े में राजकुल नहीं आ सकते।"

वादी और साक्षी, "धन्य हैं आर्य, धन्य हैं! हम न्याय चाहते हैं।"

"न्याय मिलेगा।" मैंने कहा, "प्रतिवादी! आपने वादी की आंख बन्धक रखी?"

"नहीं आर्य।"

"याद कीजिए!"

"नहीं आर्य!"

"फिर सोचिए।"

"नहीं आर्य !"

"प्रमाणित होने पर आप दण्डनीय होंगे।"

सम्राट की ओर देखा। इस समय कुछ भ्रांत-से थे। अब वह कौशल मुख पर नहीं था। दोनों वादी-प्रतिवादी चक्कर में थे।

मैंने कहा, "सम्राट की जय! देखिए। कल आपने इन दोनों को देखकर ही अपराधी को पकड़ा था। आज मैंने स्पष्ट कर दिया। अब निर्णय आप ही दें।"

और मैं झुककर बैठ गया। सम्राट ने मुझे देखा। मैं समझा था कि अब सम्राट फंस जाएंगे, परन्तु सम्राट ने हंसकर कहा, "साधु! न्यायाध्यक्ष! साधु! अब तुम्हीं करो। अन्त तक कैसे निर्वाह करते हो, वह भी हमें दिखाओ।"

मैं मन ही मन हार गया। उफ! सम्राट सम्राट ही थे। मुझे खड़ा होना पड़ा। सभा स्तब्ध थी।

मैंने कहा, 'देव! प्रतिवादी झूठा है। इसने वादी की आंख बन्धक रखी थी।"

वादी चिल्लाया, "जय हो! न्यायमूर्ति की जय हो!"

साक्षी भी चिल्लाए।

प्रतिवादी के नेत्र भय और घृणा से फट-से गए। उसका गला रुंध गया। उसने हाथ उठाकर गड़गड़ाते गले से कहा, "यह झूठ है महाराज!"

मैंने कहा, "तुम प्रतिवादी! तुमने मगध के श्रेष्ठियों का नाम डुबा दिया। यह वादी बलभद्र! मनुष्यता के लिए अपना बलिदान देनेवाला व्यक्ति! सत्य के लिए, सत्य को प्रमाणित करने को सब कुछ कर सकता है!"

"न्यायमूर्ति! साक्षात् धर्म की जय हो!" वादी हर्ष से विह्वल-सा चिल्लाया, यहां तक कि उसकी एक आंख से आंसू गिरने लगे।

सभा में रोष का फूत्कार निकला।

गोभद्र का मुख कठोर हो गया। उसने पुकारकर कहा, "यदि गोभद्र पापी है तो मगध रसातल में डूब जाए। प्रमाण देना होगा!"

"दूंगा!" मैंने कहा, "परन्तु महाराज! साक्षी के लिए अभय दें।"

सम्राट ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा और कहा:

"मैं अभय देता हूं।"

"आ जाओ हरिदास!"

हरिदास !! श्रेष्ठि गोभद्र के विश्वसनीय भृत्यों में से ही ? वह हरिदास, जिसका शब्द श्रेष्ठि का शब्द था ! यही क्या स्वामिभक्ति है ? सनसनी । हलचल ।

सोमश्री, कुसुश्री, महाराज्ञी, रानियां, राजकुमारियां ? नगर की प्रमुख स्त्रियां, स्वयं गोभद्र की पत्नी, पुत्री सुभद्रा, वादियों की पत्नियां, सब सभा में थीं ।

हरिदास कांपता हुआ । मुख नीचे किए ।

गोभद्र ने देखा और अविश्वास से झूम गया जैसे चक्कर आ गया हो । हरिदास ने मुझे एक मंजूषा दे दी ।

मैंने उसे खोलने के पहले कहा, "हरिदास !"

"आर्य !"

"तुम श्रेष्ठि गोभद्र के कौन हो ?"

"विश्वसनीय भृत्य ।"

"तुम उनके विरुद्ध हो या पक्ष में ।"

"आर्य ! मैं सत्य की ओर हूं । मैंने सदैव श्रेष्ठि गोभद्र का कल्याण सोचा है । व्यापारी के लिए सबसे बड़ा गौरव धन है । बलभद्र धन देते हैं, लेना चाहिए । गोभद्र नहीं लेते, यह क्षत्रियों का धर्म-हठ वैश्यों को शोभा नहीं देता । कुमार शालिभद्र के भविष्य के लिए धन चाहिए ।"

"हरिदास ! तेरी जीभ गल जाएगी ।" गोभद्र चिल्लाया ।

"मर्यादा !" मैंने पुकारा, "हां हरिदास ! तो श्रेष्ठि गोभद्र ने आंख रखी थी ?"

"हां आर्य !"

"तो तुमने पहले क्यों न कहा ?"

"आर्य ! मैं तो रात को आया हूं वत्स से । मुझे स्वामी गोभद्र ने भेजा था । इस बीच में क्या हुआ मुझे यह क्या पता ? रात सुना तो मैंने सोचा कि शायद स्वामी भूल गए हों, क्योंकि आंख एक ही की तो नहीं, कइयों की रखी हैं । आप देख लें । यह मंजूषा मेरे पास ही रहती थी, और रहती है । इसमें जिस-जिसकी आंख हैं उनके साथ भूर्जपत्र पर नाम अंकित हैं ।"

गोभद्र अवाक् ! वादी चकित ! साक्षी भ्रमित ! भीड़ में घृणा गोभद्र से । सम्राट स्तब्ध, जैसे कोई बात नहीं । कुणिक चिंतित । सन्नाटा ।

मैंने मंजूषा खोली । पढ़ा : "आंख !" अरे इतनी आंखें ! गोभद्र ! तुमने जरा-

संघ की नरवलि की परंपरा को खूब निवाहा ! नयन-वलि लेकर। कहते हैं, कौसल के वन में एक डाकू है जो अंगुलिमाल कहाता है, तुम भी अब नयनमाल कहलाओगे। पहली आंख—रक्त-हास ! "हरिदास, यह कौन था ?"

हरिदास ने कहा, "आर्य ! यह व्यापार की गुप्त बातें हैं। इसमें बड़े-बड़ों के सम्मान हैं। गौरव हैं। नाम सबके ज़ोर से न पढ़ें। सम्राट को दिखा लें और वादी वलभद्र की आंख ढूंढ़ लें। और मूल्य दिला दें।"

गौभद्र को देखा तो ऐसा लगा, वह मर गया था। मैंने वादी वलभद्र से कहा, "तुमने ठीक कहा था वादी ! तुम सत्य पर दृढ़ रहे। तुमने गोभद्र की भयानक और जघन्य धन-लिप्सा को अपनी मनुष्यता से पराजित किया। पर हरिदास ! यह भूर्जपत्र क्यों टूट गए ? क्या हुआ ?"

"आर्य ! पत्ते का क्या है ? चुरमुरा गया। मैं देखूं ?"

देखा और कहा, "सचमुच आर्य ! आंख तो सात हैं। अब पहचान कैसे हो ?"

"अरे वह क्या कठिन है ?" मैंने कहा, "गोभद्र को दण्ड मिलना है हरिदास ! तुम मत डरो, तुम्हें सम्राट का अभय है। पापी को दण्ड मिलना ही चाहिए। और फिर गोभद्र का यह दुस्साहस कि सम्राट के सामने झूठ बोला। नहीं, हरिदास ! तुम भी धूर्त हो। तुमने धन कमाने का भी ढंग ढूंढ़ा और स्वामी को भी संदेह का लाभ दिलवाने की···"

"मैं निरपराध हूं।" कांपते हुए हरिदास ने कहा, "मेरा कोई दोष नहीं। एक बार ऐसी ही घटना पहले हमारे यहां हुई थी। तब आंख की पहचान न होने पर ऋणी ने दूसरी आंख देकर कहा था—लो तोल लो, जो बराबर की हो, वह लौटा दो। वादी वलभद्र स्वतन्त्र हैं, आर्य ! अपनी आंख चुन लें। परन्तु कहीं दूसरे की न ले जाएं आर्य। आप धर्ममूर्ति हैं। न्याय होना चाहिए।"

मैंने चिल्लाकर कहा, "चुप रहो ! तुम समझते हो कि सम्राट के न्यायाधिकरण में अन्याय होगा ? सन्देह का अवसर रहेगा ? तुम नहीं जानते, वादी हरिश्चन्द्र की भांति सत्यवादी है।"

और तब मैंने दण्डधरों से कहा, "वादी की दूसरी आंख निकालो। तुला मंगाओ !"

कोलाहल मच उठा। गोभद्र मेरी ओर ऐसे देख रहे थे जैसे मैं कोई देवता था। श्रेष्ठि-समदाय में कुसुमुस-कुसुमुस चल रही थी। वादी थर-थर कांप रहा था।

एक साक्षी ने बढ़कर कहा, "सम्राट ! यह तो अन्याय है।"

"अन्याय !" मैंने कहा, "इसमें अन्याय ? तुम साक्षी हो बलभद्र के और बोलते हो गोभद्र की ओर। तुम चाहते हो गोभद्र की झूठ न पकड़ी जाए ! तुम नहीं चाहते हो कि आंख तुले और वह अपराधी प्रमाणित हो जाए ! न्याय को छोड़कर तुम मागध होने के नाते अब मागध की ओर बोलने लगे ! किन्तु मैं मागध नहीं हूं। सम्राट के न्यायाधिकरण में अन्याय नहीं होगा !"

यह कहकर मैंने छुरा निकाला और दूसरे हाथ से तुला उठाकर दण्डधरों को संकेत किया।

बलभद्र भागा और सम्राट के चरणों पर गिरकर रोता हुआ चिल्लाया, "दुहाई है महाराज की। यह झूठ है। मैं बचपन का काना हूं। मैं उज्जयिनी का नहीं, कोसल का हूं। मुझे इन उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु ने तैयार किया था गोभद्र के विरुद्ध। मैं बहुत दरिद्र हूं महाराज। बहु-कुटुम्बी हूं। मैंने धन के लोभ से ही झूठ बोला था।"

गोभद्र सुख की अति से मूछित हो गया। सभा में—धनकुमार की जय, धनकुमार की जय—गूंजने लगा। उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु को पकड़ लिया गया। बलभद्र को बांधा गया।

तब मैंने सम्राट से झुककर पूछा, "देव ! आप जिस सत्य को देखकर ही पहचान गए थे, उसे आपका जामाता होने के नाते, मैंने भी खोज ही डाला। मुझे उपहार दें।"

सम्राट के मुख पर हलकी-सी झेंप आई और बोले, "पुत्र ! तू नटखट है। तेरा उपहार संध्या को मिलेगा।"

मैंने हाथ उठा कर कहा, "मिल गया महाराज ! अब 'तू' कहकर मुझे अपने से आपने मिला लिया। मुझे दास बना लिया, यद्यपि सम्बन्ध से मैं आपके लिए वरेण्य हूं।"

सम्राट हंस पड़े। कुणिक भी।

जब एकान्त हो गया तब सम्राट, कुणिक, राजरानियां, मेरे श्वसुर कुसुमपाल, सोमश्री, कुसुमश्री और अन्य निकटस्थ लोग रह गए तो सम्राट ने पूछा, "क्यों वत्स ! कैसे जाना ?"

"देव की आंखें पढ़कर !"

वहुत हंसे। कहा, "अच्छा, पता कैसे चलाया ?"

"हरिदास से।"

"सचमुच गोभद्र आंखें रखता है ?"

"अब महाराज ! आप सब जानकर पूछते हैं ?"

सम्राट मुस्कराकर चुप रह गए।

कुणिक ने कहा, "अच्छा, हमें बताओ भगिनीपति !"

"देव ! आज्ञा दें तो।"

सम्राट ने कहा, "बता दो, बता दो।"

मैंने कुणिक से कहा, "बता दूंगा !"

सम्राट ने कहा, "अभी बता दो। सब उत्सुक हैं।"

मैंने कहा, "मैंने पता चलाया। हरिदास ने कहा—सब झूठ था।—मैंने फिर पता चलाया। पांचों श्रेष्ठियों के सार्थों की बात पता चली। तब माथा ठनका। तब मैंने हरिदास को बुलाकर खूब डांटा और देखा कि वह टस से मस न हुआ, तब यह योजना बनाई।"

सब मेरी प्रशंसा करने लगे, और तब मुझे झेंपना पड़ गया।

तीसरे दिन सोमश्री और कुसुमश्री ने खाते वक्त मुस्कराना शुरू किया। मैं समझा नहीं।

पूछा, "क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं।" कुसुमश्री ने कहा।

मुझे अधिक कौतूहल हुआ।

बार-बार पूछने पर कहा, "श्रेष्ठि गोभद्र ने अपनी पत्नी को भेजा था मध्याह्न में, जब आप प्रासाद गए थे। वे चाहती हैं, उनकी पुत्री सुभद्रा को आप अपना लें।"

"दो बहुत हैं," मैंने कहा, "अब नहीं।"

"पुरुष के हज़ार !" कुसुमश्री ने कहा।

"न, न, दो क्या कम हैं ?" मैंने कहा।

"तब तो अभी मन नहीं भरा। लानी ही होगी।" सोमश्री ने कहा।

और मेरा विरोध व्यर्थ हो गया। गोभद्र द्वार पर खड़े रहे। श्रेष्ठि कुसुमपाल और सम्राट बिंबसार की आज्ञा क्या टाल सकता था मैं ? अब फिर स्वयं पत्नियां

ही मेरे विरुद्ध थीं।

वाद्यध्वनियों और राजगृह के दरिद्रों को बंटते दान के ऊपर से आई सुभद्रा। मैंने देखा और सोचा : अब ? किन्तु नारी का रूप मेरे ऊपर छा गया था। तब वासना समुद्र थी। मैं डूब गया था। कुसुमश्री और सोमश्री से भी अधिक मोहक थी सुभद्रा।

विवाह के एक मास के बाद ही श्रेष्ठि गोभद्र स्वर्गवासी हो गए। सुभद्रा घर चली गई और तभी मेरे जीवन में नया मोड़ आया।

कोई आधी रात का समय था जब मेरे विश्वासपात्र अनुचर मागध ने मुझे जगाया।

मैं अकेला सोता था, क्योंकि सुभद्रा पिता के घर थी, और सोमश्री और कुसुमश्री मातृत्व के पथ पर थीं। वे अपनी दासियों से घिरी हुई सोतीं।

"मागध !" मैंने कहा, "इस समय ?"

"स्वामी ! इसी समय सम्राट ने बुलाया है। अकेले राजकुमार कुणिक आए हैं।"

"राजकुमार कुणिक !" मैं उछलकर उतरा और बाहर खड़े हुए कुणिक ने भीतर आकर कहा, "इसी समय सम्राट ने स्मरण किया है।"

मैं समझा नहीं। तुरन्त खड्ग उठाया और बोला, "चलिए आर्य।"

हमने घोड़े आंगण में छोड़े और युवराज मुझे सम्राट के पास छोड़कर चले गए।

मैंने प्रणाम किया और बैठने की आज्ञा पाकर कहा, "देव ! इस समय ! स्वयं युवराज को भेजकर !"

"हां, वत्स !" सम्राट ने कहा, "कार्य गुप्त था।"

"ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता था !"

"सुनो, पास आ जाओ।"

मैं पास सरक गया। वे कहने लगे।

"अभय के पकड़े जाने से लोग वज्जी संघ में कहने लगे थे कि यह बिंबसार का कपट है कि उसे छुड़ाने का कोई उद्योग नहीं किया। असल में वे अपने पुत्र कुणिक को राज्य देना चाहते हैं। अम्बपाली को यह राजुल्ले वेश्या मानते हैं। वह वेश्या नहीं है। वह तो संथागार ने उसे राज्य की रक्षा के लिए सबकी स्त्री बनाया था।

उसका सम्मान हमारा सम्मान है। कुणिक को राज्य मिलने का अर्थ है वज्जीसंघ को भविष्य में भय, और अभय के राजा होने का अर्थ है वैशाली में शांति। अभय कुछ भी हो, अम्बपाली का पुत्र है। कहीं कुणिक व्यर्थ संदेह न करे, इसलिए उसीको भेजकर तुझे बुलवाया। राजकाज में न पिता पुत्र पर विश्वास करता है, न पुत्र पिता पर। अब परिस्थिति यह है कि वज्जिय हैं क्षत्रिय और सम्राट बिंबसार की कन्या सोमश्री का एक वैश्य से विवाह देखकर उन्हें सन्देह बढ़ गया है। वैश्य वज्जिय क्षत्रियों से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि गणराज्य में वैश्यों को क्षत्रियों के बराबर अधिकार नहीं है, क्योंकि शासन में वैश्यों का कोई हाथ नहीं। अतः वे वज्जी हैं घात लगाए। गंगा-तीर पर जो खानें हैं, उनमें वैशाली और राजगृह, दोनों का साझा है। अभी तक तो बंटवारा चला है, पर इधर संवाद आ रहे हैं कि वज्जियों की नीयत बिगड़ रही है। सीधे-सीधे तो इन गणों पर हमला नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन गणों में एका बहुत है। शाक्य और वज्जिय, मल्ल और विदेह सबके संथागारों में एकता है। किसी गणराज्य में पारस्परिक फूट भी नहीं है। और बुद्ध और तीर्थंकर भी क्षत्रिय हैं। वे इधर भी पूज्य हैं। उधर चण्डप्रद्योत भी महासेन है। यदि उसपर आक्रमण हो, तो जीतना निश्चित नहीं है, और उस अवस्था में अभय का ही जीवित रहना क्या निश्चित है? अभय को छुड़ाने में वज्जिय सहायता नहीं देंगे। देंगे तो केवल उसे मगध का सिंहासन दिलाने में। उस अवस्था में भी गृहयुद्ध हो जाएगा, यद्यपि अभी उसका डर नहीं। अब अभय के न आने से खानों का झगड़ा बढ़ने की आशंका है। अतः वज्जीसंघ और अवन्ति दोनों को ठीक करना है। ऐसे में क्या होना उचित होगा?"

मैंने कहा, "देव! यदि किसी तरह इस समय वज्जियों को यह दिखाया जाए कि साम्राज्य का भविष्य कुमार अभय के हाथ में होगा, और इसलिए उसे छुड़ाने का यत्न हो रहा है; सम्राट क्षत्रियों को ही चाहते हैं, अतः वैश्यों से असंतुष्ट हैं; और उधर अवन्ति को कोई चिन्ता लगा दी जाए तो…"

"ठीक है, ठीक है!" सम्राट ने कहा, "परन्तु कैसे?"

मैंने कहा, "आर्यश्रेष्ठ! अवन्तिराज को किसी तरह संवाद पहुंचाया जाए कि वैशाली अब अभयकुमार को छुड़ाने में तत्पर है। वह चौंककर आपके प्रति युद्ध न छेड़कर वैशाली में गुप्तचर भेजेगा। कुछ गुप्तचर आप अवन्ति के नाम से भेज दें जो स्वयं पकड़े जाएं। वैशाली के लोग आखिर घबराकर आपसे सहायता मांगेंगे।

और तब यह दम्भी क्षत्रिय आपसे दबेंगे। आप खानों का मामला आगे रख दें!"

"साधु!" सम्राट ने कहा। तब मैंने फिर कहा, "और गुप्तचर वैशाली में भेजें जो कोसल के बनकर पकड़े जाएं जिससे उन्हें पता चले कि महाराज प्रसेनजित् अपनी बहिनों के प्रभाव से मगध में कुणिक को चाहते हैं, परन्तु अभी तक सम्राट बिंबसार ही एक ऐसे हैं जो वज्जी संघ के पक्ष में हैं!"

"अद्भुत!" सम्राट् ने कहा, "मुझे मनुष्य को पहचानने में भूल नहीं होती। परन्तु कुणिक कितना महत्त्वाकांक्षी है यह भी सोचा है? वह शायद नहीं चाहता कि अभय मुक्त हो।"

मैं अवन्ति का नमक खा चुका था, अतः नहीं चाहता था कि महाराज प्रद्योत की हानि हो। परन्तु उन्होंने अकारण गर्व से मेरी बनाई शांति उजाड़ी थी, इसका मुझे मन ही मन रोष तो था ही। इसलिए मैंने कहा, "कुछ गुप्तचर वत्स के नाम पर महाराज प्रद्योत के यहां यदि पकड़े जाएं तो शायद अभयकुमार भी छूट जाएं। क्योंकि वत्स और वैशाली और मगध—तीन झंझट प्रद्योत अकेले न झेल पाएंगे।"

"बस यही मैं चाहता था।" सम्राट ने कहा, "मैं नहीं चाहता कि अवन्ति और वत्स में युद्ध हो। मैं चाहता हूं कि अवन्ति और वत्स बस सशंकित बने रहें एक-दूसरे से। इससे मगध मुक्त होकर वैशाली पर दृष्टि रख सकेगा और कोशल और वैशाली से परस्पर चौकन्ने रहने से भी मगध का लाभ होगा। वैशाली, मगध और वत्स के संगठित भय से अभय भी छूट जाएगा और कोसल के दबाव से कुणिक का पलड़ा भी सधा रहेगा। काशी की शक्ति का कोई महत्त्व नहीं। इनमें जब भी जो टकराएगा, मगध निर्णय करके दोनों पर छाने की सामर्थ्य रखेगा। ठीक है?"

"बिलकुल, देव!"

"बस! सोचो, युद्ध से क्या लाभ! अकारण हत्या। हिंसा! है न? शास्ता और तीर्थंकर कहते हैं, मनुष्य को लोभ नहीं करना चाहिए। मैं लोभ नहीं करता।"

"परन्तु अपनी रक्षा तो धर्म है ही सम्राट!"

"यही तो!" सम्राट ने कहा, "अब यह जो भ्रम पैदा करना है कि मैं वैश्यों का विशेष मित्र नहीं हूं, यह कैसे होगा?"

मैं सोचने लगा। तब महाराज ने कहा, "देखो, वत्स का काम भी बड़ा कठिन है। बल्कि मैं चाहता हूं कि वत्स हमारा मित्र बने। सम्बन्ध स्थापित हो। शतानीक

बड़ा अच्छा आदमी है। वत्स के नाम पर गुप्तचर हम भेजें, यह भी सरल कार्य नहीं है। ऐसा न हो, प्रद्योत पूछे और शतानीक कह दे कि वत्स के कोई गुप्तचर नहीं हैं।"

मैंने कहा, "देव ! गुप्तचरों को कौन स्वीकार करता है? वे हज़ार कहें; फिर भी सावधान रहना तो आवश्यक है ही।"

तब सम्राट ने कहा, "अब जो कुछ है, तुमपर है। तुम चाहो तो कहूं !"

मैंने कहा, "महाराज ! मुझे आज्ञा दें और मैं अस्वीकार करूं ? ऐसा कृतघ्न हूं क्या मैं ?"

"तो जामाता ! तुम वत्स जाओ ! सब मैं ठीक कर लूंगा यहां। वहां से गुप्तचर भेजना। शतानीक को मित्र बनाना। मैं जानता हूं, तुम्हारे सिवाय इसे कोई नहीं कर सकता।"

"तो कल चला जाऊं देव ?" मैंने पूछा।

"ऐसे नहीं ! चुपचाप वेश बदलकर दरिद्र के रूप में इसी समय चले जाओ। वैश्यों से मैं असन्तुष्ट हूं, यह भी प्रकट होगा और वैसे वैश्य समझेंगे नहीं। समझेंगे, जैसे आया था, वैसे ही चला गया। ठीक है !"

मैं अचकचा गया। अब मैंने देखा कि मैं बच्चा था, सम्राट नहीं। मैंने कहा, "किन्तु देव ! मेरी स्त्रियों के···"

"मैं जानता हूं। सुभद्रा पिता के घर है। शेष दोनों गर्भवती हैं। सोमश्री यहां आ जाएगी। कुसुमश्री पिता के घर चली जाएगी। अवश्य इन्हें वेदना होगी। तुम्हारे भवन पर मैं अपना अधिकार कर लूंगा। कोई गड़बड़ी नहीं होगी। तुम इसी समय चले जाओ। देखो, वत्स देश में तनिक भी प्रगट न हो कि तुम हो कौन, अन्यथा सब भण्डा फूट जाएगा !"

सम्राट मेरी घरेलू बातें भी जानते थे। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। और तब मैं लाचार था। उसी समय वस्त्र बदले, और फटे कपड़े पहनकर निकल पड़ा। सूनी रात। अंधेरा। और एकदम ! उस वैभव के बाद। गर्भवती स्त्रियां क्या रोएंगी नहीं ? और सुभद्रा ! सब कुछ दूर। अब मैं फिर अकेला हो गया !! राजनीति कितनी कुटिल होती है यह मन ने तभी जाना।

और हठात् मुझे ध्यान आया—इसी तरह तो मृत्यु आती है। क्या यम भी इसी तरह आत्मा को किसी और बड़े काम के लिए ले जाता है, जिसे नहीं समझ-

कर लोग रोते हैं ? क्या यम भी ऐसा ही है जैसे सम्राट हैं ?

उस रात की वेदना और उस रात के श्रम, विवशता और कसक का मेरे सामने अब कोई मूल्य नहीं। कोई मूल्य नहीं है अपनी राजगृह से मगध तक की यात्रा का। इस बार भी मैं मजूर बनकर जा रहा था। और पेट के लिए धंधा करना मैंने पुरपइठान से उज्जयिनी, उज्जयिनी से काशी, काशी से राजगृह तक सीख ही लिया था। उसीने मुझे जीवन का वह सत्य बताया था, जिसे न जानकर लोग स्वार्थ में डूबते हैं। मैं ! वणिक्पुत्र ! एक ही बार व्यापार किया मैंने। और वह थी ईश्वरदत्त से बेईमानी ! फिर मैंने व्यापार किया ही कब ! या तो राज्यों में रहा हूं, या फिर रहा हूं भिखारी। आकाश और पृथ्वी का चारी रहा हूं। मणियों से खेला मैं, भोग लिया मैंने वासना का सुख और फिर धूल चढ़ाकर चला हूं सिर पर।

कहां जा रहा हूं मैं ?

कोसांबी ! हस्तिनापुर के डूबने पर कुरुकुल की बसाई कोसांबी को। वत्स देश की राजधानी की ओर। प्रासादों और श्रेष्ठियों के वैभव का वास्तविक रूप, दरिद्र जीवन में उतरा हुआ यह जीवन ! फिर भी अच्छा है यह उन दुरभिमानी क्षत्रिय संघों से ! अहिंसा का ढोंग रचते हैं वे, तीर्थंकर और शास्ता के नाम पर ! और बुद्ध प्रशंसा करते हैं उन दंभियों की ! संघ के नाम पर ! स्वयं अपना संघ बना रहे हैं वे गण की नकल पर ! और वे लोक को जाग्रत् करने को नया संघ बना रहे हैं, भिक्षुओं का। मैं बनाऊंगा एक आदर्श व्यवस्था अब ! मैं एक आदर्श नगर बसाऊंगा।

यही सोचा था उस दिन। परन्तु फिर सोचा था, कैसे ?

धन कहां है ? साधन कहां हैं ? राह के भिखारी !

और याद आया था। पत्नियां क्या करेंगी, जब सुनेंगी कि मैं सब छोड़कर चला गया। सम्राट अपनी पुत्री तक को नहीं बताएंगे। ऐसी है विडम्बना राजनीति की, जिसे मनुष्य कर्तव्य कहता है ! मैंने भी पढ़े हैं अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र ! वे सब मनुष्य के पाप के साक्षी हैं, जिनपर लज्जा करना हमारा जन्मजात अधिकार है। राजा होना बहुत बड़ी बात नहीं है। राजा वही होता है जो अन्यों से अधिक छल जानता है। परन्तु वैसे वह बहुत बड़ा मूर्ख होता है, क्योंकि अपने स्वार्थ में डूबा हुआ वह सदैव ग्रस्त-सा रहता है। उसके इंगित में होता है नाश,

किन्तु सुजन ! और मैंने देखा था बिंबसार को ! महावीर और गौतम के सामने। ये लोग क्या थे, जो राजा, महाराजा, सम्राट भी इनके सामने दीन बन जाते थे। मैं स्वयं गया था इनके सामने। ऐसा लगता था कि ये ऊंचे हैं, हम नीचे हैं। हम उन सीमाओं तक पहुंचे भी नहीं हैं, जहां ये पहुंच चुके हैं ! क्यों ! क्योंकि ये वासना का त्याग कर चुके हैं। यदि वासना त्याज्य है तो स्त्री क्या है ? पुरुष का खिलौना ! खिलौने में आकर्षण होता ही है। जो हो, इतना सत्य है कि लोक अंधकार में है। उसे शासक चाहिए ऐसा, जो उसका सुख देखे। यही दार्शनिकों ने कहा है, परन्तु इसपर व्यवहार कौन करता है ! क्या है आज राजा का जीवन ! तबियत का खेल। उसे ग्रामीण, माण्डलिक, सबका ध्यान रखना पड़ता है अवश्य, परन्तु वैसे वह व्यक्तिगत जीवन में प्रायः सनक से काम लेता है। संदेह उसका धर्म है; क्रोध, अहंकार उसके साथी हैं। उसकी तो प्रसन्नता भी बुरी और अप्रसन्नता तो है ही। और लोक ही ऐसा है। सच बोलो, विनम्र रहो—ये दो बातें न जाने कब से दुहराई जा रही हैं। कभी लाखों-करोड़ों में एक-दो सच बोलते हैं, एक-दो होते हैं नम्र। सच बोलनेवाले मूर्ख और विनम्र, बोदे समझे जाते हैं। अयोग्य रहते हैं सत्तारूढ़। जब तक योग्य व्यक्ति सत्ता पाता है, तब तक वह इतनी मुसीबतें उठा लेता है कि उसमें एक कटुता छा जाती है। नम्रता उनका हथियार है जो लोगों को ठगते हैं, जैसे वैश्य ! और दुनिया है कि वही जा रही है, वही जा रही है। मैंने ही चण्डप्रद्योत का नमक खाया है। अब मुझे उसीसे चाल खेलनी है। उसीके राज्य में मेरे माता-पिता हैं, भाई-भाभियां हैं। अब तो भतीजा भी बोलने लगा होगा। दादा-दादी का मन बहलने लगा होगा। उधर अभयकुमार को छुड़ाना है। मैंने बिंबसार का भी तो नमक खाया है। क्या करूं ? राजा में दया-ममता नहीं होती। अपने जामाता को ही दांव पर लगा दिया। पर ऐसे खास आदमी को न लगाता तो करता भी क्या ? अभयकुमार तो स्वयं सम्राट का पुत्र है। उसे भी तो दांव पर लगा रखा है ! और मुझे कितना बड़ा काम करना है ! सम्राट का तो कहीं नाम ही नहीं। मुझे ही ऐसे आदमी ढूंढ़ने हैं वत्स में, जो जान पर खेल जाएं अवन्ति जाकर। ऐसे तो दरिद्र ही हो सकते हैं। उनके लिए बहुत धन चाहिए। मुझे तो सम्राट ने एक कानी कौड़ी भी नहीं दी। कमाऊं भी मैं, लगाऊं भी मैं। इतने दिन जो खिलाया-पिलाया था, वह सब वसूल कर लिया इस तरह। कौन चतुर रहा ! मैं कि सम्राट ? और फिर शतानीक को पता भी नहीं

चलना चाहिए कि मैं कौन हूं ! और कहीं बिना कुछ किए भाग न जाऊं, इसलिए मेरे घर पर कब्जा कर लिया है बिंबसार ने और उससे भी बढ़कर मेरी स्त्रियों पर और मेरे होनेवाले बच्चों पर !

उनका स्मरण करते ही हृदय स्नेह से भर आया। कुछ भी हो। इस बार तो यह सब करना ही होगा। क्या है ! मनुष्य कर्म न करे तो करे भी क्या ! यह जो दार्शनिक बुद्ध और तीर्थंकर कहते हैं कि मनुष्य की कोई जाति नहीं, फिर भी सब क्या समान हैं ? ब्राह्मण अपने वेद को लिए फिरते हैं। वैष्णव अपने देवता को। देवता क्या हैं ? वे भी मनुष्यों की भांति एक योनि-मात्र हैं। उनको भी कर्म बांधता है। मनुष्य बढ़कर देवता होता है। कर्मानुसार होता है वह विद्याधर और अंततोगत्वा तीर्थंकर ! पार्श्वनाथ तीर्थंकर थे। क्या महावीर वर्द्धमान भी वैसे ही हैं ? वे क्षत्रियत्व का गर्व नहीं करते। गणराजा के पुत्र हैं। वैशाली के गर्वीले क्षत्रिय के पुत्र। सम्बन्ध हैं उनके सम्राट बिंबसार से। गणराजा चेटक उनके नाना हैं और सम्राट बिंबसार को ब्याही है चेटक की दूसरी पुत्री, महावीर वर्द्धमान की मौसी। फिर भी वे सम्राट के यहां नहीं ठहरते। ठहरते हैं कुम्हार—शूद्र के घर ! क्या है यह सब ! और फिर मुझे विचार आने लगे। वे रातें जो मैंने कुसुमश्री, सोमश्री और सुभद्रा के साथ बिताई थीं। वे दोनों माता होनेवाली हैं। उनको तो संतान का सहारा मिल जाएगा। पर सुभद्रा ! उधर पिता की मृत्यु, इधर पति गायब। वास्तविकता तो सम्राट जानते हैं या मैं। पर वे तीनों और सब तो यह नहीं जानेंगे कि मैं कभी लौटूंगा भी। कैसे व्याकुल होंगे वे सब ! अंधेरा छा जाएगा। स्त्री के लिए पति ही तो है सब कुछ। तभी तो उसने भी आदत डाल ली है सौत झेलने की। पुरुष भला रह सकता है ऐसे ? कहते हैं, द्रौपदी के पांच पति थे और अब भी हिमालय में बहुपति-प्रथा है। कौन जाने ! पर सभ्यों में ऐसा कहां होता है ! क्या हम सचमुच सभ्य हैं ? मैं नहीं जानता। किन्तु वे दुःख करेंगी। वैसा ही शायद जैसा उज्जयिनी से मेरे चुपचाप चले आने पर माता-पिता ने किया होगा या पुरपइट्ठान से चले आने पर मेरी पज्जा अम्मां ने···

पज्जा अम्मां की याद आते ही आंखें पसीज आईं। शायद सब मिलें, मिलें न मिलें, सबसे मिलने की आशा तो है, परन्तु अब पज्जा अम्मां तो कभी नहीं मिलेगी।

मन भारी हो गया। फिर सोचने लगा—क्या मैं सफल हो सकूंगा ? क्या यह

कार्य पूरा होगा ? क्या अभयकुमार को मैं छुड़ा सकूंगा और महाराज प्रद्योत की हानि किए बिना ? बिना युद्ध के, बिना रक्तपात के। वासवदत्ता अभी छोटी होगी अन्यथा उसका उदयन से सम्बन्ध करा पाता तो सफलता मिलती। परन्तु यह बहुत बड़ी कल्पना थी !

जो होगा देखा जाएगा।

'णमो अरिहन्ताणं', कहकर मैंने कोसांबी में प्रवेश किया। सादे मगर कुछ फटे-से वस्त्र थे। अपरिचित स्थान की भीड़ मनुष्यों के वन की भांति दिखाई दी। बालक को शिक्षा दी जाती है कि बिना जाने मनुष्य का विश्वास न करो। इसी सिद्धान्त को सारा संसार मानता है। तब मैं सोचने लगा कि क्या करूं।

मैं एक धर्मशाला के द्वार पर बैठ गया और हाथ देखनेवाला ज्योतिषी बनने की सोचने लगा। इतना मैं राजगृह में सुन चुका था कि महाराज परंतप शतानीक की एक कन्या सौभाग्यमंजरी लगभग बीस वर्ष की थी, जो योग्य पात्र की प्रतीक्षा में थी। उदयन राजकुमार की माता विचित्र थी। उसे उदयन के गर्भ के समय एक दोहद हुआ था—मनुष्य-रक्त में स्नान करने का, जिसके फलस्वरूप उदयन को उसके पिता ने एक तपोवन में रखा था, जहां से वह तभी राजधानी को लौटा, जब वह बारह वर्ष का हो गया। उदयन को हाथी पालने का बड़ा भारी शौक था, और वीणा वह ऐसी बजाता था कि हाथी मुग्ध हो जाता था। सारे लक्षण ऐसे थे, कि उसके प्रतापी राजा होने की आशंका थी। कुणिक और उदयन ! दो ही थे जिनके विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। अभय से लोग मन में अप्रसन्न-से थे, क्योंकि वह बहुभोग्या अम्बपाली का पुत्र था। अम्बपाली को वे वेश्या मानते थे। गण-क्षत्रियों के दम्भ को मैं भी नहीं चाहता था। सामुद्रिक शास्त्री बनने के लिए कुछ आडम्बर की आवश्यकता थी और मैं नंगा था, मेरे पास कुछ भी नहीं था। नगर में मजूरी करने का विचार मुझे ग्राह्य नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा, मैं उठा और नगर की हाट की ओर चल पड़ा।

एक जौहरी की दुकान पर पहुंचकर मैं बैठ गया। मेरे वस्त्र देखकर उसने कहा, "क्या चाहते हो ?"

वह स्वर अपमानजनक, कठोर और शुष्क था। मैं जानता था कि इस संसार में मनुष्य का कोई मूल्य नहीं, वस्त्रों का होता है।

मैंने कहा, "कुछ रत्न देखना चाहता हूं।"

"क्या करोगे देखकर !" उसने व्यंग्य से कहा।

"यदि मेरे पसन्द आएगा तो खरीद लूंगा।" मैंने उत्तर दिया। परन्तु जानता था कि इस खेल का परिणाम आज ठीक नहीं निकलेगा।

रत्न-विक्रेता हंसा और अपने सेवक से बोला, "मण्डूर ! वणिक्-श्रेष्ठ आए हैं। दिखा तो ! इन्हें तो बड़ी पहचान होगी !"

मण्डूर भी हंसा। मुझसे बोला, "जाओ भैया ! यह वह दुकान नहीं है। परसों-तरसों की बात है। एक विदेशी ने भांग खाकर किसी दूधवाले के यहां दूध पिया। कुछ कपर्दिका बाकी रहीं। दूधवाले ने दूसरे दिन दे देने का वायदा किया। क्योंकि विदेशी ने कहा कि फिर कल पी जाऊंगा। जब भांग खाकर आया हुआ वह विदेशी चलने लगा, तो दुकान की पहचान के लिए देखा। सामने एक बिजार बैठा था। उसे देखकर चल दिया। दूसरे दिन सायंकाल फिर भांग खाकर दुकान ढूंढ़ने चला, तो बिजार को ढूंढ़ने लगा। अन्त में बिजार मिला एक लुहार की दुकान के आगे। देखते ही विदेशी चिल्लाने लगा, "कोसांबी के दुकानदार साले सब चोर हैं। चार कपर्दिका के पीछे बेईमान रातोरात धन्धा बदल बैठा !"

रत्न-विक्रेता हंसते-हंसते लोट-पोट हो गया। "अरे मण्डूर ! तू सदा ऐसी ही बात करता है। पर हर विदेशी एक-सा नहीं होता।"

"स्वामी !" मण्डूर ने कहा, "कल ही की तो बात है। मैंने देखा एक बंध्या बच्चों के कपड़े खरीद रही थी। पूछा मैंने : अरी यह क्या ?—बोली : अरे तो क्या होंगे भी नहीं।"

अब क्या था, श्रेष्ठि रत्न-विक्रेता तो लोट-पोट हो गया। मण्डूर ने मुझसे कहा, "प्रभु ! इस दुकान पर महाराज शतानीक जैसे दीन-दरिद्र आते हैं। आप आगे कोई स्थान देख लीजिए न।"

वे समझे थे मैं चिढ़ूंगा, गाली दूंगा। परन्तु मैंने हंसकर कहा, "मित्र ! रत्नों के बीच मण्डूर[1] रहे और विदेशी इसपर यहां न टिके तो कहां जाए ? अवश्य यहां रत्न के नाम पर कांच भी होगा। वही मैं ले जाऊंगा। यदि मैं परख न सकूं तो तुम जीते। यदि मैं परख कर गया, तो तुम और तुम्हारे स्वामी मुझे क्या देंगे ?"

मण्डूर को चोट पहुंची। वह दिल्लगी से ही शायद अपने स्वामी को प्रसन्न

---

१. लोहे का मैल।

किए था। मेरी बात सुनकर चिढ़कर बोला, "तुम परख करोगे? मुंह देखा है?"

"देख रहा हूं! तुम बहुत सुन्दर हो!"

रत्न-विक्रेता स्वभाव के हंसोड़ निकले। वे पक्षपात नहीं करके, बात पर हंसते थे। बोले, "रे मण्डूर! तूने किसका मुंह देखा है, यह तो बताया ही नहीं।"

मैंने देखा आदमी अच्छा था। कहा, "तो मण्डूर! आओ शर्त बदो।"

मण्डूर ने उत्तेजित होकर मेरे सामने एक मंजूषा खोल दी और कहा, "परखो! बताओ इनमें क्या दोष है?"

मैं एक-एक रत्न उठाकर जब दोष बताने लगा, तो रत्न-विक्रेता बोले, "अरे भैया! तुम तो गजब करते हो! ऐसे वस्त्र पहन रखे हैं कि कोई क्या कहे। बन्द कर दे मण्डूर! ऐसे दो-चार भी ग्राहक आ गए तो दुकान बैठ जाएगी।"

मण्डूर ने मंजूषा तो बन्द कर दी पर स्वामी से कहा, "प्रभु! ये अवश्य रत्न-विक्रेता हैं। समय ने इन्हें उजाड़ दिया है, अन्यथा इस मंजूषा के रत्नों के दोष तो स्वयं महाराज शतानीक भी नहीं पहचान सकते।"

इससे मुझे ज्ञात हुआ कि महाराज रत्नों के गहरे पारखी थे। मैंने कहा, "इस मंजूषा के रत्नों के दोष मैं दूर कर सकता हूं। परन्तु यह सब सस्ते रत्न हैं। मुझे चाहिए और भी मूल्यवान रत्न!"

रत्न-विक्रेता सुत्यक मेरे समीप आ गया और बोला, "मित्र! इनके दोष दूर कर दो तो मैं तुम्हें लाभ कराऊंगा।"

मैंने हंसकर कहा, "लाभ तुम कराओगे? क्या लाभ कराओगे?"

"आधा दूंगा।"

मैंने फिर हंसकर कहा, "श्रेष्ठि! मुझे यह रत्न नहीं चाहिए। इस छोटे लाभ से मेरा क्या होगा? मेरे रत्नों को अम्बपाली पहनती है, जो एक रात की आठ हज़ार सुवर्ण मुद्रा लेती है। जिसके चरणों पर वज्जिय क्षत्रिय और सम्राट बिंब-सार लोटते हैं। तुम्हारे रत्नों के दोष तो मैं मुफ्त मिटा दूंगा। पर कोसांबी दरिद्र है यह मुझे याद रहेगा।"

यह कहकर मैं उठ खड़ा हुआ।

और फिर कहा, "रत्न भाग्य से मिलते हैं।"

"भाग्य!" सुत्यक ने कहा, "मैं कोसांबी का सर्वश्रेष्ठ रत्न-विक्रेता हूं। रत्न!

रत्न तो कोशांबी में ऐसे हैं कि तुमने देखे न होंगे। महाराज शतानीक के पास एक ऐसा रत्न है कि आज तक कोई उसे परख नहीं सका। उनकी तो घोषणा है कि जो मेरा रत्न परखेगा, वही मेरी पुत्री, सौभाग्यमंजरी का स्वामी होगा। इसी प्रतीक्षा में पुत्री की आयु इतनी हो गई और विवाह नहीं हुआ। पुत्री है वह! स्वर्ग की अप्सरा है हमारी राजकुमारी। पर तुम्हें मैं प्रासाद कैसे ले जाऊं? यह वस्त्र पहनकर चलोगे तो दण्डधर भीतर नहीं जाने देंगे।"

"वस्त्रों का क्या?" मण्डूर ने कहा, "बदल लेंगे!"

मैंने हंसकर कहा, "मित्र मण्डूर! मैं लोहा हूं मण्डूर नहीं। मैं तुम्हारे महाराज से क्या मिलूं, जो मनुष्य को वस्त्र देखकर परखते हैं। रत्न कहां से निकलता है श्रेष्ठि?"

उसपर मेरी बात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उठा और बोला, "चलें आर्य! मेरे घर चलें।"

जब मैं उसके साथ भीतर चला तो पता चला कि वह बहुत बड़ी दूकान थी, जिसमें कई सेवक थे। जहां मैं गया था वह तो दूकान का वह भाग था जो पिछवाड़े की छोटी सड़क पर खुलता था। वहां सुत्यक एकान्त के लिए बैठकर अपने मुंह-लगे सेवक मण्डूर से पांव दबवाता था। हाट में सुत्यक को देखकर सब प्रणाम करते, तब मुझे पता चला कि मैं अचानक ही कोशांबी के बहुत बड़े श्रेष्ठि से टकरा गया था, वह जिसकी दूकान के पिछवाड़े तक में बहुमूल्य रत्न रखे रहते थे। उसके भवन पहुंचने पर उसके वैभव का ज्ञान हुआ। हाट और घर सब जगह मुझे ससम्मान लेकर वह जब चला, तो मेरे बारे में लोगों को कौतूहल हो गया।

उसने मेरी बड़ी सेवा की। रात को बहुमूल्य पर्यंक पर सुलाया और मैं फटे कपड़े पहने उसपर ऐसे सो गया जैसे मैं उससे बिलकुल प्रभावित नहीं था। उसके किसी भी वैभव ने मुझे चमत्कृत नहीं किया, क्योंकि मैंने भी वैभव देखा था और अब भी अपने को वैभव का स्वामी समझता था। सुत्यक ने चतुर दृष्टि से पहचाना और कहा, "आर्य! नाम तो सुना। धनकुमार! अब परिचय दें।"

मैंने कहा, "अज्ञात कुलगोत्र हूं।"

"न बताएं। पर कल बताना होगा। महाराज को सूचना भिजवा चुका हूं कि रत्नपारखी ला रहा रहा हूं, एक और।"

मुझे लगा, अब भाग्य फिर करवट ले रहा था।

सुत्थक के जाने पर मैं सो नहीं सका। रात-भर तरह-तरह की यादें आती रहीं।

प्रातःकाल स्नान करके जब मैंने वही वस्त्र पहने, सुत्थक देखता रहा। बोला नहीं। अन्य जौहरी भी आ गए थे। हम सब प्रासाद पहुंचे। महाराज ने हमें भीतर बुला भेजा। स्वयं एक रत्नजटित आसन पर बैठकर उन्होंने हमें पारसीक कालीन पर बिठाया। प्रकोष्ठ में भीतों पर उनके हाथ से शिकार किए गए अनेक जन्तुओं के सिर लटक रहे थे, मसालों से भरे।

"परीक्षा कौन करेंगे?"

सुत्थक ने मेरी ओर इंगित किया। जौहरियों को आशा थी कि महाराज हंसेंगे। पर वे हंसे नहीं। क्षण-भर देखते रहे, फिर बोले, "ले आओ!"

एक दासी ने स्वर्ण के थाल में मणि को लाकर रख दिया। मैंने देखा। गंगा-तीरवाले मणि से छोटा था। न उतना मूल्यवान ही था। मैंने कहा, "देव! वह रत्न कहां है जिसकी मैंने इतनी प्रशंसा सुनी थी!"

महाराज का मुख क्रोध से तमतमा उठा। जौहरी कांप उठे। सुत्थक को लगा कि मारा गया।

"क्यों?" वे गरजे। "इसमें दोष है?"

"अभय दें देव! पारखी को सत्य का अधिकार दें।"

राज्य के सबसे बड़े पारखी वे स्वयं थे, और बाकी भी श्रेष्ठ पारखी बैठे थे।

बोले, "इसके गुण बताओ श्रेष्ठि!"

मैंने कहा, "देव! इसका एक ही वैभव है, और आप उसीके कारण इसे अमूल्य समझते हैं कि जब इसको चावलों के साथ रखा जाता है, तब इसके रहने तक पक्षी पास नहीं आते, और इसके उठाते ही पक्षी आकर दाने चुग जाते हैं।"

श्रेष्ठियों ने मुझे आश्चर्य से देखा। महाराज का क्रोध लुप्त हो गया। मुझे देखते रहे। फिर धीरे से कहा, "अद्भुत!"

"परन्तु देव!" मैंने कहा, "इस रत्न में एक दोष है। यदि वह मिट जाए तो यह आपको समृद्धि दे सकता है।"

"रत्न ठीक भी हो सकता है?" शतानीक ने कहा।

मैंने हंसकर कहा, "देव! पत्थर मनुष्य से अधिक सरल और सहज होता

है। वह अपना मोल स्वयं कभी अधिक नहीं बताता।"

महाराज ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा और कहा, "आपकी निर्भयता समयोचित है श्रेष्ठि! आपका शुभ नाम?"

"देव! धनकुमार!"

"कुलगोत्र?"

"अज्ञात।"

"निवास-स्थान?"

"समस्त पृथ्वी।"

"विवाहित हैं?"

"तीन बार।"

"सन्तान?"

"भविष्य के गर्भ में।"

"और अब कहां हैं?"

"देव के श्रीचरणों में।"

सुत्यक ऐसे बैठा था, जाने कब क्या होगा।

सम्राट ने मुस्कराकर कहा, "मिल गया। श्रेष्ठि सुत्यक! मिल गया।"

"हां देव!" सुत्यक ने कहा, "मिल गया।"

"क्या मिल गया सुत्यक?" सहसा महाराज ने पूछा।

सुत्यक फिर मरा। इधर देखा, उधर देखा। फिर बोला, "वही देव! जिसकी प्रतीक्षा थी।"

"ओह हो हो हो," करके महाराज हंसे। सुत्यक भी। सहसा महाराज ने फिर कहा, "हां सुत्यक! किसकी प्रतीक्षा थी?"

सुत्यक के दांत फिर बन्द। अब क्या कहे! पर यों भी मरना ही था। साहस बटोरकर बोला, "देव! यह तो हमारा सौभाग्य···"

"हमारा नहीं," महाराज ने हंसकर कहा, "हमारी सौभाग्यमंजरी···"

"देव! देव!" सुत्यक समझकर मुग्ध हो गया। "यही तो, यही तो···"

महाराज ने कहा, "युवक! मेरी प्रतिज्ञा जानते हो?"

"सुना था देव!" मैंने कहा, "परन्तु मैं उसके योग्य नहीं।"

"क्यों?"

"मेरा वेश !"

"साधु ! धरती किसकी है ?"

सुत्थक ने कहा, "देव ! आपकी।"

"शान्त रहो सुत्थक !" महाराज ने कहा, "हां युवक ! धरती किसकी है ?"

मैंने कहा, "मिट्टी की।"

जौहरियों के मुख से आश्चर्य की ध्वनि निकली। परन्तु महाराज गम्भीर रहे। मैं समझा। महाराज जितने मूर्ख लगते थे, वास्तव में वे उतने ही कुशाग्र-बुद्धि और चतुर थे। बोले, "और राजा उस मिट्टी से सुवर्ण उगाहते हैं ! जानते हो ?"

"सीख रहा हूं देव !"

"साधु ! विनय और शील भी हैं। जय-काव्य पढ़ा है ?"

"सुना है देव !"

"महावीर कर्ण का कुलगोत्र क्या था ? वीरों का क्या गोत्र ?"

"परन्तु देव ! आप कुरुकुल-भूषण हैं। क्षत्रिय हैं। मैं क्षत्रिय नहीं हूं।"

महाराज ने कहा, "युवक ! गुणानुसार वर्ण होता है। वृष्णि यादव नन्द वैश्य था और वसुदेव क्षत्रिय, परन्तु दोनों का भ्रातृ-सम्बन्ध था। देवकी-पुत्र कृष्ण ने जिस हाथ से कंस का दासत्व करते हुए गायें चराई थीं, उसीसे चक्र उठाकर राजसूय और अश्वमेध यज्ञ कराए थे। अब भी तुम्हें कोई संशय है ?"

"देव !" मैंने कहा, "मेरे तीन विवाह हो चुके हैं।"

महाराज ने कहा, "राजा के चार विवाह तो शास्त्रानुमोदित हैं—महिषी, परिवक्तृ, पालागली और वावाता और अतिरिक्त असंख्य ! और अब तो श्रेष्ठि भी अनेक करते हैं। पुरुष का क्या ! पुरुष यूप है, जिससे अनेक स्त्रियां बंधती हैं। तुम जैसा योग्य और सुन्दर पुरुष देखकर यदि सौभाग्यमंजरी 'ना' कह दे तो मैं प्रतिज्ञा भंग कर दूंगा।"

वे उठ खड़े हुए। और कहा, "प्रजा देखेगी कि शतानीक वस्त्रों से नहीं, मनुष्य के गुणों से उसकी पहचान करता है। यही परम पवित्र ऋषियों का मार्ग है, जो कुटियों में रहते थे। आज उसीके भूल जाने से यह असंख्य मार्ग निकल रहे हैं, जिनमें प्रत्येक उपदेष्टा अपने को अन्तिम सत्य का प्रचारक मानता है। धर्म की गति कितनी गूढ़ है, यह शताब्दियों तक नहीं जाना जा सका। अब के दार्शनिक

समझते हैं कि सब कुछ उनके हाथ में है। इसी वेश में मेरे जामाता आएंगे सुत्यक! तभी मैं इनका विवाह करूंगा अपनी पुत्री से, जिसे मैंने उदयन की अनुपस्थिति में पुत्र से भी अधिक मानकर पाला है।"

उनके नयन भीग गए।

सुत्यक जब प्रासाद के बाहर आ गया, उसने लम्बी सांस ली और कहा, "ओह! कमाल हो गया!"

मैंने कहा, "क्या हुआ श्रेष्ठि!"

"अरे जामाता! अभी कुछ हुआ ही नहीं?"

"कुछ कहो भी तो!"

"यही क्या कम हुआ कि आज मेरी गर्दन बच गई।"

सब हंस पड़े।

सुत्यक ने कहा, "महाराज बहुत अच्छे हैं, पर एक बात है। जो जम गई मन में, सो जम गई। उदयनकुमार को तपोवन में रखा, तो रखा। उसी पुराने आदर्श पर। पर अब वे ब्राह्मण हैं कहां? नागों के क्षत्रिय कितने भी बन लें, परन्तु जो ब्राह्मण वहां रहते हैं, रहते हैं उनके से ही।" फिर सुत्यक ने धीरे से कहा, "बड़ी गरम जाति है ब्राह्मण। बस पूज्य कह दो, चाहे जो करा लो। मैंने देखा था इन्हें पंचाल में। सारे अनार्य मन्दिरों में पुरोहित कौन? ब्राह्मण! नागों के तीर्थ हैं। वहां पुरोहित कौन? ब्राह्मण। वैसे पुराने कर्मकाण्डी जो हैं, वे जरूर कट्टर हैं। महाराज ब्राह्मणों के प्रशंसक हैं!"

मैंने सोचा, महाराज भी कैसे हैं! एक मणि की परीक्षा से पुत्री का भाग्य जोड़ रखा था। अगर कोई बुड्ढा परख कर जाता, तो? किन्तु महाराज की मनुष्य के प्रति आस्था थी। यह कितना बड़ा आश्चर्य था! ब्राह्मण-चिन्तन का भी ऐसा प्रभाव पड़ता है, यह अनुभव करके परम्परा से आया ब्राह्मण-विरोधी भाव मुझमें दब गया।

दूसरे दिन वृद्ध राजपुरोहित मुझे प्रासाद में ले गया। महाराज बैठे थे। मुझे बिठाया। मैं उन्हीं वस्त्रों में था। बातें चल पड़ीं। महाराज ने कहा, "युवक! इस धरती में प्राचीनकाल में मनु प्रभृति बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्ती हुए हैं। तपस्वियों ने साक्षात् ब्रह्म का अनुभव किया है। फिर भी यह पवित्र भूमि आज खण्ड-खण्ड पड़ी है और मैं देख रहा हूं कि चारों ओर

उच्छृंखलता व्याप्त है। युवक घर छोड़ जाते हैं। माता-पिता बुढ़ापे में धन कमाते हैं। स्त्रियों को पति के जीवित रहते हुए वैधव्य सहना पड़ता है। लेकिन क्यों? क्योंकि क्षत्रियों और ब्राह्मणों में द्वन्द्व हैं। क्षत्रिय गण बनाए बैठे हैं, जहां जाति का निर्णय जन्म करता है। गणों में दास हैं। हमारे यहां नहीं। हर नया विचारक समझता है कि अब तक संसार में सब मूर्ख थे, अब ज्ञान प्रारम्भ होगा। ऐसे ही सुना है राजगृह में कोई बुद्ध और तीर्थंकर आए हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी पहले भी थे। याज्ञवल्क्य, गार्गी, दृप्तबालाकि, नारद! अश्वल जनक कुछ कम पहुंचे हुए थे! यह संसार कितना प्राचीन है, कोई जानता है!"

मैं सुनता रहा, वे कहते रहे।

"देखो न, मनुष्य का धर्म हो क्या सकता है? बाल्यावस्था से यौवन तक पूर्वजों की विद्या का संचय करे, फिर संतान को जन्म दे। फिर ऊब जाए तो लोक को छोड़कर वन में रहे और अपनी आत्मा को शुद्ध करे। अब वानप्रस्थ ही उठ गया। मैं तो उदयन को समय रहते सब देकर चला जाऊंगा। उसमें पिता-पुत्र में प्रेम रहता है। आजकल राजा बुड्ढे हो गए हैं, सड़ गए हैं, मगर कांताभोग नहीं छोड़ते। पुत्र युवक है। पर उसे अधिकार नहीं है। असल में गड़बड़ हो गई कि एक दिन कुरुकुल ने एक अन्धे को गद्दी पर बिठाकर जाति का संहार कर दिया। अन्यथा यह उच्छृंखलता काहे को उठती! अब युवक हैं कि मूछ निकलने से पहले घर छोड़ते हैं। मनुष्य का सत्य खोजते हैं वे! आत्मा की शांति! आत्मा की शांति संतोष में है, शून्य की भटकन में नहीं। आखिर स्त्री की कोई मर्यादा है या नहीं? अरे गृहस्थ धर्म ही यदि बुरा है, तो तुम कहां से आ गए? मर्यादा का प्रारम्भ, बड़े-छोटे की मर्यादा, घर से प्रारम्भ होती है। ऋषियों ने स्त्री के उस पक्ष को बुरा कहा है, जो केवल भोगपरक बनाकर पुरुष को नष्ट कर देता है अन्यथा वे लोक के प्रति पूर्ण जागरूक थे। जानते हो? मैंने सुना है, तक्षशिला गए थे एक ब्राह्मण। अरे! वहां तो सहस्रों पुस्तकें पड़ी हैं। ब्राह्मण भी होता है कुशाग्र। खूब पढ़कर लौटे। आकर क्या किया? बोले—मैं असंतुष्ट हूं।—चल दिए घर छोड़कर! क्या यह भी कोई बात हुई? पुरुषार्थ छोड़कर भीख मांगना आत्मा का कल्याण है? जब बूढ़े हो जाओ तब और बात है? वृद्ध को सम्मान चाहिए, भोग नहीं। यह सृष्टि! ऋषियों ने कहा है—यथापूर्वमकल्पयत्। पूर्व क्या था! पूर्व! यह सृष्टि उसने ऐसे बनाई जैसे पहले कभी बनाई थी। पहले कब? जाने कब। ऋषियों

ने कहा है कि यह सृष्टि पहली बार नहीं बनी। जाने कितनी बार बन चुकी है! शायद पहले भी होगी। ये सूर्य-चन्द्रमा क्या इसी बार बने होंगे? जाने कितनी बार बने होंगे। तभी ऋषि ने कहा : यह तो फिर-फिर बनती है।—यह विराट सत्य! और कितना महान्! और फिर इन नये उपदेशकों का यह दम्भ कि सब कुछ खोज लिया! बस, हमसे बढ़कर कोई नहीं!"

मैंने कहा, "महाराज! मैं वेद को नहीं मानता। मैं पार्श्वनाथ के मत को मानता हूं। जिनमतानुयायी रहा हूं।"

"जिनमत! जिनमत अनीश्वरवादी है युवक!" महाराज ने बिना विचलित हुए कहा, "वेद में ऋषभ की तपस्या का उल्लेख है। उस अवस्था, उस ऊंचाई को पहुंचने पर मनुष्य सत्य को पा जाता है। ऋषभ ने तप किया और उठ गए। नंगे रहे। वे सत्य से मिल चुके थे। आत्मा के पक्ष पर जोर देकर उन्होंने यही प्रमाणित किया था कि दुःख कर्म से है। उस समय कर्मकाण्डी ब्राह्मण स्वार्थलिप्त थे, उन्होंने विरोध किया। परन्तु ऋषभ की भांति अनेक ऋषि हुए हैं। वेद को रटना-मात्र काफी नहीं है। परन्तु ऋषभ ने लोक-धर्म का तो विरोध नहीं किया। उनकी अपनी साधना का पथ अलग था। साधना-पथ क्या ऋषियों में एक है? धर्म और साधना दो हैं न युवक! शील, आचार, संसार, आश्रम, यह सब ही तो लोक को साधते हैं। ऋषभ क्या इसके विरोधी थे?"

महाराज की बात ने मेरे सामने एक नई दृष्टि जगा दी। फिर बोले, "मैंने अपना स्वप्न उदयन में उतारने की चेष्टा की है। एक बार फिर युधिष्ठिर का सा विशाल साम्राज्य बने और धर्म की स्थापना हो। ये छोटे-छोटे राज्य! यही पाप की जड़ है। क्षत्रियों ने गण बनाए, ब्राह्मणों का विरोध करने को। अनाचार फैला। बताओ वत्स! ये गण जो जगह-जगह हैं, वे क्या अनाचार के अड्डे नहीं? दास में क्या आत्मा नहीं? ब्रह्म सबमें एक है। जाति! जाति वर्णानुसार है, लोक-धर्म को चलाने के लिए। स्वधर्म को सब छोड़ दें, तो काम कैसे चलेगा! जो जहां जन्मा है, वह अपने कुल-कर्म को जितना जान सकता है उतना दूसरा जान लेगा? लुहार बढ़ई बन जाएगा? अरे स्वधर्म में मरना भला। दूसरा धर्म भयानक है। किसान जौहरी बन सकता है? रही उन्नति! वह केवल समर्थ कर सकता है। परशुराम ने क्षत्रियत्व धारण किया। द्रोण ने शस्त्र उठाया। परन्तु मैं फिर भी कहूंगा कि ऐसी सामर्थ्य ने लोक में प्रायः ही अनाचार फैलाया। एक बार ऐसा करनेवाले

व्यवस्था से ऊपर अपना स्वार्थ देखते हैं, लोक-धर्म से ऊपर महत्त्वाकांक्षा देखते हैं। आज आर्यों में पहले की शक्ति है? पहले म्लेच्छ, जंगली जातियां और ऐसे वर्बर इस प्रजापति की भूमि को सिर झुकाते थे। अब पारसीक साम्राज्य को मुझे पता चला है, यह दुरभिमान हो रहा है कि इस आर्यभूमि पर शासन करे! ब्रह्मा, विष्णु और शिव के देश में वे म्लेच्छ शासन करेंगे? असुरों की सन्तान!!"

वातें शायद चलती रहतीं।

तभी परदे के पीछे से आवाज़ आई, "देव! राजकन्या ने देख लिया। स्वीकृत है!"

महाराज उछल पड़े। बोले, "ब्रह्मा, मैं मनुष्य को जानता हूं। कार्तिकेय की क्या पहचान थी जो इन्द्रपद तक जा पहुंचा! अब तुम मेरे जामाता हुए!"

ओह! इसलिए मुझे यहां विठाया गया था। मैं इतना चतुर बनता था, पर वास्तव में ये राजा मुझसे अधिक चतुर थे। तभी वे राजा थे और मैं उनका कृपा-पात्र-भर ही तो था। वैसे हरएक को अधिकार है कि वह अपनी मूर्खता में अपने को सबसे बड़ा बुद्धिमान समझता रहे। और महाराज ने मुझसे झुककर कहा, "जामाता! भ्रम मत करो। आकाश और पृथ्वी के बीच काल सूर्य के ताप में पुटी बना रहा है। हम सब उसीके भीतर हैं। स्मृतियां अनेक हैं, श्रुति का भी एक पथ नहीं। मार्ग अनेक हैं, और धर्म का पथ अत्यन्त गहन है। आत्मा ही सर्वत्र है और यह सब जो है ब्रह्म ही है। न हम मार्ग का आदि जानते हैं, न अंत। इस लोक में कर्मानुसार फल पाते हैं। जीवित रहना है, तभी जीव, जीव को खाकर रहता है। फिर भी दया, अहिंसा हमारे मन को उठाती रहें, यही हमारे लिए अच्छा है। आए हैं, तो रहेंगे। 'भाग्य-भाग्य' चिल्लाकर नहीं मरेंगे, उद्योग से रहेंगे। और कोई चारा नहीं है। तब लोग मर्यादा क्यों नष्ट करें? वैसा करने से भी क्या होगा? अनाचार होगा, अधर्मी सिर पर चढ़ेंगे, पाखण्डी और अत्याचारी, दंभी और घृणा के प्रचारक लोक को दवाएंगे। सब देवता ठीक हैं, सब उसीको विभिन्न रूपों में देखते हैं। 'वह' क्या है? वह सबसे परे है। यह वर्ण-जाति वास्तव में कुछ नहीं, लोक-धर्म के नियम हैं। अन्यथा सब उलट जाएगा। पुत्र पिता को मारेगा, पुत्री भाई से व्यभि-चार करेगी। हमें तो वही करना है, जो महापुरुषों ने किया है। पूर्वकाल के मनी-षियों ने यह नियम योंही नहीं वनाए। बड़े अनुभव के वाद वनाए थे कि स्त्री-भोग वासना तो है परन्तु फिर भी सन्तान के लिए आवश्यक है। विवाह नहीं करोगे, तो

व्यभिचार बढ़ेगा, क्योंकि सब एक-से संयमी नहीं होते। पृथ्वी किसीकी नहीं। परन्तु लोक चले इसलिए खेती होनी है। तो 'कर' भी चाहिए क्योंकि किसान खेत जोते ताकि सेना उसकी रक्षा करे। इसीसे इसे वीरभोग्या कहा गया है। समझ रहे हो न ?"

मैंने देखा कि उनकी बात बड़ी ठोस थी। कितनी मान सका हूं नहीं जानता। परन्तु लाचारी की स्वीकृति भी इतनी सहज हो सकती है, और यही ब्राह्मण की नई बात थी, यह सोचता हूं तो लगता है कि यह भी क्या गलत था ! बार-बार मन में गूंजने लगा—यह लोक बहुत पुराना है।

महाराज ने हंसकर कहा, "वत्स ! लोक आज से आरम्भ नहीं हुआ। अब से बहुत पहले हुआ था। मनुष्य जाने कितने मार्ग सोच चुका है और अन्त में वह इसी निर्णय पर पहुंचा ! अब मेरी चिन्ता दूर हुई। सौभाग्यमंजरी ने तुम्हें पसंद कर लिया। पुत्री होती है न ? बड़े लाड़ की पाली है मैंने। उसे सदा सुख से रखना। अरे, कण्व ने एक दिन जैसे शकुन्तला को पाला ; परन्तु दुष्यन्त की भांति तुम न बनना !"

महाराज ने आंखें पोंछ लीं। और उठ खड़े हुए।

और तब मैंने सोचा कि राजनीति कितनी बुरी है। उसे राजनीति क्यों कहूं ? अपनी पत्नियों और होनेवाली संतान का स्वार्थ क्यों न कहूं, जिसके कारण मैं ऐसे अच्छे आदमी से भी चाल खेलने को विवश था, और स्वयं उसका जामाता बनता हुआ ? और उधर प्रद्योत, जिससे मुझे छल करना था, उसका भी मुझे ध्यान था कि कहीं नुकसान न उठा जाए; क्योंकि मेरे माता-पिता, भाई-भाभियों का स्वार्थ मुझे उधर रोके था। उफ ! कैसा विडम्बना से भरा जीवन हो गया था यह !

फटे कपड़े पहनकर मैं वर बनकर गया। और महाराज शतानीक का जामाता बना। उन्होंने कन्या-शुल्क (दहेज) में मुझे अपने राज्य का एक विशाल भूखण्ड दिया, जिधर आबादी नहीं बसी थी। अब मैं राजा हो गया। धन्य मेरे भाग्य ! तेरे खेल को जिस तरह मैंने झेला, वह मैं ही जानता हूं। मैं ही क्या, लोक का कौन-सा मनुष्य नहीं झेलता, या नहीं जानता।

सौभाग्यमंजरी ने मुझे अपना कौमार्य अर्पित किया, जैसे दिवस-ज्योति इस लोक को अपनी लालिमामयी ऊषा पहले अर्पित कर देती है और अन्धकार दूर हो जाता है। उपरांत उसने पूछा, "मेरी तीन बड़ी बहिनें हैं। सुना है मैंने। कैसी हैं ?"

तब मैं रहस्य नहीं छिपा सका। कहा। परन्तु छिपा गया अपना राजनीतिक पक्ष। न माता-पिता की कही। कहा, केवल तीन थीं। तीनों पिता को मानती थीं। पतिपक्ष नहीं। इसीसे उन्हें छोड़ आया।

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "मगध भूमि प्रारम्भ से ही अनार्य रही है। तभी ऐसा हुआ। विवाह के बाद स्त्री का तो सब कुछ पति ही होता है।" और यह कहते हुए उसने मुझे भुजाओं में बांध लिया और बोली, "तुम्हारा सुख ही मेरा सुख होगा स्वामी! मुझे तो न छोड़ोगे?"

मैं विह्वल हो गया। कुसुमश्री, सोमश्री, सुभद्रा—तीनों ने यह कभी नहीं पूछा। क्या यह ब्राह्मण-परम्परा थी कि स्त्री अपना समर्पण बिना शर्त और बिना अहं के करती थी? क्या यह प्रेम की और ऊंची मंजिल नहीं थी?

मैंने उसकी लटों को सहलाते हुए कहा, "सौभाग्यमंजरी! अब मुझे कोई अभाव नहीं। राज्य भी पाया है। और अब मेरा जीवन-स्वप्न प्रारम्भ होगा। मैं एक ऐसा प्रदेश बसाऊंगा जहां पृथ्वी पर स्वर्ग होगा। दीन-हीनों को आधार मिलेगा। आर्यावर्त में लोग इसे देखकर सोचेंगे कि क्या ऐसा भी हो सकता है!"

सौभाग्यमंजरी ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे साथ काम करूंगी।"

और मुझे ध्यान आया कि अभी तक किसी स्त्री ने मुझसे ऐसा नहीं कहा था! क्या यह एक नये जीवन का प्रारम्भ था?

आज कह सकता हूं कि भले ही वह नये जीवन का नहीं, परन्तु एक नये प्रयोग का प्रारम्भ अवश्य था। प्रयोग! महाराज शतानीक ने कहा ही था कि अनेक अनुभवों के बाद मनुष्य ने देखा था कि इस मार्ग का आदि कोई नहीं जानता, न अन्त ही। हम तो केवल बीच में हैं। बीच में उठते हैं और वहीं कुछ चलकर लुप्त भी हो जाते हैं।

महाराज शतानीक ने जब मेरी कल्पना के बारे में सुना तो बोले, "जामाता को प्रयोग करने दो। उदयन को अनुभव प्राप्त होगा।"

मैंने नगर का नक्शा खींचा। चैत्यों, उपवनों के स्थान निर्धारित किए। और सचमुच नगर खड़ा हो गया। सौभाग्यमंजरी ने उसका नाम रखा—धनपुर। और मैं कितना प्रसन्न हुआ! शीघ्र ही मैंने गुप्तचर नियुक्त किए और अभयकुमार के लिए लोगों को भेज दिया। परन्तु फिर सोचा, यह मेरे गुप्तचर क्यों बनें? गुप्त-चर जब पकड़ा जाता है तब उसका स्वामी उसे अपना कहकर स्वीकार नहीं

करता और वह मारा जाता है। ऐसा जीवन मनुष्य क्यों स्वीकार करता है? क्योंकि ऐसे जीवन को भी वह अपने बाकी जीवन से अच्छा मानता है। इससे रोटी, नमक और स्वामिभक्ति उपजती है। जीव जीव को खाता ही नहीं, जीव अपने पेट में जानेवाले जीव के लिए, दूसरे जीव पर निर्भर भी करता है। उस निर्भरता के कारण रोटी देनेवाले का स्वार्थ जीवित रखना रोटी पानेवाले का धर्म हो जाता है। तो क्या दरिद्रता ही इस निर्भरता का कारण है? या दरिद्रता से भी बढ़कर है धन की सहज प्राप्ति में रहने की आदत, जो खतरों को झेलने की ताकत देती है और मनुष्य मौज में रहता है और जीवन से परोक्ष रूप में घृणा करता है! कैसी होती है यह घृणा जिसमें भोग—भोग ही प्रधान रहता है। मैं भी तो मूलतः एक गुप्तचर ही हूं। स्वार्थ में खेल रहा हूं। इस स्वार्थ को क्या मुझे भाग्य की गति कहना चाहिए? मैं कोई उत्तर नहीं सोच पाया।

मैं, मेरा धनपुर दिन-रात बढ़ रहे थे। सौभाग्यमंजरी तो मेरा ही 'मैं' थी, उसे मैं अलग क्यों गिनूं?

मैंने व्यापारियों को बुलाकर मंत्रणा की। कर नियत किए। वन-भाग में सुव्यवस्था का प्रबन्ध किया। ब्राह्मणों को मन्त्रिमण्डल में लिया। क्षत्रिय सेना में रहे। दासों को श्रेष्ठियों में बांटा और फिर भृत्यों के लिए नियम बनाए—कोई इन्हें मारे नहीं, सेविका को नंगा न करे, उससे व्यभिचार न करे। उसे अपनी संतान का अधिकार हो। मैंने दास-दासियों की हाट ही नहीं बसाई। इतना सब कुछ हुआ, परन्तु जब वर्षा समय पर नहीं हुई, तब अन्न नहीं उपजा। मैंने किसानों को ऋण दिलवाया, श्रेष्ठियों से; और बदले में उनका कर कम किया; किन्तु बाहर से आनेवाले सार्थों पर कर बढ़ा दिया। फिर भी समस्या नहीं सुलझी। अन्त में मैंने पुराने ग्रंथ देखे। सम्राट युधिष्ठिर ने नहरें खुदवाई थीं। उनमें धन लगता था। कृषि सुव्यवस्थित होती थी। बड़े राज्य थे, तब नहरें खुदवाई जा सकती थीं। छोटे राज्यों के पास इतना धन ही कहां था कि वे ऐसा करते!

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "यह कार्य कठिन नहीं है स्वामी। साहस करना होगा।"

मैंने आश्चर्य से कहा, "साहस इसमें क्या करेगा?"

बोली, "कहते हैं, आपने तो पौलस्त्यवध काव्य सुना ही होगा। रघुकुल में पहले एक राजा राम हुए थे, जिन्होंने अपनी पत्नी सीता को राक्षस से मुक्त करने

को वानरों की सहायता से सागर पर पुल बांधा था। सीता धरती की बेटी थी। तो हम राज्य रखकर धरती पर नहर नहीं बहा सकते ?"

मैंने कहा, "दक्षिणपथ में लोग रावण को राक्षस नहीं विद्याधर कहते हैं। वानरों को भी विद्याधर मानते हैं।"

"उससे क्या फर्क पड़ता है !" सौभाग्यमंजरी ने कहा, "नहरें क्या रावण के विद्याधर हो जाने से नहीं खुद सकतीं ?"

मैं निरुत्तर हो गया।

"पर होगा कैसे ?"

"राजा धनकुमार खोदेंगे तो किसान लगेंगे अपने-आप। तब अपने-आप श्रेष्ठि धन देंगे। भोजन-मात्र बदले में मिलेगा। नहर खुद जाने पर नाम-मात्र का कर लगेगा, उतना कि नहर की व्यवस्था ठीक बनी रहे। अन्न उपजेगा तो प्रजा धन देगी। किसान सुखी रहेगा तो वर्ण-व्यवस्था चलेगी और लोक में धर्म रहेगा। प्रमुख लोगों (जागीरदारों) को भूमि बांटी जाए। वे स्वयं उसका शासन करें अपने-अपने खण्ड में। प्राचीन परम्परा के अनुसार ग्रामणी (सरपंच) नियत हों और श्रेणियां[1] अपना निर्णय स्वयं अपनी सभा (पंचायतों) में करें। राजा केवल सबका नियोजन करे और शत्रु से रक्षा।"

"अरे, मेरी स्त्री तो पूरी पंडिता है !" मैंने कहा।

बोली, "स्वामी ! पिता ने अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों ही पढ़ाए हैं।"

मैंने कहा, "ठीक है।"

"और एक काम सोचती हूं। पर हो सकेगा कि नहीं, यह आप देखें। अन्य राज्यों में दीन-दरिद्र हैं। गणों में दास हैं जो बिकते हैं। किसी तरह उन्हें यह खबर पहुंचे कि यहां खाने को मिलेगा, उन्हें स्वतन्त्रता मिलेगी, तो चुपचाप भाग आएंगे। हम किसीको भी नहीं रोकेंगे। जो आए काम करे। और काम करेगा तो हमारी प्रजा होगा, हम रक्षा करेंगे उसकी।"

"और जो गणस्वामी और अन्य दास-स्वामी इसका विरोध करें बाहर से तो? जो किसीने चढ़ाई कर दी ?"

वह हंसी और कहा, "जब तक अपने में इतनी शक्ति नहीं कि सबसे टक्कर ले सकें, तब तक वह काम छिपकर गुप्त रूप से करना होगा।"

---

१. Guilds = भारत में जातियां।

मैंने ग्रामों के मुखिया बुलाए और योजना रखी। उन्होंने मुस्कराकर मौन धारण किया। मैं समझ गया, इन्हें विश्वास नहीं हुआ। तब सौभाग्यमंजरी ने कहा, "ग्रामणी हो तुम ?"

"हां महारानी !"

"जानते हो, प्राचीनकाल में एक राजा थे पृथु। उन्होंने पृथ्वी को गाय की तरह दुहा था। तब हिमालय को उन्होंने बछड़ा बनाकर खड़ा किया था। हम हिमालय को बछड़ा नहीं बना सकते, न पृथ्वी को दुह सकते हैं; परन्तु पृथु ग्वाला बन सकते थे, तो तुम्हारे महाराज भी धरती खोद सकते हैं। बोलो! अब भी विश्वास नहीं कर सकते ?"

एक वृद्ध ग्रामणी ने हाथ जोड़कर कहा, "देवी ! यह सच है, पर राजकुल ने कब हल चलाया है ?"

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "ग्रामणी ! क्षत्रिय-परम्परा के जीर्ण होने से ही कहते हो। प्राचीनकाल में राज्य की शांति के लिए, समृद्धि के लिए जो वैष्णव यज्ञ होता था, उसमें राजा को हल चलाना पड़ता था।"

ग्रामणी निरुत्तर हो गए।

और मैं, धनकुमार, धनसार श्रेष्ठि का पुत्र—जो कई बार मजूरी कर चुका था, खड़ा हुआ धोती ऊंची बांधकर। धरती पर मेरा फावड़ा चला। सौभाग्यमंजरी ने मिट्टी तसले में उठाकर फेंकी, एक भीम जयनाद के साथ लोग जुट पड़े और सौभाग्यमंजरी का कार्य प्रारम्भ हो गया। काम की देखभाल के लिए मैंने पास का एक घर अपने लिए चुना, जहां सौभाग्यमंजरी साधारण गृह-पत्नियों की तरह खाना पकाने लगी और मट्ठा बिलोती। हम ऐसे उतर आए कि मैं कभी सोच भी नहीं पाता। शायद मैं स्वयं वहां न होता, तो अपने बारे में ऐसी कल्पना पर भी मैं विश्वास नहीं कर पाता। फिर मैं तो गरीबी जानता था, लेकिन सौभाग्यमंजरी ! पति के लिए स्त्री क्या कुछ नहीं कर सकती, यह मैंने तब ही जाना। सुना था, सावित्री यम से लड़ी थी, लेकिन वह केवल कहानी थी। कुछ ही दिन में काम चल पड़ा। तब मैं कभी अपने विशाल भवन में रहता, कभी उसी छोटे घर में, क्योंकि दोनों जगह मेरा काम पड़ता था। सौभाग्यमंजरी वहीं बनी रही। मेरे संगीत ने सौभाग्यमंजरी को मुझपर मुग्ध कर दिया।

एक दिन विशाल भवन में था कि मुझे एक गुप्तचर ने आकर सम्वाद दिया।

यह सम्राट बिंबसार का भेजा हुआ था। उसने बताया, "वैशाली, कोसल और अवन्ति का कार्य ठीक चल रहा है। सोमश्री को पुत्र हुआ है, कुसुमश्री को कन्या।"

मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। अकेला था, सो भाव छिपाने की जरूरत नहीं थी। तुरन्त उसे गले का हार उतारकर दिया। मैंने कहा, "और सुभद्रा के बारे में कुछ नहीं बताया?"

गुप्तचर बगलें झांकने लगा।

मुझे कुछ शंका हुई। कहा, "कहता क्यों नहीं?"

"बात यह है आर्य..."

"कहो, कहो! डरो मत!"

"वह बात बहुत लज्जाजनक है जामाता..."

"लज्जाजनक!!" मैंने आंखें नीची किए हुए ही पूछा, "कह जाओ!"

"वे आपका जाना सुनकर उद्भ्रांत हो गईं। फिर कुसुमश्री और सोमश्री से मिलीं। उन्हें गर्भवती देखकर वे घर लौट गईं। एक सेविका बताती थी कि रात-भर विचलित रहती थीं। कहती थीं: मेरा पति कायर था जो मुझसे कहे बिना चला गया।—सम्राट की दृष्टि सदैव उनपर रही। वे एक दिन तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान के यहां गईं और कहा: मेरा पति भाग गया है, मुझे दीक्षा दें। तीर्थंकर ने कहा: स्त्री को छोड़कर जाने की यह परम्परा अनुचित है जामालि![1] कहकर जाना चाहिए। सिद्ध बनने को चलते समय मनुष्य पाप नहीं करता कि पलायन करे। पलायन करनेवाला बड़ा निर्बल होता है।—परन्तु उन्होंने दीक्षा नहीं दी। कह दिया: पहले मन को धैर्य दो, तब आना। आवेश में प्राप्त दीक्षा आवेश में ही चली जाएगी।—तब वे शास्ता गौतम बुद्ध के पास गईं। कहा: भन्ते! मेरा पति मुझे बिना कहे छोड़ भागा है। मैं क्या करूं?—वे चुप रहे, फिर कहा: हो सकता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर गया होगा।—सुभद्रा ने कहा: क्या वह कायर नहीं है? मैं क्या उनके सिद्धिपथ को रोक लेती? या मैं तप नहीं कर सकती? भन्ते! मुझे प्रव्रज्या दें।—किन्तु शास्ता ने कहा: मैंने संघ में स्त्री के लिए स्थान नहीं रखा था। किन्तु महाप्रजापति गौतमी के कारण मैंने आज्ञा दे दी। तुम आनन्द से कहो।—वे आनन्द के पास गईं, किन्तु भिक्षु ने कहा: वासना को

१. महावीर का शिष्य और जामाता था। बाद में महावीर से अलग हो गया था, स्वतन्त्र विचारक बनकर।

अतृप्ति के विक्षोभ में कुछ मत करो। आवेश थमने पर आना।—तब वे घर लौट गईं।"

वह चुप हो गया। मैंने कहा, "इसमें लज्जा की बात क्या है शंख?"

शंख ने कहा, "वह यह है कि फिर एक रात वे अपने प्रकोष्ठ में घुसीं। एक सेवक ने उनके शयनकक्ष में शालिभद्र के भृत्य सुदाम को घुसते देखा और प्रातः-काल होने पर पता लगा कि स्वामिनी अपने सेवक के साथ कहीं भाग गई थीं। सुदाम सुन्दर और स्वस्थ तो था ही, परन्तु धन वे घर से कुछ नहीं ले गईं। सुदाम कितना कृतघ्न था! उसका पिता श्रेष्ठि गोभद्र का अत्यन्त विश्वासपात्र अनुचर था। बचपन से सुभद्रा के साथ यह सुदाम खेला था। सम्राट ने बहुत ढुंढ़वाया। कुछ पता नहीं चला। सोमश्री और कुसुमश्री भी इसी लज्जा से छिपी रहती हैं घर में। श्रेष्ठि शालिभद्र और उनकी माता भद्रा तो कहती हैं कि सुभद्रा मर गई!"

"हां!" मैंने कहा, "वह मर जाती तो अच्छा रहता।"

इतना दुःखी हो गया मैं कि उसे विदा करके शय्या पर गिर गया। मेरा निर्दय भाग्य हंसने लगा। उसी समय मुझपर एक वज्र और टूटा। शंख के जाते ही छंदक आया। वह मेरा चर था, जो मैंने वत्स से उज्जयिनी भेजा था। उसने कहा, 'देव! उज्जयिनी में मैंने धनसार को बहुत खोजा। आपने पता दिया था, वहां मैंने ढूंढा, सारा नगर छान डाला। बहुत तलाश करने पर पता चला कि श्रेष्ठि धनसार के एक पुत्र था, जिसे प्रद्योत चाहते थे। वह चला गया कहीं, तो प्रद्योत बहुत क्रुद्ध हुए। श्रेष्ठि धनसार भी बहुत दुःखी हुए। महाराज ने श्रेष्ठि को बुलाकर बहुत डांटा। श्रेष्ठि अकड़ गए, क्योंकि वे पुत्र के विषय में कुछ नहीं जानते थे। तब महाराज ने सबको राज्य की सीमा के बाहर निकलवा दिया। पता नहीं फिर उनका क्या हुआ।"

छंदक चला गया, परन्तु मैं चक्कर खाकर वहीं बैठ गया। यह भी मेरे कारण हुआ!! मैं ही हूं वह पापी, जिसके कारण इतना विनाश हो रहा है। तब मुझे क्रोध आने लगा। बिंबसार उत्तरदायी है। वही सुभद्रा के पतन का उत्तरदायी है। प्रद्योत! प्रद्योत उत्तरदायी है मेरे माता-पिता के अपमान का। वही उत्तर देगा इस अपमान का।

मैं विक्षुब्ध हो उठा।

मैं कैसी विचित्र परिस्थिति में था! अपने भाव मैं किसीपर प्रकट भी तो

नहीं कर सकता था। अब मुझे जीवन सूना लगने लगा। सौभाग्यमंजरी मेरी प्रिया! और उससे भी मैं नहीं कह सकता। कैसी घुटन थी! कैसे कहूं! किससे कहूं! कहां भटक रहे होंगे माता-पिता! वृद्ध! या मर गए होंगे! और सुभद्रा! एक सेवक के साथ! सेवक! घृणित! संभोग का ही तो सुख नहीं था सुभद्रा को। क्या उसके बिना वह एक सेवक की शय्या-गामिनी बन गई? उसने भाई शालिभद्र की नाक कटा दी! क्या कहेंगे सम्राट बिंबसार! कहेंगे कि स्त्री का विश्वास ही क्या? ऐसी तो समय रहते चली गई सो अच्छा हुआ अन्यथा कभी गहरा धोखा देती! सच ही तो।

कुछ नहीं। धनकुमार! तू मद में भूला है। जब वैभव मिलता है, तू तुरन्त भूल जाता है। सोमश्री, कुसुमश्री को तो सन्तान मिल गई। अब पति की आवश्यकता ही क्या है उन्हें! उनको धन की कमी ही क्या है! सब स्वार्थी हैं। सौभाग्यमंजरी भी समय आने पर क्या करेगी—कौन जाने! मैं अभयकुमार को क्यों छुड़ाऊं? बिंबसार के कारण मेरी सुभद्रा खो गई! मिलने दो उसे भी बदला। लेकिन नहीं। मैं उसे छुड़ाऊंगा। मैं नमक चुकाऊंगा···बिंबसार का। और इस नाते प्रद्योत को दंड भी मिल जाएगा उसके 'चण्डत्व' का। ऐसा है उसका क्रोध! उसने पिता का अपमान किया। राजा है तो क्या अमर है! उसके राज्य की सीमा! और मुझे मिथिला के उस जनक की याद आई, जिसने ब्राह्मण से क्रुद्ध होकर कहा, "निकल जा मेरे राज्य की सीमा से!" यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा, "जाता हूं राजा, पर तू मुझे अपने राज्य की सीमा बता।" जनक लम्बी सांसें लेने लगा और बोला, "तू ठीक कहता है ब्राह्मण। मेरा राज्य क्या है? मेरा तो कुछ नहीं!" और चंडप्रद्योत ऐसा गर्वी है? फिर भी मैंने उसका नमक खाया है।

उफ! मैं पागल हो जाऊंगा। क्या करूं? छोड़ चलूं सब! अपनी वेदना में मुझे बचा सका तो केवल मेरा संगीत, जो मुझे सब भुला देता था। अब वे लहरें, वह आयोजन; सब मुझे व्यर्थ लगता। यह एक नाटक-सा लगता, कोसांबी की रंगशाला में नित्य नये नाटक होते थे। कभी रंभा-रावण, कभी नल-दमयन्ती। मेरे धनपुर में भी आनन्द की कमी नहीं थी। पर अब मेरे लिए सब सूना था। सात दिन वहीं रहा।

आठवें दिन छोटे घर गया। मुझे देखकर सौभाग्यमंजरी प्रसन्न-सी बोली, "आए तो आर्य! रोज़ पूछती तो पता चलता राज-काज में व्यस्त हैं। स्वामी!

राजकुल की स्त्रियों को तो धैर्य की शिक्षा दी जाती है। उनका पति उनका ही नहीं, प्रजा का भी होता है। हम ही तो हैं, जिनका धर्म है रण में जाते समय पति के शरीर पर कवच बांधना। विदुला का पूरा उपाख्यान मुझे याद है। पर हां! मैंने एक काम कर डाला है बिना आपकी आज्ञा के।"

"वह क्या?"

"धनपुर के लिए एक विशाल सरोवर की आवश्यकता थी। सो खुद रहा है। कुछ विदेशी आए हैं। एक तो पूरा परिवार है। और भी हैं। वह परिवार देखा है मैंने तो अच्छे दिन देखे हुए-सा लगा। मैंने कह दिया है मजूरों से—मेरे पास से मट्ठा ले जाया करो।—आती हैं औरतें। बस रोटी बना लेती हैं। मट्ठा ले जाती हैं। मैंने उन लोगों से कहा तो कुछ शरमा-से गए। उनमें जो बूढ़ा है, वह बड़ा स्वाभिमानी है। बोला, स्वामिनी! मेहनत जो देती है, वह हम अपना समझकर लेते हैं। और स्नेह जो कुछ देगा, उसके लिए हम सिर झुकाते हैं। पर स्वामिनी! उसे चुकाने फिर जन्म लेना होगा!—उसकी बात सुनकर मैंने कहा: ऐसा नहीं है। जन्म लेना है तो लेना ही पड़ेगा। मेहनत-मजूरी तो है ही! पर आत्मा तो सबमें एक है। उसको स्नेह भी चाहिए। तुम वृद्ध हो, इस नाते समझदार हो, पर मैं तो स्त्रियों और बच्चों के नाते कहती हूं। सब अपने-अपने भाग्य का पाते हैं—तब एक वृद्धा, शायद उसकी स्त्री थी, बोली: अच्छा स्वामिनी! तुम्हारी दया बनी रहे। बहू को भेजूंगी!"

यह कहकर मुझसे कहा, "क्यों स्वामी! मैंने ठीक कहा न?"

मैंने कहा, "तुम इतनी अच्छी हो सौभाग्यमंजरी! तुम इतनी अच्छी हो कि मुझे डर लगता है। वैसे तो जीवन में मैं सबसे बिछुड़ता रहा हूं—माता, पिता, भाई, भाभी, पत्नियों सबसे। पर मैं क्या तुम्हारे बिछुड़ जाने पर जी सकूंगा?"

मेरी सारी वेदना उमड़ पड़ी और मैं उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। उसे भी रोना आ गया हर्ष और प्रेम से। बोली, "छि:, पुरुष होकर रोते हैं। मृत्यु या परमार्थ के अतिरिक्त हमें कौन अलग कर सकेगा!"

सौभाग्यमंजरी, तू धन्य है! मृत्यु भी याद है तुझे! परमार्थ को भी याद रखती है। धन्य हैं शतानीक, जिन्होंने तुझे ऐसी शिक्षा दी। राजा की बेटी कुटि में बैठी है। तुझे तनिक भी संदेह नहीं है कुमार! सौभाग्यमंजरी, तू मेरी है!

मैंने कहा, "मंजरी, तुम मुझसे नहीं पूछतीं, मैं कौन था? कैसे सबसे

बिछुड़ गया !"

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "तुम मेरे स्वामी हो। पर मैं भी तुम्हारी अर्द्धांगिनी हूं। स्वामिनी हूं। अवश्य तुम्हें उससे दुःख होता है, तभी तो नहीं कहते ! फिर मैं पूछकर तुम्हें दुःख क्यों दूं ? तुम यों कहते हो शायद कि स्त्री को कौतूहल अधिक होता है !"

जब मैं बड़े भवन को लौटा, खा-पी चुका था—सौभाग्यमंजरी के हाथ का बनाया खाना। रात का अंधेरा घिर आया था। देखता चलूं तालाब की तरफ भी, यही सोच मुड़ गया। अब वह खुदी भूमि मुझपर हंसती थी। पर ये भूखे काम पा गए थे, यही क्या कम था ! जगह-जगह रोटी सिक रही थीं। अंधेरे में बस छोटे-छोटे चूल्हे और कहीं-कहीं सिरकी के जोड़े का तम्बू। उनके नीचे मनुष्यों के परिवार। बातचीत। कहीं गाना। कहीं लड़ाई। कहीं हास्य। परिवार का जीवन। ऐसा जीवन मैं नहीं बिता पाया। प्रारंभ में भाइयों ने नहीं रहने दिया और उसके बाद वैभव ने जीवन को कर दिया बनावटी। ये सब संग काम करते हैं। लड़ते हैं, फिर संग रहते हैं। अभाव है न ? उसके कारण केवल मनुष्यत्व ही इनके आपस के नाते जोड़ता है। और ये हैं दासत्व से मुक्त हुए लोग ही अधिकतर !

यों सोचता बढ़ता गया मैं अन्धेरे में। एक जगह एक कड़कड़ा स्वर सुना, "बेटा ! मजूर है, मजूरी कर। देखकर दूसरों को जलता क्यों है ?"

एक बच्चा रो उठा।

स्वर फिर उठा, "मेहनत से धरती जो देती है वह सोना बनता है। मेहनत की रोटी से मनुष्य के जन्म-जन्मांतर के पाप कट जाते हैं। मेहनत तपस्या है। समझा ? व्यापार नहीं जिसमें दूसरों का भाग अपना लाभ बनता है, बात करने के कौशल से धन खनखनाता है। यहां तो लोहे से पत्थर टकराते हैं। जितना मिले उसे खा। कोई चिन्ता नहीं। ऊपर आसमान, नीचे धरती। चैन की नींद।" वह हंसा। फिर कहा, "तू तो खैर तब भी मूर्ख ही था, पर मैं जानता हूं। तब सब कुछ था तो धन का डर था। राजा, कर्मचारी, मन्त्री, चोर, डाकू—सबका डर था। अब यम का भी डर नहीं बेटा। तब व्यर्थ आशंका थी, घर-भर को पालने का अहंकार था, और अब ! सब अपने हाथों रोटी कमाते हैं। अब दूसरों को पालने का घमण्ड भी नहीं। तब एक का भाग्य था, अब सबका भाग्य है। तब दो हाथ थे, आज सोलह हाथ हैं। बोल, तब सुखी थे कि आज हैं ?" वह फिर हंस उठा। फिर

वे सब बातें करने लगे। समझ में आना बन्द हो गया।

मैं चला आया।

तीसरे दिन पहुंचा तो सौभाग्यमंजरी ने कहा, "आज एक स्त्री आई थी। और अब वह भी उसी परिवार के साथ मिल गई है। स्त्री के साथ एक और है। उसका पति ही होगा। वह आती है मट्ठा लेने। और भी कई आती हैं।"

मैंने सोचा कि इसने यह मट्ठे का व्यापार, और वह भी बिना लाभ का अपने लिए खूब निकाल लिया है। आज मैं थका-सा था। मैंने बहुत मुश्किल से अभय-कुमार को छुड़ाने की तरकीब सोची थी और आदमी भेजे थे। सो ज़्यादा बातें न की थीं। खा-पीकर सोने लगा। सौभाग्यमंजरी मेरी शय्या पर आ बैठी और मेरे बालों में उंगलियों से कंघी-सी करने लगी। मैंने उसकी ओर देखा तो उसने हाथों में मुंह छुपा लिया मुस्कराकर। मैंने कहा, "क्यों मंजरी?"

"हटो, चुप भी रहो!"

"क्यों आखिर?"

"मुझे पिता के घर भेज देना थोड़े दिन बाद!"

"क्यों, तुम भी रूठ गई?"

उसने हाथ हटाए और कहा, "पहली बार तो जाना चाहिए न?"

मैं एकदम स्फुरित हो गया।

"सच! कब?"

"छिः! यह क्या पूछते हैं?"

मैं स्वयं लज्जित हो गया। तो सौभाग्यमंजरी अब मां होनेवाली है! और तब मैं उदास हो गया। तो क्या अब यह भी मुझसे बिछुड़ जाएगी!!

हवा से दीप बुझ गया था। मैंने उसे अपने अंक में भर लिया और कहा, "मंजरी! तुम्हारी सन्तान बहुत अच्छी होगी, क्योंकि तुम बहुत अच्छी हो।"

"और तुम स्वामी!!"

रात की हवा सिहराने लगी थी। आज मेरे दो दांव थे। अभयकुमार को छुड़ाने की चाल। सौभाग्यमंजरी के गर्भ में मेरी सन्तान! दो दांव! और मेरा कुटिल भाग्य!!

तीन महीने यों ही बीत गए। तालाब आधा-सा खुद गया। उस दिन मैं सौभाग्यमंजरी के यहां से कहीं नहीं गया। रात सोया वहीं। दूसरे दिन दोपहर की

वेला थी। मैं शय्या पर पतली चादर से मुंह ढांके लेटा था कि आंगन में एक स्त्री आ खड़ी हुई। उसके साथ एक पुरुष भी था।

"आ गई?" सौभाग्यमंजरी ने कहा, "इसे भी ले आई?"

"आपने ही तो कहा था स्वामिनी!"

मैंने आंख पर से चादर ज़रा हटाकर देखा। देखूं तो, सौभाग्यमंजरी ने किसे बुलाया था।

देखा तो लगा कि जैसे मैं जीवित नहीं था!

यह पतन! यह सीमा! सीमा! यह तो सीमा का भी अतिक्रमण था! सुभद्रा अपने प्रेमी सुदाम के साथ। दोनों मेरे ही ताल में मजूरी कर रहे हैं। सुभद्रा है यह! गोभद्र की बेटी! शालिभद्र की बहन! सुवर्ण, मरकत, नीलम और रत्नों के ऊपर पांव रखकर चलनेवाली सुभद्रा, एक मजूरिन बन गई है! ऐसा है सुदाम! इसके प्रेम में ऐसी दृढ़ता है। प्रेम कि वासना!

तभी सुभद्रा ने कहा, "स्वामिनी! मैंने इससे कहा। इसने कहा : कर दूंगा।"

सुदाम ने कहा, "यह जो कहे मैं करूंगा स्वामिनी! मैं इसका बचपन का दास हूं।"

सौभाग्यमंजरी हंसी। कहा, "तो मुझे यह पता लगाकर ला कि वह परिवार कौन है? मैंने पूछा उन स्त्रियों से। कहने लगीं कि हम तो मजूर हैं। पर वे मजूर लगते हैं? तुम हो। देखकर कोई भी कह देगा कि मजूर हो।"

सुभद्रा मुस्कराई। कहा, "स्वामिनी धनी नही छिप सकते।"

सुदाम ने सुभद्रा को देखा और हंसकर कहा, "इसे देखकर कोई अगर कहे कि यह बड़ी धनवाली है, तो समझो आसमान के पंख निकल आए।"

सौभाग्यमंजरी हंस पड़ी। और कहा, "अच्छा, कैसे पता चलाएगा तू?"

सुदाम ने कहा, "यह है पिप्पली। यह उनकी स्त्रियों से मेल बढ़ा लेगी। फिर मुझे बुला लेगी।"

"ठीक कहता है उपक। यही ठीक रहेगा। पर स्वामिनी! हम यहां कितने दिन के! हम तो घूमते फिरते हैं।"

"क्यों?" सौभाग्यमंजरी ने पूछा।

"इसकी धुन है।" सुदाम ने कहा।

"तू नहीं रोकता इसे?"

"स्वामिनी ! पिप्पली की बात मैं कैसे टाल सकता हूं !"

"तुझे ऐसा कहते लाज नहीं आती ?" सौभाग्यमंजरी ने हंसकर कहा। वह मजा ले रही थी। प्रायः स्त्रियां पत्नी के दास को देखकर हंसती हैं और अपने पति की उससे तुलना करती हैं।

जब सौभाग्यमंजरी ने मट्ठा डाला तो सुभद्रा ने कहा, "और दो स्वामिनी ! हम गरीब लोग हैं। ज्यादा खाते हैं।"

वे दोनों चले गए। मुझे रोम-रोम में विष पुर गया-सा लगा। चादर ढांक ली। सौभाग्यमंजरी आई और एक चौकी पर बैठ गई। चंदन की थी वह चौकी।

मैंने कहा, "मंजरी ! ये कौन थे ?"

"मजूर थे बेचारे !"

मैं घृणा से अपने मुख की विकृति नहीं छिपा सका। वह चौंकी। कहा, "क्यों ? क्या बात है ?"

मैंने कहा "ये दोनों स्त्री-पुरुष हैं ?"

"वह तो हैं ही।"

"तुम इन्हें जानती हो ?"

"मैंने बताया था न पहले। पिप्पली स्त्री का नाम है, और पुरुष का नाम है उपक।"

मैंने कहा, "और वह परिवार कौन-सा है ?"

"एक बूढ़ा है। खूब काम करता है। जवान बेटा बैठ जाता है तो बूढ़ा कहता है : काम कर बेटा ! पुराने पापों का प्रायश्चित्त कर ! देख ! आकाश के सूर्य को देख। कभी थकता है ? बेटा ! पानी निकलेगा। कभी देखा था ऐसा चमत्कार ! धरती का पानी खींचकर निकाल, आंख का पानी बेकार मत बहा। बेटा ! जवानी में थक गया है। काम कर ! रो मत ! स्वामिनी भली मिली है तो उसका ज्यादा फायदा न उठा। धनपुर मनुष्य के सत्य के लिए बन रहा है। भला हो स्वामिनी का। कहते हैं, महाराज शतानीक की पुत्री है। इस घर में रहती है आकर ! और तुम्हारे लिए मट्ठा बिलोती है ! खून को पानी मत कर बावरे ! खून को मेहनत में बदल !—सच, जानें कैसी-कैसी बात करता है। मजूर न होता तो कोई बड़ा ऊंचा आदमी बन सकता था वह। उसका माथा ! यों रहता है ऊंचा। उदयन भैया जिस तपोवन में थे, वहां मैंने ऐसा ही एक तपस्वी देखा था। अभी मैं औरों के बारे

में कुछ जान नहीं पाई हूं।"

मन में आया सुभद्रा की बात कह दूं। पर सोचा—नहीं, यह ठीक नहीं होगा। किसी दिन अचानक उसके सामने खड़ा हो जाऊंगा। तब देखूंगा, क्या करती है? सौभाग्यमंजरी जानेगी तो शायद सौतिया डाह में उसे कहीं निकाल बाहर करे!

तब मुझे लगा कि एक बड़ा हरियाला वृक्ष हूं। सुन्दर, ऊपर फूल भी हैं। जब अपनी यंत्रणा से कांपता हूं, तब लोग समझते हैं कि मैं हवा में झूम रहा हूं। मैं बड़े-बड़े सुपनों से भरे पक्षियों को अपने ऊपर बिठाता हूं, जहां वे घोंसले बनाते हैं। लेकिन मेरी जड़ में दीमक लगी है और मेरे कोटर में सांप हैं जो उन पक्षियों के अंडे चुरा लेते हैं। फिर भी मैं खड़ा हूं, क्योंकि मेरी जड़ें धरती के भीतर घुसी हुई जाने कहां-कहां का पानी चूस रही हैं। सब कुछ ठीक सही, किन्तु मेरी पत्नी अपने सेवक के साथ मिट्टी ढोए और मस्त रहे! मेरा ऐसा अपमान! और मैं देखता रहूं? कुछ न कर सकूं? इसे पकड़कर कटवा दूं। पर यह तो मेरे लिए ऐसे अपमान की बात होगी कि मुंह न दिखा सकूंगा, क्योंकि लोग तो जान जाएंगे! तब क्या चुपचाप इसकी हत्या करा दूं?

नहीं, नहीं। मैं सुभद्रा की हत्या नहीं कर सकता, सुभद्रा को मैंने प्यार किया है। आज वह इस तरह सुखी है, तो इसी तरह रहे; परन्तु मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता। मैं राजा नहीं हूं। मैं वही धनकुमार हूं। मैं वही दीन-दरिद्र हूं। मैं अभागा हूं।

राज्य छोटा था, परन्तु फैसले तो करने ही पड़ते थे। और मैंने देखा कि यहां भी झूठ था, मक्कारी थी। धनपुर एक धन का नगर ही निकला। मेरा आदर्श नगर कहीं नहीं था। तो क्या संसार सदैव ऐसे ही चलेगा? इस विचार ने तो मुझे बिलकुल ही कहीं का न रखा। बाहर के श्रेष्ठियों पर 'कर' अधिक लग गया था सो वे अब धनपुर कम आते थे। स्थानीय व्यापारी अब माल के दाम बढ़ाते थे। किसानों पर उनका ऋण था, इसलिए वे घी की कटौती करने लगे। कर्मचारी व्यापारियों से घूस लेते और हद तो यह हुई कि सेना के क्षत्रिय मजूरिनों पर डोरे डालने लगे। सब व्यर्थ था। जो दास भागकर आए थे, वे यहां खाना पाते तो काम कम करते, ताकि काम ज़्यादा दिन तक चलता रहे। वनभाग में डाकू फिर उठने लगे थे; क्योंकि बाहर के व्यापारी कम आते थे, सेना को घूस कम मिलती थी, वह ध्यान कम देती थी और परिणामतः हमारे सार्थ ही लुट जाते थे। सेना से

प्रश्न होता था तो वे ग्रामणियों पर दोष रखते थे कि ग्रामणी ही डाकुओं से मिले हुए हैं और ग्रामणी कहते थे कि यह काम गणराजाओं के भेजे आदमियों का हो सकता है, जिनके दास भाग आए हैं।

मेरा बालू का घरौंदा ढह रहा था। और मेरे मन में आग जल रही थी। उधर अभयकुमार के बारे में कुछ पता नहीं चला था। माता-पिता तो गायब थे ही, और सुभद्रा मेरे सामने ही आई थी उस दिन। बिंवसार की तरफ से पत्ता तक नहीं खड़क रहा था। एक आशा थी सौभाग्यमंजरी! और वह मातृत्व के भार से लदी, ऐसे स्वप्नों में डूबी थी कि मुझे लगता था, वह किसी दूसरे लोक में चली गई थी। यों मैं मजूरों की भीड़ देखता। पर अब मैं क्या कर सकता था! मनुष्य के भविष्य में से मेरा विश्वास उठ चला था। मैं प्रायः राजकाज के बहाने से विशाल भवन में रहता। एकान्त मुझे अच्छा लगता। सौभाग्यमंजरी बेचारी उसी लगन और विश्वास से उसी छोटे घर में रही आती। पन्द्रह दिन बीत गए। मैं और मेरी वीणा। यही दो थे उस जीवन के उन नीरव और सूने क्षणों में। सोलहवें दिन मैंने सौभाग्यमंजरी के पास चलने का इरादा किया कि एक रथ धीरे-धीरे आकर भीतर घुसा और गर्भभारालसा सौभाग्यमंजरी उतरी। मैं चौंक उठा।

उसने एक सेवक से पूछा, "स्वामी कहां हैं?"

प्रणाम करके उसने कहा, "ऊपर हैं देवी।"

वह ऊपर आई। मैंने कहा, "क्या बात है? घबराई-सी कैसे हो?"

वह कुछ उत्तेजित-सी थी। आते ही बैठ गई और बोली, "पानी!"

मैंने पानी दिया। पीकर मुझे देखती रही और फिर कहा, "वनपुर डूब गया!"

डूब गया! मैं चौंका! डूब कैसे गया!

मैंने पूछा, "डूब गया? वह कैसे?"

"ऐसे कि पाप वहां आ गया।"

"पाप?"

"आप यहां बैठे कौन-सा राजकाज देख रहे हैं? जानते हैं, चारों ओर क्या हो रहा है?"

मैं समझा नहीं। पूछा, "ऐसी कोई बात तो नजर नहीं आती।"

"नजर नहीं आती! सेना के उद्दण्ड लोग मजूरिनों को छेड़ते हैं।"

"मजूरिनें उन्हें बढ़ावा देती होंगी।"

सुनते ही वह झल्ला उठी, "पुरुषों की सी बातें मत करो। रोटी पेट को जुटाने आती हैं, अपने बच्चों को पालने, और आप ऐसा कहते हैं ? कल रात तो हद कर दी उन्होंने। उपक को मार डाला।"

"उपक !"

सोचा, कितना अच्छा किया उन्होंने !

कहा, "उपक ने कुछ किया भी तो होगा ?"

सौभाग्यमंजरी आश्चर्य से देख उठी और बोली, "आप यह कह क्या रहे हैं ? उन्होंने बलात् पिप्पली को उठा ले जाना चाहा। वह तो कहो कि उस परिवार से वह हिल गई थी, संग ही उठना बैठना था। आवाज सुनकर वह बूढ़ा निकल आया और लड़ने लगा। उसके भी चोटें आई हैं। बूढ़ा सैनिकों से क्या लड़ता अकेला ! तब उसकी स्त्री ने लड़कों और बहुओं को ललकारा। बड़ी मुश्किल से पिप्पली बची है। घायल हो गई। सबके चोटें लगी हैं। मजूरों में बड़ा भारी रोष है। उन्होंने मुझे भेजा है कि स्वामी को तुरन्त सूचना दें। और आप हैं कि किसी स्त्री के सम्मान और पातिव्रत का ध्यान ही नहीं करते ?"

"पातिव्रत !" मैंने विषाक्त फूत्कार किया, "पिप्पली और पातिव्रत !"

"हां, हां, वह पतिव्रता है।" वह चिल्लाई, "आपने देखा भी है उसे !"

"देखना ही तो चाहता हूं।" मैंने कहा, "उसे एक बार सामने लाओ। यदि वह मेरे सामने खड़ी हो सके तो देखूं !"

सौभाग्यमंजरी ने ताली बजाई। एक सेवक ने प्रणाम करके घुसते हुए कहा, "आज्ञा स्वामिनी !"

"नीचे रथ में एक मजूरिन है। उसे यहां छोड़ जाओ !"

वह अवरुद्ध-सी, क्रुद्ध-सी बैठी रही। मैं छाती पर हाथ बांधे खड़ा रहा। द्वार पर सेवक आया और बोला, "चली जा भीतर ! स्वामिनी हैं।"

सेवक चला गया। पिप्पली घुसी। मैंने वातायन से बाहर झांकते हुए, उसकी ओर पीठ करके कहा, "हां पिप्पली ! तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है। स्वामिनी ने मुझे सूचना दी है।"

"स्वामी !" सुभद्रा ने प्रणाम करके कहा, "मेरा भाई मारा गया है।"

भाई ! भाई !!

मैंने मुड़कर कहा, "झूठ मत बोल ! तू कौन है क्या मैं नहीं जानता ?"

मुझे देखा उसने और हाथ उठाकर पागल-सी हंसी और झपटकर मेरे पांव पकड़कर रोने लगी, "छलिया, तुम यहां हो !"

मैं घृणा से पीछे हट गया।

"मत दिखा यह त्रिया-चरित्र मुझे पापिनी ! तूने कुल की मर्यादा डुबा दी।"

सुभद्रा दोनों हाथों पर टिककर बैठ गई। और मुझे देखकर मुस्करा उठी। सौभाग्यमंजरी अवाक् बैठी थी। मेरे क्रोध का जैसे सुभद्रा पर प्रभाव ही नहीं पड़ा था। उसने सौभाग्यमंजरी की ओर देखा और मुस्कराकर कहा, "मेरी सौत !"

सौभाग्यमंजरी ने झपटकर सुभद्रा को छाती से लगा लिया और कहा, "यही हैं। अरी ! तूने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा ! इन्हींके लिए तूने कुल का अपमान सहा। इन्हीके लिए तेरे दास ने अपना सब कुछ, प्राण तक बलिदान कर दिया। इन्हींके लिए श्रेष्ठि गोभद्र की पुत्री, श्रेष्ठि शालिभद्र की बहिन, लोकलाज त्यागकर दर-दर भटकी। इन्हींके लिए तूने मिट्टी ढोई। अभागिन ! पर तुझे मिला क्या आखिर ! जिसके लिए इतना किया, वह तो वधिक से भी अधिक क्रूर-सा तुझे मार डालने को उद्यत है। यही हैं जो तुझे बिना कहे छोड़ आए थे, और पुरुष के उस दंभ को तोड़ने को तूने जीवन के इतने कठिन संघर्ष झेले ? तू मेरी सौत नहीं, मेरी स्वामिनी है।"

मैं चक्कर खाकर बैठ गया। जब संभला तो सुना सुभद्रा कह रही थी, "लेट जाओ स्वामिनी ! तुम्हारी हालत ऐसी नहीं है।"

"मैं तेरी स्वामिनी नहीं बहिन ! तू मेरी बड़ी बहिन है। है न ? पर वे तुझपर विश्वास नहीं करते न ? न करें। तू मेरे पास रह। मैंने देखी है तेरी दिन-दिन की घुल-घुलकर तड़पती वेदना।"

सौभाग्यमंजरी लेट गई। पर कहती गई, "सुभद्रे ! पुरुष की यही परम्परा रही है। इनका क्या विश्वास ! स्त्री तो जैसे कुछ है ही नहीं। रघुकुल के राम ने क्या वैदेही को कम सताया था !"

सुभद्रा मेरी ओर देख भी नहीं रही थी। जैसे उसे मेरी उपेक्षा की चिन्ता ही नहीं थी। सौभाग्यमंजरी ने मुझसे कहा, "अग्नि-प्रवेश कराऊं इसका ?"

मैं बैठा रह गया। तो यह जानती है कि सुभद्रा कौन है ? पर यह नहीं जानती

थी कि मैं इसका पति था। मैंने अपना परिचय ही इसे कब दिया था ! फिर मंजरी का अपराध ही क्या था ! स्वामी की पुत्री का विषाद न देख सकने के कारण-सुदाम ने उसकी सेवा की, हर हालत में उसके साथ रहा। और अन्त में जान तक दे दी ! गोभद्र की पुत्री ! शालिभद्र की बहिन ! वैभव ! सुवर्णरत्न ! उपवन ! आनन्द ! क्या नहीं था इसके पास ! सब छोड़कर निकल आई। क्यों ? मेरे लिए ! नहीं सह सकी अपने नारीत्व का अपमान ! पुरुष को दिखा देना चाहती थी अपनी शक्ति। और कुलनारी के रूप में छिप नहीं सकती थी। इसलिए इसने मजूरी की। सूखी रोटी खाई। उसने सूखी रोटी खाई, जिसकी गायों के नीचे की धरती दूध से चिपचिपी रहती है।

मैंने देखा। वह अब भी अभिमानिनी थी। उसपर मैंने लांछन लगाया था। वह पर्वत जैसी थी जिसपर वह वज्र नष्ट हो गया था। मेरी मूर्खता पर उसने ध्यान ही नहीं दिया ! उसके सामने मैं अपराधी हूं। वह क्षमा मांगे तो किसकी ?

मैंने सिर पकड़ लिया और चिल्ला उठा, "ओ निर्दयी भाग्य ! ओ निर्मम ! क्या-क्या देखना है अभी ! ले क्यों नहीं जाता ! एक दिन भरे-पूरे परिवार को छोड़ आना पड़ा था भाइयों के कारण, क्योंकि वे अपनी ईर्ष्या से मेरी हत्या करना चाहते थे। वैभव को उस दिन छोड़कर भिखारी बना था ; सोचकर कि अब सुख से रहूंगा। परन्तु मैं हूं वह पापी कि मुर्दे में से मुझे निकालकर दैव ने रत्न दे दिए। अवन्ति का वैभव मेरे पांवों पर लौटने लगा। वह भी छोड़ा फिर, भाइयों के द्वेष और चण्डप्रद्योत की क्रोधमयी हिंसा के कारण। फिर बना राह का भिखारी, और राजगृह आया। और भाग्य ने मुझे उठाकर आकाश पर धर दिया। किसीके पाप को पुण्य बनाने चला था कि स्वयं पाप बन गया। भागना पड़ा, रातोंरात, राज्य के लिए, राज्य के नमक का मूल्य चुकाने को। दुर्दम राजनीति और अभयकुमार को छुड़ाने के लिए सबको छोड़ना पड़ा। और आया था कोसांबी महाराज शतानीक को मगध का मित्र बनाने, परन्तु हुआ क्या ? मेरे अहंकार का सर्वनाश मंजरी। सुभद्रा······"

मैं नहीं जानता मेरे स्वर में क्या था कि उस मानवती का मान टूट गया। दोनों मेरे दोनों ओर बैठ गईं और मुझे पकड़ लिया जैसे मैं गिर रहा था।

सुभद्रा ने कहा, "इतना अविश्वास था तुममें। सब कुछ करते हो, पर किसीपर मन नहीं खोलते ! किसीको भी अपना नहीं समझा आज तक !"

उसकी आंखों में आंसू भर आए। सौभाग्यमंजरी चुप बैठी मुझे देखती रही।

'मैं बहुत अभागा हूं सुभद्रा! मुझे क्षमा करो। मुझे क्षमा कर दो सुभद्रा! मैंने सदैव छल किया है। मंजरी से भी...'

"छिः!" सौभाग्यमंजरी ने मेरा मुंह अपने हाथ से बन्द करके कहा, "छल करो तुम मेरी सौत से। मुझसे क्यों?"

यह सुनकर सुभद्रा हंसी और सौभाग्यमंजरी भी।

बाहर कोलाहल होने लगा था। एक सेवक ने आकर कहा, "देव! बहुत-से मजूर आए हैं। श्रमिक कहते हैं पिप्पली कहां है। पिप्पली का न्याय राजा को देना होगा।"

मैंने उसी आवेश में कहा, "जाकर कह दो कि पिप्पली राजा की है। मेरे पास वह आई है, वह मेरी है। उसे मुझसे अब दैव भी नहीं छीन सकता।"

सेवक चला गया। पता नहीं बाहर क्या हुआ। सुभद्रा ने कहा, "मुझे जाने दो स्वामी! वे मुझे देखकर शान्त हो जाएंगे।"

"तुम बैठो सुभद्रे! आज बातें करने दो मुझे। मैं तुम दोनों को अपनी कहानी सुना दूं वर्ना मेरा मन फट जाएगा। न्याय फिर हो जाएगा। भीड़ चली गई लगती है।"

वे दोनों मेरे पास बैठ गईं। मैं सुनाने लगा। क्या-क्या कहा। कब तक कहा! पर वे रोने लगीं और मैं सुनाता रहा।

द्वार पर मेरा विश्वस्त भृत्य नील दिखाई पड़ा।

मैंने पूछा, "क्या है नील?"

"देव भीड़ चली गई। दण्ड-प्रहार करना पड़ा। एक बूढ़ा और उसके पुत्र बहुत उत्तेजित थे। बूढ़े ने कहा, 'तुम्हारा राजा लोलुप भेड़िया है, जिसने उसे स्त्री जानकर पकड़ लिया है। किन्तु हम शान्त नहीं रहेंगे। राजा है तो क्या वह प्रजा की बहू-बेटियों की लाज लूट लेगा! ऐसे राजा को हम पापी कहते हैं।'—देव! वे हटा तो दिए गए, परन्तु उन्होंने हाट में जाकर पुकारा और नगर के संभ्रान्त व्यक्ति नीचे आए हैं। वे देव के दर्शन चाहते हैं।"

मैं उठ खड़ा हुआ। मैंने कहा, "मंजरी! पिप्पली को स्नान कराओ।"

नीचे गया तो नगर के गण्यमान्य खड़े थे। मैंने कहा, "विराजिए।"

वे बैठ गए। तब ऊंचे आसन पर मैं भी बैठ गया।

"कहिए !" मैंने कहा, "कैसे कष्ट किया ?"

क्षण-भर वे बगलें झांकते रहे फिर वयोवृद्ध श्रेष्ठि कंठाभरण ने कहा, "आर्य ! प्रजा में आज विक्षोभ व्याप्त हुआ है।"

मैंने कहा, "कारण ?"

"आर्य ! वे कहते हैं कि किसी स्त्री का स्वयं आपने ही अपहरण किया है।"

"मैंने ? नहीं। वह स्त्री स्वयं मेरे पास रहना चाहती है। कौन कहता है, मैंने उसे अपहृत किया है। वह स्वयं मेरे पास आई है।"

वे एक-दूसरे का मुंह देखने लगे।

तब क्षत्रिय जयभास ने कहा, "आर्य ! फिर भी क्या वह परस्त्री नहीं है ?"

"कौन कहता है वह परस्त्री है ? उसका कोई पति हो तो बुलाइए। आपसे किसने कहा ?"

वे बड़े चकित हुए। जयभास ने कहा, "देखते क्या हैं आप लोग। उनका नेता वह बूढ़ा है जो दुहाई पर दुहाई दे रहा है, उसे बुलाइए !"

सेवक को इंगित हुआ। वह एक वृद्ध को लाया जो उत्तेजित था। उसने दूर ही से मुझे देखा और चिल्लाया, "यही है तुम्हारा राजा ! इसीने अपने धन के मद में एक कुल-नारी का अपहरण किया है ? वह पतिव्रता थी। हमने देखा है कि वह किस तरह जीवित थी।"

वह शायद और भी बहुत कुछ कहता, पर मैंने उसकी ओर पीठ मोड़कर उठकर कहा, "क्या कहना है तुम्हें वृद्ध ! व्यर्थ कोलाहल मत करो। आओ मेरे साथ, और देखो कि जिस स्त्री को तुम देवी बना रहे हो, वह इस समय कैसा शृंगार कर रही है।"

वृद्ध अवाक् रह गया।

मैं भीतर चला। तब श्रेष्ठि कंठाभरण ने कहा, "जाओ ! जाओ !"

वे परस्पर तरह-तरह की बातें करने लगे। वृद्ध खोया-खोया-सा मेरे पीछे चलने लगा। जब हम भीतर के प्रकोष्ठ में पहुंचे, मैंने मुड़कर कहा, "आप बैठिए। वह आती है।"

वृद्ध ने घृणा से मेरी ओर देखा भी नहीं।

तब मैंने कहा, "बैठ जाइए श्रेष्ठि धनसार !"

धनसार !! वृद्ध कांप उठा ! फिर देखा मुझे !!

"तू !"

"मैं ही हूं पिता !"

"धनकुमार ! धन वत्स ! और ऐसा काम ! आज तू मुझे इस वैभव में मिला है पुत्र ! तुझे देखकर मेरे भाग्य धन्य हो गए ! मैंने जीवन में कुदाल चलाई, वह वेदना भी चली गई। तेरे भाई, भाभियां और मां पेट के लिए दर-दर भटकते रहे, यह दुःख भी चला गया। तेरा भतीजा सूखी रोटियां खाता है, यह भी कुछ नहीं। पर कोई चरित्र-भ्रष्ट नहीं हुआ। और तू अधिकार और वैभव पाकर ऐसा हो गया। धिक्कार है तुझे ! तू कुत्ता हो गया मेरे पुत्र ! क्या तू सचमुच मेरा ही पुत्र है ! अकस्मात् ऐसे वैभव में मिलने पर भी तू मुझे 'तू' क्यों नहीं दीखा। तू मुझे भिखारी ही मिलता तो लाज से मेरा सिर तो नहीं झुकता। ओ दैव ! तूने इसे भी एक कुदाली दी होती तो मेरा गौरव तो अपराजित रह जाता !"

तभी द्वार पर राजस वेश में सुभद्रा आई। उसने कहा, "स्वागत पिता !"

पिता ने उसे देखा और विषाक्त फूत्कार किया, "कुलटे ! बिक गई ! तू तो कहती थी कि तू अच्छे घर की है। अपने पति को खोज रही है, और आज कहां है तेरा वह विरह, वह पीड़ा। भाई मर गया है इसकी सेना के हाथ, और तू इससे विलास करने को खड़ी है ! उपक न मरता और तू ही मर जाती तो स्त्री पर कलंक तो न लगता ! बस यही है तेरी पति की खोज का अन्त !"

"हां पिता !" सुभद्रा ने कहा, "यही अन्त है। राजगृह के श्रेष्ठि गोभद्र की पुत्री सुभद्रा को अपना पति मिल गया। उपक मेरे पिता का अनुचर था।"

वृद्ध अवाक् रह गए। मैंने कहा, "सुभद्रा ! श्रेष्ठि धनसार को प्रणाम करो। ये मेरे पिता हैं !"

"पिता !" सुभद्रा ने पांवों पर सिर रख दिया और तब पिता ने आश्चर्य से देखा कि उनके पांवों पर एक सिर और था—उनकी स्वामिनी—सौभाग्यमंजरी का।

हर्षातिरेक से पिता वहीं बैठ गए और अपने दोनों हाथों से सिर पीटकर रोते हुए कहने लगे, "हाय री जीभ ! गल जा, जिसने पुत्र और पुत्रवधू से ऐसे शब्द कहे। धनसार ! तूने दरिद्रता में भी अहंकार किया। ले ! यह उसका फल तुझे मिल गया।"

मैंने कहा, "मंजरी ! पिता को स्नान कराओ। मैं वहीं जाता हूं।"

मुझे लौटने में देर हो गई। नागरिक कुछ सशंक थे। मैंने अपने स्थान पर बैठकर कहा, "उन्हें कोई विरोध नहीं है। वे तो प्रसन्न हैं। आप चाहे तो देख सकते हैं।"

उपस्थित समुदाय को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, जैसे क्या यह जादूगर है? या बंदी कर देता है ले जाकर? क्या बात है?

मैंने कहा, "आप देखिए। कोई और तो उस स्त्री का रक्षक नहीं बनता!" वे एक-दूसरे को देखने लगे। जयभास ने कहा, "देख डालो। देख डालो! व्यर्थ हमारे राजा पर दोष लगाया।"

वह लज्जित था, सभी झेंप रहे थे, पर सन्देह सबके मन में था।

सेवक लौटा तो दो युवक और एक वृद्धा साथ थी। उसकी गोद में एक बालक भी था।

मैंने किसीको बोलने का अवसर न देकर कहा, "चले आओ इधर! स्वयं देख लो कि जिस स्त्री और वृद्ध के तुम रक्षक बने हो, वे स्वयं इस बात को चाहते हैं कि वह स्त्री मेरे पास रहे।"

वृद्धा ने कहा, "ओ तेरा नाश हो पापी! ऐसा मत कह। यह न समझ कि तू राजा है तो हम डर जाएंगे।"

एक युवक चिल्लाया, "धिक्कार है! आप नगर के सम्भ्रांत पुरुष हैं। और चुप बैठे हैं।"

दूसरा युवक पुकार उठा, "राजा वेन भी नहीं रहा, फिर यह क्या चीज़ है?"

मैंने कड़ककर कहा, "समय नष्ट न करो। इधर आओ।"

लोग बोले, "आगे जाओ। पहले देखो तब बात करो।" वे कुछ घबराए-से बढ़ आए। भीतर के प्रकोष्ठ में ले जाकर मैंने पुकारा, "मंजरी! इन्हें भी ले जाओ।"

"स्वामिनी!" मंजरी को देखकर वे कह उठे।

मैं नहीं रुका। बाहर आ गया।

फिर अपनी जगह बैठकर मैंने कहा, "आप नगर के गौरव हैं। आपका और मेरा गौरव एक है। आप उनको बुलाकर पूछ सकते हैं। कोई असन्तुष्ट नहीं है।"

भीड़ बाहर जमा थी। मैंने कोलाहल भी सुना। फिर कहा, "और कुछ?"

जयभास ने कहा, "किन्तु पार्य ! भीड़ तो अशांत है।"

"आप शांत करिए। आप ही उसे लाए हैं।"

वे चक्कर में पड़ गए।

"देखिए", मैंने कहा, "जो विरोधी थे, वे अब विरोधी नहीं रहे।"

"प्रमाण !" कण्ठाभरण ने कहा।

मैंने ताली बजाई।

नील आया। मैंने कहा, "भीतर जाओ। और स्वामिनी से रेशम लेकर उसपर हमारे विरोधियों के हस्ताक्षर ले आओ कि वे हमारे विरोधी नहीं हैं। वह बालक छोड़ देना। वह हस्ताक्षर नहीं कर सकेगा।"

नील मुस्कराकर चला गया। और जब नील ने काठ को खींचकर, डंडे सीधे करके, पत्र पर लेख दिखाया, उपस्थित जन उठ खड़े हुए। वृद्ध कण्ठाभरण ने कहा, "इसे हमें दो नील ! बाहर दिखाना होगा।"

इसके बाद वे सब चले गए। मैं वहीं खड़ा रहा। सेवकों ने द्वार बन्द कर दिए। सैनिक पहरा देने लगे। नील ने आकर कहा, "प्रभु ! भीड़ छंट गई। पर तीन स्त्रियां और एक पुरुष रह गए। वे शायद इसकी शिकायत करने महाराज शतानीक के पास जाएंगे।"

मैंने कहा, "नील ! अपराधी सैनिक रात में ही पकड़ लिए जाएं। वनिकों की रक्षा को दूसरे सैनिक नियुक्त हों। घोषणा करा दो कि राज्य में अन्याय नहीं चलेगा। और देखो ! तुम स्वयं उन चारों पर आंख रखना।"

नील ने कहा, "जो आज्ञा प्रभु !"

उसके चले जाने पर मैं धीरे-धीरे भीतर गया। मैंने भीत की जाली में से देखा। पिता एक पर्यंक पर बैठे थे। माता नीचे कालीन पर बड़े भैया धनदत्त और छोटे भैया धनचन्द्राधिप के साथ बैठी थीं। बालक सुभद्रा की गोद में था और मंजरी उसके पास थी। वे सब स्नान करके स्वच्छ और बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए थे।

मैं प्रकोष्ठ में घुसने ही वाला था कि मेरे अत्यन्त विश्वस्त भृत्य माघ ने इंगित किया। मैं रुक गया। उसने हाथ से मुझे बगल के प्रकोष्ठ में बुलाया।

मैंने पास जाकर कहा, "क्या है माघ ?"

"राजा !" उसने कहा, "तुरत चलें।"

"अभी मिलकर इनसे..."

'विलम्ब घातक है। इसी क्षण चलें।"

मैंने कहा, "बात क्या है?"

"मार्ग में कहूंगा। अभयकुमार का विषय है।"

हम नीचे आ गए। माघ ने वहां खड़ी प्रतिहारी से कहा, "देवी से कहना कि विशेष कार्य से स्वामी माघ के साथ गए हैं। अभी।"

यह कहते हुए उसने घोड़े की लगाम पकड़ ली। और हमने घोड़े बढ़ाए।

सिंहद्वार से निकलते ही मैंने कहा, "किधर?"

"दक्षिण वन की ओर!"

घोड़े दौड़ने लगे। हमारे लटकते खड्ग घोड़ों के दौड़ने से हिलकर उनकी पीठों पर लगते और वे और वेग से भागते। हम इस तरह नगर के बाहर आ गए। तब माघ उतर गया और बोला, "उतरिए स्वामी!"

मैं उतर पड़ा।

तब माघ ने कहा, "स्वामी गजब हो गया।"

"वह क्या?"

"प्रभु! यहीं मिलने को कहा था राजहंस ने। परन्तु वह अब है नहीं।"

हम निश्चित नहीं कर सके। दूर एक घोड़ा तेजी से दौड़ता हुआ दीखा। वह इधर ही आ रहा था। हम पेड़ों की आड़ में हो गए। वहां आकर घोड़ा रुक गया। और एक व्यक्ति ने गरगलाते भर्राए स्वर से पुकारा: "माघ!"

"प्रभु! राजहंस है।"

हमने देखा वह लहूलुहान था। मुझे देखकर उसने घोड़े का सहारा छोड़कर प्रणाम किया, किन्तु वह इसमें गिर गया।

माघ ने संभाला। मैं बायां घुटना टेककर झुक गया। राजहंस की आंखें मुंद गईं।

माघ ने पुकारा, "राजहंस!"

राजहंस ने आंखें खोलीं। वह इतना घायल था कि बोल भी नहीं पा रहा था। बड़ी मुश्किल से उसने कहा, "अभय मुक्त······हुए······प्रद्योत के चर आ रहे हैं ······पकड़ लें······उन्हें सीमा पर ही······अन्यथा युद्ध······वत्स की सेना भी उधर ही है···"

आगे वह कुछ नहीं कह सका। सिर लुढ़क गया। मैंने खड्ग निकालकर उसे

अभिवादन किया। माघ ने भी। माघ उसे जलाने को चिता बनाने लगा। मैं सोचता हुआ बैठा रहा। और हमारे देखते-देखते राजहंस जैसा सोने का आदमी लहू से अपनी रोटी का मोल चुकाकर चला गया।

तीन दिन बीत गए। हमने अवन्ति के गुप्तचर पकड़ लिए और उन्हें मिटा दिया। अवन्ति की जो सेना की टुकड़ी आ रही थी, वह अवश्य ही वत्स की सेना से टकराती। युद्ध का श्रीगणेश हो जाता। मैंने वैशाली का एक सार्थ देखा। तुरन्त चालाकी से ऐसा प्रबन्ध किया कि वह लूट लिया गया। और लुटेरों के रूप में अवन्ति के वे सैनिक घेर लिए गए। कमाल तो माघ का था, जिसने वैशाली के सार्थ का माल भी अवन्ति के सैनिकों के पास से बरामद किया। अभयकुमार छूट ही चुका था। मेरे सब काम हो चुके थे। वैशाली और अवन्ति में फूट पड़ चुकी थी। अवन्ति को वत्स से डर भी पैदा हो गया था। माता-पिता और भाई मिल ही चुके थे। केवल भाभियां और धनदेव रह गए थे।

मैंने कहा, "माघ! अब मुझे लौटना है।"

माघ ने कहा, "हां देव! आप जाएं! मैं यहीं हूं।"

"कोई बात हो तो मुझे तुरन्त सूचना भेजना।"

"मैं स्वयं आऊंगा।"

घर पहुंचा तो मां रोई। दोनों भाई गले मिले। मैंने बालक को गोदी में लेना चाहा तो वह नहीं आया। मां ने कहा, "अरे तेरा पितृव्य है!"

पर बालक ने दादा के आंचल में मुंह छिपा लिया। बाकी सबसे वह हिला हुआ था। पिता के चरण छुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया और बोले, "पुत्र! अब उन्हें तो बुला।"

मैं इसी फिक्र में बाहर आया तो नील ने कहा, "मैं कल से राह देख रहा था प्रभु!"

"क्यों क्या हुआ?"

"उस आदमी का नाम धनदेव है। बड़ा हठी है। महाराज शतानीक के यहां जाकर अड़ गया। उन स्त्रियों में से एक चिल्ला रही थी, "अरे, उसने मेरे बच्चे को भी बन्दीगृह में डाल दिया है? धिक्कार है ऐसे राज्य को! हम कोई दास नहीं। हम नागरिक हैं। क्या गरीब जानकर तुम हमारी सुनवाई नहीं करते!—अन्त में प्रजा इकट्ठी हो गई और महाराज शतानीक तक बात पहुंची। मैं भीतर नहीं जा

पाया। जो सुना है उससे यही पता चला है कि वे आपपर बहुत क्रुद्ध हुए और अपनी पुत्री पर भी।"

मैंने हंसकर कहा, "वह तो मामूली बात है। सब ठीक हो जाएगा।"

बाहर से एक सेवक ने प्रवेश करके कहा, "प्रभु ! महाराज शतानीक का पत्र लेकर एक घुड़सवार आया है।"

"ले आओ।" सुनकर वह चला गया। पत्रवाहक ने मुझे प्रणाम किया और पत्र दे दिया। कपड़े का पुलिंदा खोलकर मैंने पढ़ा। सारांश यह था कि महाराज शतानीक राज्य में इस अन्याय को देख बहुत विक्षुब्ध हुए हैं और वह भी अपने जामाता और पुत्री के हाथों। स्त्री को बालक लौटाया जाए और बन्दियों को छोड़ दिया जाए और उस व्यभिचारिणी स्त्री को, जिसके पीछे इतना काण्ड हुआ है, उचित दण्ड दिया जाए। और भी बातें थीं कि ऐसी तो उन्हें आशा न थी इत्यादि। और यदि आज्ञा का, पारिवारिक सम्बन्धों का अनुचित लाभ उठाकर, तुरन्त उचित पालन नहीं किया गया तो महाराज शतानीक स्वयं ही, जामाता और पुत्री, दोनों को न केवल महाराज होने के नाते दण्ड देंगे, बल्कि ससुर और पिता होने के नाते भी। सब बन्दी साथ लेकर कोसांबी में उपस्थित हुआ जाए !

मुझे कुछ बुरा भी लगा, परन्तु महाराज की कर्तव्यनिष्ठा, मुझ तक ही नहीं, पुत्री तक थी; इससे अपमान-सा नहीं लगा। मैंने कहा, "उत्तर संध्या तक पहुंच जाएगा, तुम जा सकते हो !"

पत्रवाहक प्रणाम करके चला गया। मैंने पत्र नील को दे दिया। उसने पढ़ा तो चेहरा सफेद पड़ गया।

बोला, "अब !"

"मैं महाराज को समझा दूंगा।"

हम बातें समाप्त भी नहीं कर सके थे कि माघ बाहर घोड़े से उतरता दिखलाई पड़ा। यह कैसे आया ! मैं सोचने लगा।

सेवकों से पूछता वह सीधा मेरे पास आ गया।

"इतनी जल्दी कैसे आ गया माघ !"

"प्रभु ! आफत आ रही है। महाराज शतानीक तक संवाद पहुंच गया है कि अवन्ति की सेना ने उनकी सीमा के पास वैशाली का सार्थ लूटा। वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड देना चाहते हैं। मैंने सुना है अवन्ति की और भी सेना आ रही है।

इस समय दण्ड से आहुति पड़ जाएगी और होगा युद्ध। और युद्ध होने पर पता चलेगा महाराज को कि वत्स से गुप्तचर गए थे अवन्ति में। तब भण्डा फूट जाएगा।"

मैं गहरे सोच में पड़ गया।

आगे जो हुआ उसे मैं भाग्य का ही खेल समझता हूं, वह मेरा क्या था !

माघ को भेजा कि अवन्ति से आनेवाली सेना की टुकड़ी का वह वत्स सैन्य द्वारा स्वागत कराए। इसके लिए सीमा के सेनानायक को अपनी मुद्रांकित आज्ञा दी और नील के द्वारा महाराज का ध्यान इधर से बंटाने को उनसे कहलवाया कि जामाता धमकी से नहीं डरते। वे न्याय-पथ पर हैं। महाराज का क्रोध भड़केगा इसलिए जम्बूक को भेजकर चुपचाप राजपुरोहित से कहलवाया कि आप महाराज को रोकिए। यह जामाता का पारिवारिक मामला है। आप स्वयं जांच करिए। जो हो, इस कोसांबी और धनपुर की सनसनी और हलचल में महाराज शतानीक को मैंने कौशल से इतना समय ही नहीं मिलने दिया कि वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड दे पाते। सीमा पर अवन्ति की नई सेना का स्वागत हुआ। अवन्ति की सेना का नायक मेरे पास लाया गया। मैंने उसे ठहराया। मुझे वह पहचान गया। मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। वृद्ध राजपुरोहित ने महाराज शतानीक को रोक दिया। जांच करने स्वयं आए। मैंने असली बात बताई। सबसे मिले और बोले, "ठीक है। धनदेव को तो तंग करना उचित है। उसीने परिवार-भर को रुलाया है, पर उन भाभियों ने क्या बिगाड़ा है···"

"यही तो मैं मरी जाती थी सोच-सोचकर !" मां ने कहा।

राजपुरोहित बोले, "तो जामाता ! मैं निमन्त्रण भिजवाता हूं कोसांबी जाकर। सबको लेकर आना। वहां प्रासाद में तुम सब भीतर पहुंचो, तुम्हारी भाभियां वहीं भेजी जाएंगी। धनदेव को तुम जानो। महाराज को मैं समझा दूंगा।"

संध्या के समय तक हम सब चल पड़े। दूसरे ही दिन कोसांबी की राजसभा में खचाखच भीड़ हो गई। मैंने ऐसे बहुमूल्य वस्त्र, और किरीट पहना कि आंखें चौंध जाती थीं। सभा में महाराज को प्रणाम किया और कहा, "देव ! अपराध क्षमा हो। वादी को बुलवा लें।"

आया धनदेव ! किरीट से लटकती मणिमालाओं ने मेरा मुंह कनपटी पर ढंक-सा रखा था। धनदेव मुझे नहीं पहचान पाया। मैंने कहा, "देव ! मेरा-

अपराध !"

धनदेव दूर खड़ा था कुट्टिम पर। बोला, "न्याय दें महाराज ! यही वह व्यक्ति है जिसने मेरे पिता, माता, भाइयों और भतीजे को बंदी किया है क्योंकि वे उस स्त्री को छुड़ाने गए थे, जिसे इसने पकड़ लिया था और जो..."

मैंने ऊंचे स्वर से कहा, "तुम्हारी कौन थी वह स्त्री !"

धनदेव अचकचा गया। उसने कहा, "वह हमारे साथ काम करती थी। वह दासी नहीं थी। यदि केवल रक्त-सम्बन्ध की बात की जाए तो शायद धर्म और न्याय ही उठ जाए।"

मैंने कहा : "महाराज ! यह झूठ बोलता है। इसके साथ और भी कोई है ?"

धनदेव ने कहा, "मेरी भाभी हैं, पत्नी है और मेरे छोटे भाई की वधू है देव !"

मैंने कहा, "बुलवाएं देव ! और उन्हें अपने संरक्षण में भेजें। राजपुरोहित के हाथ मैंने अपना सारा परिवार दे दिया है। इस समय मैं स्वामी नहीं, राजपुरोहित स्वामी हैं। आप परीक्षा लें महाराज ! यदि इस वादी के साथ की स्त्रियां मेरे परिवार को देखकर कह दें कि मैंने कहीं बल-प्रयोग किया है या अनौचित्य, तो मैं प्राणदण्ड का प्रार्थी हूं।"

महाराज शतानीक ने कहा, "क्या कहते हो वत्स ?"

मैं कृत्रिम बनता गया। मैंने बिखरकर कहा, "न्याय दें महाराज ! यह आदमी मुझे झगड़ालू लगता है। उन स्त्रियों को बुलवाइए।"

सीखे-सिखाए राजपुरोहित ने तीनों भाभियों को भीतर पहुंचा दिया। और कुछ ही देर में आकर कहा, "देव ! उनमें सुभामा और अलका नामक स्त्रियां तो बाकी सबसे मिलकर बड़ी प्रसन्न हुईं। एक सुमुखी है जो बड़ी प्रसन्न है, परन्तु वह सोच में पड़ी-सी रोती है, पर लज्जित-सी मुस्कराती है, और कहती है—जो हो ! मैं ठिकाने तो आ गई, परन्तु पति ही मेरे सब कुछ हैं। क्या करूं ! किधर जाऊं !"

"सुन लिया महाराज !" मैंने स्वर उठाकर कहा।

महाराज ने वादी से कहा, "और कुछ कहना चाहते हो !"

धनदेव समझ नहीं सका। स्तब्ध खड़ा रहा। फिर उसने हाथ उठाकर कहा, "देव ! आज मैंने सीखा कि जब तक मैं पाप में लगा रहा, तब तक मैं सुखी था।

जब मैं स्त्री की मर्यादा, परिवार के लिए न्याय और नागरिक के आत्मसम्मान के लिए उठ खड़ा हुआ, मैं आज अकेला हूं। मेरी स्त्री भी बिक गई लगती है। देव! मैंने राज-जमाता पर झूठा दोष लगाया है। मुझे दण्ड मिलना चाहिए।"

वह घुटनों के बल बैठ गया और हाथ उसने आगे रख लिए घुटनों पर।

मैंने विक्षोभ और समर्पण देखा। भाग्य से समर्पण। धर्म पर विक्षोभ।

मैंने कहा, "देव! यह मेरा अपराधी है। मुझे दिया जाए।"

महाराज शतानीक कुछ भी नहीं समझे थे। बोले, "वादी! क्या यह ठीक है?"

"ठीक है देव!" धनदेव ने अत्यन्त विरक्ति से कहा, "मैंने जीवन में अपने एक भाई से अकारण ईर्ष्या करके उसके सुख को नष्ट किया था। मैंने पिता को वैभव से दारिद्र्य में ला पटका। मां और भाभी मुझे समझाती रहीं। अन्त में मेरे कारण, मेरे अहंकार और मेरी मूर्खता के कारण वे मिट्टी खोदने पर विवश हुए। आज समय बदला है, वैभव ने सबको, मेरी स्त्री तक को खरीद लिया है। मैं इसी वैभव के लिए लालायित था! आज मैंने देखा कि यह वैभव कितना भयानक है। देव! मैं देव का अपराधी हूं। देव आपका रूप ले या राज-जामाता का, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। जहां भी मृत्यु अधिक निर्मम हो, मुझे वहीं भेज दिया जाए।"

वह सिर झुकाकर चुप हो गया। मैंने कहा, "देव! अपराधी मेरा हुआ। अब मैं इसे दण्ड देता हूं। इसे मैं कई दण्ड दूंगा, ऐसे कि यह बहुत दिन तक अपनी वेदना में तड़पा करे। आर्य!" मैंने राजपुरोहित से कहा, "बन्दी बुलवाए जाएं।"

सभा चित्रलिखित-सी खड़ी थी।

बन्दी आ गए।

मैंने कहा, "वह स्त्री आए जिसके पीछे झगड़ा है।"

बहुमूल्य वस्त्रों से सजी सुभद्रा आई। साथ में थी सौभाग्यमंजरी!

"स्वामिनी! तुम भी!" धनदेव ने आश्चर्य से कहा और फिर सुभद्रा को देखकर मुंह फेर लिया अत्यन्त घृणा से।

मैंने कहा, "शेष बन्दी भी लाए जाएं।"

महाराज को नाटक-सा लग रहा था। सब आ गए। बालक ने धनदेव से कहा, "पित्तू!"

वह पितृव्य का तोतला रूप था। धनदेव ने बालक का स्वर सुनकर आंखों में

आंसू भरे हुए देखा तो सबपर दृष्टि पड़ी; पिता पर भी, तब वह व्यंग्य से हंसकर बोला, "श्रेष्ठि की जय ! आज आप मुझे कुछ उपदेश नहीं देंगे ?"

"आज वह देगा !" कहकर पिता ने मेरी ओर उंगली उठाई। सुमुखी की हालत अजीब थी। डरी हुई कातर-सी अलग खड़ी रो रही थी।

मैंने कहा, "मैं दूंगा धनदेव ! मैं दूंगा।"

यह कहते हुए मैंने कहा, "महाराज ! वादी धनदेव का नाम आपने नहीं बताया, पर मैं जानता हूं। यह स्त्री जिसके पीछे झगड़ा हुआ है, राजगृह के श्रेष्ठि गोभद्र की दुहिता और श्रेष्ठि शालिभद्र की भगिनी है। यह मेरी पत्नी है। मैं इसे छोड़ आया था, इसकी परीक्षा लेने। तभी यहां मैं अज्ञात कुलगोत्र रहा। मेरे लिए ही इस पतिव्रता ने यह अपार वैभव छोड़कर मिट्टी खोदी।"

सबमें प्रशंसा का भाव दौड़ गया।

मैंने फिर कहा, "यह सुभद्रा मेरी पत्नी है, धर्मपत्नी। जैसे है आपकी पुत्री सौभाग्यमंजरी। उस सुभद्रा को मिले हैं अपने श्वसुर धनसार श्रेष्ठि, सास, जेठ धनदत्त, जेठ धनचन्द्राधिप, भाभियां सुभामा, सुमुखी और अलका, एक भतीजा। फिर धनदेव को क्या आपत्ति है। आपत्ति है तो मुझे देखो, मुझसे बदला लो धनदेव ! आओ ! मैं खड़ा हूं यहां !"

यह कह मैंने किरीट उतार दिया और तब मेरा मुख दिखाई दिया।

धनदेव चिल्लाया, "धनकुमार !"

वह दौड़कर मेरी ओर बढ़ा। वह शायद मेरे पांवों पर गिरना चाहता था, परन्तु मैंने उसे वक्ष से लगा लिया। जब तक हम अलग न हुए महाराज शतानीक देखते रहे। फिर बोले, "जामाता ! तुम तो बड़े छलिया हो। स्वागत है तुम्हारे परिवार का। आज हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। मांगो।"

मैंने झुककर कहा, "देव ! जो मांगूंगा मिलेगा ?"

"तुम्हें अदेय ही क्या है वत्स !"

"देव, मुझे वत्स की प्रजा का कल्याण दें। सभा भरी है। मुझे जीवन दें, मृत्यु नहीं।"

"हम समझे नहीं।" महाराज ने कहा।

मैंने कहा, "देव ! महाराज तक खबर पहुंची है कि अवन्ति की सैन्य ने वैशाली का सार्थ लूटा है। देव ने इसीसे उस सैन्यगुल्म को पकड़ लिया है। देव ! अवन्ति

और वत्स मित्र-देश हैं। यह झगड़ा अवन्ति और वैशाली का है। वत्स इसमें क्यों बोले! संवाद मिला है कि अवन्ति ने वैशाली पर अकारण प्रहार नहीं किया। मगधराज बिंबसार के पुत्र अभयकुमार अवन्तिराज के बन्दी थे। अभयकुमार की माता अंबपाली वैशाली की हैं। इसलिए कहते हैं कि वैशाली ने अभयकुमार को छुड़ा लिया। इसीका दोनों में झगड़ा है। अब आप निर्णय दें।"

महाराज शतानीक ने क्षण-भर सोचा और कहा, "वैशाली और अवन्ति के संघर्ष से वत्स का कोई मतलब नहीं। महाराज प्रद्योत हमारे मित्र हैं। और महाराज बिंबसार भी हमारे मित्र हैं। अवन्ति सेना को सादर भेज दो।"

सभा समाप्त हो गई। महाराज ने मुझसे कहा, "वत्स! जब राजा स्वेच्छाचारी हो जाता है तब प्रजा में अनर्थ होते हैं। धर्म का पथ है न? बड़ा कठोर है। मैंने जामाता और पुत्री के नाते से चुप रह जाना पाप समझा। एक समय था, जब राजा स्वेच्छाचारिता का अतिक्रमण कर गए। तब राज्य के कुलीन क्षत्रियों ने कहा, 'यह एक व्यक्ति का स्वेच्छाचार तो बहुत बुरा है। हम क्यों न सलाह करके राज्य कर लें।' तब उन्होंने संघ बनाया। आज वे ही गणराज्य हैं। यह आयुधजीवी संघ नहीं हैं, वे तो केवल गणगोत्र हैं। ये हैं संथागार में आनेवाले लोग। ऐसी ही वैशाली है। परन्तु होता क्या है वत्स! अब वही गणराजा दासों को सताते हैं, उनमें बड़ा गर्व है। होने दो। तुमने बुरा तो नहीं माना, हमारे व्यवहार से? हमने अनुचित तो कुछ नहीं किया?"

मैंने कहा, "देव! आप क्या कहते हैं! आप मेरे पिता जैसे है। मैं आपसे पांव पुजवाकर भी आपके चरणों की धूल हूं।"

यों बनदेव को लेकर मैं घर आ गया। उस आनन्द का क्या वर्णन करूं! बाप-बेटे, पति-पत्नी, सास-बहू, सौत-सौत, जिठानी-देवरानी, भाई-भाई, पुत्र सबके वर्णन करने बैठें तो कोई कवि न जाने कितने श्लोक बना डाले। किन्तु मुझमें वह सामर्थ्य कहां। अब मेरे संगीत में उल्लास फूट निकला। सुभद्रा ने कभी नहीं सुना था, सो चकित रह गई। बाकी सब जानते ही थे।

आज सोचता हूं कि उस समय क्या अभाव था? मन तृप्त था। बल्कि मुझे अब राजगृह लौटने की जल्दी थी। वहां कुसुमश्री, सोमश्री थीं। मेरा पुत्र था। मेरी पुत्री थी। सोच ही रहा था कि बहाना मिल गया। सम्राट् बिंबसार का पत्र आया—चले आओ।

मैं महाराज शतानीक के पास गया। निवेदन किया। वे बोले, 'तुम्हारा महाराज बिंबसार से क्या सम्बन्ध है?"

"देव! मैं उनका जामाता हूं।"

"जामाता!" वे चौंककर बोले, "तुम तो पहेलियां बुझा रहे हो जामाता!"

मैंने सुनाया। परन्तु यह नहीं कहा कि वत्स देश में क्यों आया था। केवल कहा, "सुभद्रा की परीक्षा लेने चला था, परन्तु भाग्य को यही स्वीकार था, जो यहां हो गया।"

महाराज हंसे। कहा, "मेरा जामाता बड़ा खिलाड़ी है। इस नाते महाराज बिंबसार हमारे संबंधी हुए, बल्कि भाई। क्योंकि तुम्हारी पत्नियां तो बहिनें हुईं न? अच्छा। जाना चाहते हो अपने पुत्र और पुत्री को देखने? तो अवश्य जाओ, परन्तु धनपुर का क्या?"

मैंने विनीत उत्तर दिया, "देव! मेरे पिता, भाई-भतीजा सब आपकी शरण हैं।"

महाराज मान गए। मैंने पिता से कहा।

वे बोले, "धन वत्स! अब मैं और तेरी माता तो चलें।"

"कहां पिता? अभी नहीं। अभी मैं नहीं जाने दूंगा।"

पिता राजा हुए। राज्य में प्रबन्धक हुए मेरे भाई, उत्तराधिकारी हुआ भतीजा—धनराज।

और मैं पत्नियों के साथ लौट चला। सौभाग्यमंजरी सुभद्रा को इतनी इज़्ज़त से रखती कि मुझे देखकर आश्चर्य होता। सुभद्रा कहती, "भगिनी! तुम इतना काम मत करो। तुम्हारे भीतर एक प्राण और है।"

काम तो था ही क्या? सेवक-सेविकाओं की क्या कमी थी! मेरा कार्य पूरा हो ही चुका था। इस सुख की समृद्धि को देखकर मुझे डर लगने लगा। किन्तु यह आशंका मुझमें क्यों थी, यह मैं नहीं जानता था। अब मेरा यश फैला हुआ था।

जब हम लक्ष्मीपुर पहुंचे, वहां का राजा जितारि मेरे स्वागत को सीमा पर मिला। किन्तु जब हम लक्ष्मीपुर से चले तब मेरे साथ दो की जगह छः पत्नियां थीं।

सुभद्रा कहती, "पुरुष का यश भी बुरा। लोक ऐसा है कि जिसके अधिक

पत्नियां नहीं, उसका गौरव कम माना जाता है। ऐसे में हम करें भी क्या ? यही अच्छा है कि मिल-जुलकर रहें। गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवन्ती ! बस, स्वामी अब नहीं। एक पक्ष में चार पड़ेंगी ! और स्वामी ! अब और ठीक नहीं है।"

मैंने छेड़ा, "और अपने भाई शालिभद्र की भी तो कहो, जो मास में, प्रतिदिन एक के बाद भी, दो को बाकी पाता है !"

"अरे स्वामी ! भाई है तो क्या, है तो तुम्हारी ही जाति का ? स्त्री का क्या है। स्त्री होती ही मूर्ख है ! मैं ही कौन कम हूं ?"

वह हंसती और हम सब हंसते। सचमुच कैसे अजीब थे ये विवाह !

कुछ भी नहीं। हम सब बैठे थे। राजा जितारि ने अपनी पुत्री गीतकला से गाने को कहा, केवल मनोरंजन के लिए। जितारि के मंत्री शंकुक की पुत्री सरस्वती भी वहीं उपस्थित थी।

फिर जितारि ने मुझसे कहा, "यह मेरी पुत्री है। यह है सरस्वती। दोनों एक प्राण दो देह हैं। सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि वह उसी व्यक्ति से विवाह करेगी जो इसकी सखी गीतकला का पति होगा।"

मैंने हंसकर कहा, "बड़ी विचित्र प्रतिज्ञा है।"

"प्रतिज्ञा की न कहें आर्य ! बालहठ का क्या ठिकाना ! हमारी गीतकला ऐसा गाती है, ऐसा गाती है कि उसका-सा गानेवाला आज तक कोई नहीं हुआ।

"शायद ऐसा ही हो !"

"हो नहीं आर्य ! स्त्री के विषय में तो गीतकला मान लेती है कि शायद ऐसा कोई स्त्री भले ही गा ले। परन्तु पुरुषों के विषय में तो यह कहती है कि ऐसा कोई गा ही नहीं सकता !"

मुझे कचोट हुई। कहा, "राजन्, आप भी ऐसा स्वीकार करते हैं ! जब मैं कोसांबी में यमुना-तीर पर था, मैंने एक पुरुष का गाना सुना था। मैं आपसे क्या कहूं ! वैसा मैंने शायद कभी सुना ही नहीं।"

"सुना ही नहीं।" राजा बोले, "यही तो मेरे साथ दुःख है। एक बार यदि मैं सुन लेता तो क्या गीतकला की बात सुन सकता था ! गत वर्ष उज्जयिनी में एक विराट उत्सव हुआ था। आप तो जानते हैं महाराज चण्डप्रद्योत महासेन की पट्टमहिषी अंगारवती की एक ही कन्या थी—वासवदत्ता, जिसके कारण उनकी

अन्य सोलह रानियों को अपने-अपने पुत्र के विषय में राज्यसिंहासन की बड़ी आशा थी। उस आशा पर तुषारपात करके पट्टमहिषी ने एक पुत्र को जन्म दे दिया। पुत्र का नाम रखा गया—गोपालक। उसीके नामकरण-संस्कार के दिन कोई एक गायक गया था वहां, जिसकी बड़ी भारी प्रशंसा हुई थी। वही गायक यहां भी आया था, एक महीने पहले। परन्तु गीतकला ने योंही हरा दिया, योंही !"

राजा ने चुटकी बजाई।

मुझे कौतूहल हुआ।

"तब तो अवश्य ही सुनकर आभारी होऊंगा।" मैंने कहा।

गीतकला मुझे देख रही थी। सरस्वती ने चिकोटी काटी उसके हाथ पर, और राजकन्या चिहुंक उठी।

सरस्वती ने मुस्कराकर कहा, "प्रतिज्ञा वैसे ही भंग मत कर सखी। गा तो सही।"

राजकन्या का मुख लाल हो गया, किन्तु सुभद्रा ने मुझे तीखी आंखों से देखा। मैं नहीं समझा।

गीतकला गाने लगी।

सचमुच उसका कंठ बहुत ही मीठा था। उससे वातावरण ऐसा हो गया जैसे हम किसी बड़ी पवित्रता में निमज्जित हो गए थे। चांदनी रात एक विशाल श्वेत कमल-सी खिली हुई थी। उसका संगीत एक भ्रमर की मधुर गुंजार-सा गूंजता चला गया।

जब उसका गीत थम गया, मैंने कहा, "आर्य! निस्संदेह आप धन्य हैं, आपकी पुत्री धन्य है, जो ऐसे स्वर्गिक संगीत को आपने पाया है। अहाहा ! जीवन एक बोझ है आर्य, यदि मनुष्य के पास अपने-आपको भुलाए रखने का साधन नहीं है। कवि होते हैं कुछ लोग ! वे क्या धन-वैभव की चिन्ता करते हैं ? सच्चा संगीतज्ञ कभी प्रतिस्पर्धा में नहीं लगता। राजकन्ये ! स्पर्धा की तृष्णा में मत लगी रहो। संगीत की साधना करो, अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए। राज्य, धन, वैभव, मर्यादा, यश, ये सब हैं मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा जाने जाने-वाले कार्य। इनको एक-दूसरे की इच्छा होती है। इन सबको व्यक्ति अपने अहंकार को तुष्ट करने के लिए अपनाता है। किन्तु संगीतज्ञ, कवि और चित्रकार अहं को तुष्ट नहीं करते, वे अहं को उदात्त करके व्यापक बनाते हैं। उन्हें गर्व नहीं होना

चाहिए। संगीत स्त्री-पुरुष का द्वन्द्व क्यों ?"

सुभद्रा ने मेरी ओर देखकर कहा, "संगीत आपको बहुत प्रिय है न ? स्वामी ! राजकन्या का गीत सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। परन्तु स्वामी ! आपने जो उस दिन गाया था न, वह मैं नहीं भूल पाती। इसलिए नहीं कहती कि आप मेरे स्वामी हैं। एक बार गाकर सुनाइए न ?"

"हां, हां, अवश्य !" जितारि ने वीणा मेरी ओर सरकाई।

मैंने संकोच से कहा, "पर मैं प्रतिद्वन्द्विता नहीं चाहता राजन् ! मुझे कोई ऐसा अभ्यास नहीं है।"

सुभद्रा ने सौभाग्यमंजरी की ओर देखा, जिसने मुस्कराकर कहा, "स्वामी ! आप जीतने को बजाएं, यह कौन कहता है ? यह तो मन बहलाने की बात है। हार-जीत की क्या बात है ! गाना क्या सब जानते हैं ? मुझे ही लीजिए ! सुनने को बहुत अच्छा लगता है, परन्तु कैसे गाते हैं, यह मैं इतनी शिक्षा के बाद भी सीख ही न सकी।"

मैंने उत्तर दिया, "संगीत समझने की आवश्यकता है देवी ! वह तो नाद की अनुभूति है। उसके लिए मन चाहिए।"

सरस्वती ने गीतकला की ओर देखकर मुझसे लड़खड़ाते स्वर में कहा, "गाएं आर्य।"

गीतकला ने एक बार मेरी दोनों पत्नियों को देखा और फिर घुटनों पर हाथ टिकाकर उसपर मुख रखकर आंखें झुका लीं। जितारि राजा ने कहा, "सरस्वती ! मृदंग तू ले।"

अमात्य शंकुक ने रहस्य-भरे नयनों से अपने राजा को देखा और कहा, "राजन् ! सब कुछ दैव के हाथ है।"

मैं नहीं समझा। गीतकला चुप बैठी रही। सुभद्रा ने मुस्कराकर कहा, "आरम्भ करें देव ! आपको मेरी सौगंध है, जो मन लगाकर न गाया। मैं राजकन्या को पराजित करने को नहीं कहती। देखिए, उपवन में यह मृग और मृगियां विचरण कर रही हैं, इस कलधौत चन्द्रिका में सारी सृष्टि एक स्वप्न-लोक में डूबी हुई है। ऐसे में वह नाद छेड़िए कि ये मृग विभोर हो जाएं। स्वामी ! आप ही तो कहते थे कि नाद में असीम शक्ति होती है। सौंदर्य जब अरूप हो जाता है तब यह नाद बन जाता है !"

वह रात। वह चांदनी। मखमल के गद्दे। रेशमी बहुमूल्य वस्त्र ! कलाबत्तू पर पड़ती चांदनी की चमक! सुगन्धियों से गमकता श्वेत पाषाण का स्निग्ध चबूतरा। सामने चांदनी में कभी-कभी झूम जाते कुसुमों से लदे वृक्ष। कौन कहता है कि लोक में दुःख है, दारिद्रय है, रोग है। यह तो एक कल्पना की सृष्टि थी ! सम्मोहन ही इसका सौंदर्य था। प्रकोष्ठ के खुले द्वार में से दक्षिण समुद्र और महोदधि (बंगाल की खाड़ी) की सीपियां दीवारों पर जड़ी हुई दीपालोक में चमक रही थीं। और रत्नाकर (अरब सागर) की मणियों से दीपक का आधार जटित था।

मैं गाने लगा। और गाते-गाते सब कुछ भूल गया। दुःख में भी मैंने गाया था। गाया अपने मन को बहलाने को, कभी दूसरों को सुनाने को नहीं। संगीत मेरे जीवन का ऐसा अकेला साथी था, जिसने मेरे जीवन के अवसाद में मुझे एक सार्थकता का संतोष दिखाया था। मैं कि धनकुमार, जो क्या था, और क्या हो गया था, इस परिस्थिति-चक्र में घूमते हुए, उत्थान और पतन में पड़े विकल प्राणी—का एक ही सौंदर्य था, वह था संगीत ! आज मेरे पास सौभाग्यमंजरी का स्नेह था समर्पण-भरा, आज मेरे पास सुभद्रा का स्नेह था स्पर्धा-भरा, आज मुझे पास से याद आ रही थी कुसुमश्री की वह तृप्ति कि स्वामी की सामर्थ्य अपार है, और मेरे भीतर तक गूंज रही थी सोमश्री की वह सांस—वह सांस जो एक दिन पुंस्कोकिल की अनावृत पुकार में भोर की कली की तरह कांप उठी थी। अब मुझे लग रहा था कि मैं दुःखी नहीं था। साक्षात् आनन्द था। इतने दिन मैंने त्याग, वैभव से घृणा और प्रज्वलित वेदना में बिताए थे। वह मेरी भूल थी। भूल थी मेरी। मैं अब अच्छा हूं। अब जबकि प्राप्ति का स्वामी हूं। संघर्षों की उच्चावस्था ने मुझे विजय दी है। क्या मैं हार गया हूं ? मेरी हार वह कहां है ? ओ मेरे संगीत। यह सब कुछ भी हो, है दुःखद ही। और तब मैं उसमें डूब गया। डूब गया।

गीत जब रुका, जितारि चौंके। शंकुक भी।

सुभद्रा ने कहा, "अरे !"

सौभाग्यमंजरी हंस दी। हरिण स्तब्ध खड़े थे। अब वे भी हिल उठे। सरस्वती ने उठकर मुझे प्रणाम किया, घुटने मोड़कर, अपने माथे को अपनी अंजलि पर धरती पर टिकाकर, उसपर समर्पित करके। परन्तु गीतकला चुप बैठी रही।

जितारि ने कहा, "दुहिते ! ओ मेरी राजदुलारी ! क्या हुआ तुझे ! तू तो सदा ही हंसती थी दूसरों को गाते देखकर ! क्या अब तू अपने निस्संतान पिता को

छोड़ जाएगी हठीली !"

वह भर्राया स्वर ; गीतकला की नींद टूट गई। आंखों में आंसू आ गए। कहा, "पिता…"

फिर लाज से मुंह छिपा लिया।

मैंने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया।

सुभद्रा ने छेड़ा, "राजकन्ये ! गीत रचा ?"

गीतकला ने उठकर सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी के पांव छूए और एक बार मेरी ओर कनखियों से देखकर खड़ी हो गई ; फिर देखा पिता को, जो सरस्वती को देखकर हंस उठे। सरस्वती का मुख एकदम आरक्त हो उठा। और दोनों भीतर भाग गईं।

सौभाग्यमंजरी ने मुस्कराकर कहा, "स्वामी ! राजकन्या अप्रसन्न हो गईं क्या ?"

"होगी ही !" राजा ने कहा, "आपके स्वामी ने क्या कम आपत्ति खड़ी की है ! किस पुत्री को अपने पिता से बिछुड़ते हुए दुःख नहीं होता।"

"आह !" अमात्य ने लम्बी सांस खींची। मानो राजा ने उनके मुंह की बात छीन ली हो !

वह चांदनी मुझमें भर गई थी। मैंने कहा, "आज की रात कितनी सुहावनी है ! यह प्रकृति कितनी सुन्दर है ! सब कुछ कलह है, झूठा है। यह प्रासाद मुझे अच्छा लगा है राजन् !" और मैंने सुभद्रा से कहा, "देवी ! क्यों न हम भी ऐसा ही एक स्थान बनवाएं और वहीं रहें। शान्त ! न यश की तृष्णा, न वैभव का दासत्व।"

सुभद्रा ने कहा, "ऐसा स्वप्न मैं न जाने कितनी बार देखती हूं। मेरे भैया शालिभद्र कहा करते थे मुझसे, 'सुभद्रा ! मैं कहीं दूर चला जाना चाहता हूं, जहां हम सब हों। शांति हो। न अहंकार हो, न घृणा।' "

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "बहिन ! ऐसी ही ज्योत्स्नामयी विभावरी में ब्रह्म अपने आनन्द को प्रगट करता है।"

सुभद्रा को जैसे तृप्ति नहीं हुई। कहा, "जब वीतराग जिनेन्द्र का समवसरण होता है, तब इससे भी अच्छी रात होती है।"

दोनों ने एक-दूसरी को आंखों में तोला। जीवन के दो दृष्टिकोण। परन्तु मैंने

कहा, "नहीं। सबसे परे है शांति। क्यों राजन्! आप क्या सोचते हैं?"

राजा जितारि अपने ध्यान में मग्न थे। अमात्य उठकर चले गए थे।

"राजकन्या कहां गईं?" सुभद्रा ने पूछा, "उनके बिना तो सभा ही सूनी हो गई।"

"श्रेष्ठकुल की स्त्रियों से ऐसी ही आशा होती है।" राजा ने कहा, "अब मेरी चिन्ता दूर हो गई। इस लोक में यह जो विवाह होता है यह पहले से दैव के हाथों निश्चित रहता है। अन्यथा अनजाने स्त्री-पुरुष क्यों मिलते हैं। और स्त्री! कैसे वह अपने को समर्पित कर देती है! उसके उल्लास में इतना बल होता है कि वह माता-पिता के बिछोह की वेदना को भी भूल जाती है। सचमुच कन्या पराया धन ही होती है।"

राजा का स्वर उच्छ्वसित हो उठा।

सुभद्रा ने प्रसन्न होकर कहा, "राजन्! आप मेरे पिता-तुल्य हैं। आपने जो कहा वह प्रशंसनीय है। स्त्री की वेदना स्त्री ही जानती है। सच, विधाता ने स्त्री को विचित्र बनाया है। उसके नयनों में आंसू और अधरों पर मुस्कान देकर भाग्य उसे सदैव खेल खिलाता रहता है।"

मैंने सुभद्रा को इतना गम्भीर नहीं जाना था। प्रकोष्ठ में से निकली गीतकला, पीछे सरस्वती, पीछे अमात्य। दोनों के हाथों में सुन्दर मालाएं—वरमाला।

आईं। मंथर गति से। आंखों में आंसू, होंठों पर मुस्कान, और मेरे गले में डाल दीं।

मैं अवाक् रह गया। सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी भी।

"राजन्!" मैंने अचकचाकर कहा।

किन्तु वृद्ध जितारि ने मेरे हाथ पकड़कर कहा, "आर्य! यह मेरे जीवन की साधना का प्रश्न है। गीतकला की प्रतिज्ञा थी कि जो उसे संगीत में हरा देगा, वह उसकी ही पत्नी बनेगी, चाहे वह कैसा भी हो, क्योंकि कला ही उसकी जीवन की एकमात्र साधना है। और उसे कोई चाहना नहीं। और···"

अमात्य ने कहा, "यह मेरी सरस्वती की प्रतिज्ञा थी कि गीतकला सदैव उसकी स्वामिनी रहेगी, इसीलिए उसकी सेवा करने को वह भी उसीको पति मानेगी, जो गीतकला का पति होगा।"

मैंने कहा, "किन्तु राजन्! मेरे पत्नियां हैं, यही दो नहीं, दो और हैं···"

जितारि हतप्रभ हो गए। मेरे हाथ छोड़कर सुभद्रा से हाथ जोड़कर कहा, "देवी, मेरी बेटी का जीवन नष्ट हो जाएगा!"

गीतकला और सरस्वती ने सिर झुका लिए। गीतकला ने कहा, "जाने दें, पिता! मेरा स्वप्न पूर्ण हुआ। कष्ट न दें। सपत्नी का दुःख कौन नहीं जानती, कौन चाहती है उसे? पर मेरा विवाह हो गया। अब मुझे क्या आवश्यकता है। मैं और मेरी सखी, मृत्यु की सुहागिन बन गई हैं! आपके रोकने पर भी हमने हठ किया था न? हठ तो दैव ने निभा दिया, परन्तु गुरुजन की आज्ञा उल्लंघन करने का जो दण्ड दिया है, वह भी हम ही झेलेंगे।"

सरस्वती ने कहा, "सखी! क्या हम दासी बनकर भी नहीं रह सकेंगी अपने वर के साथ?"

मैं उत्तर नहीं दे पाया।

जितारि देखते रहे सुभद्रा को। सुभद्रा देखती रही। फिर उसने उठकर कहा, "मैंने कहा था राजन्! आप मेरे पिता-तुल्य हैं! कहा था न? तब ये मेरी बहिनें हुई और भगिनी-पति तो पति सदृश ही होता है!"

सौभाग्यमंजरी अब आश्चर्य से बाहर निकली। कहा, "स्वागत है! आओ राजकन्ये! आओ अमात्य-कन्ये!" फिर हंसकर कहा, "स्त्री का हृदय बहुत संकुचित होता है न? इसीलिए उसे दैव इतना विशाल बनाने का उपदेश दिया करता है!"

यह भी कोई बात हुई। मैं जैसे कुछ था ही नहीं। एक राजकन्या ने प्रतिज्ञा की है, एक अमात्यकन्या ने! कोई मुझसे कुछ पूछ रहा है कि मैं क्या सोच रहा हूं?

सौभाग्यमंजरी शायद मेरे भाव समझ गई। उसने गीतकला को अपने पास बिठाकर कहा, "कैसी सुन्दर है!"

गीतकला झुकी बैठी रही।

और मैं! वह चांदनी जहां-कहां चली गई थी। अब मुझे वह आनन्द नहीं मिल रहा था। किन्तु क्या इस प्रकार मुझे इनका अपमान करना उचित है? मेरी किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था को देखकर सुभद्रा ने मुझसे कहा, "स्वामी! संगीत आपका जीवन है, और हममें से कोई भी उसे आपको नहीं दे सकी। यह विवाह और स्त्री का प्रश्न नहीं। यह है नारी के गौरव का प्रश्न। आप तो गाते हैं और राजकाज में लगे रहते हैं। हमें भी कोई मन बहलाने को चाहिए न?"

मैं नहीं समझ पाया कि यह व्यंग्य था, या सत्य।

सौभाग्यमंजरी ने कहा, "स्त्री प्रेम देने को जन्म लेती है, और पुरुष पाने को। उसे देना ही क्या है जो आप डरते हैं।"

मुझे लगा कि मैं अब कुछ नहीं था। जितारि अपने हाथ जोड़े देख रहे थे। मैंने सबकी ओर देखा और हठात् न जाने मेरे भीतर से कौन हंसकर कह उठा, "मैं धन्य हुआ राजन्! मुझे स्वीकृत है।"

देखा कनखियों से सुभद्रा को, सौभाग्यमंजरी को। क्या वे सचमुच हर्षित थीं? थीं, तो मैं मानता ही हूं। नहीं हैं, तो अपने बोए को काटें। पुरुष हूं मैं। मेरा क्या? लोक यही करता है। और ये दो स्त्रियां! इनसे मुझे प्रेम करना होगा अब! कितना विचित्र था यह विचार! किया ही तो है मैंने चार-चार से! अब ही यह कैसी रुकावट है मुझमें? तब मुझे लगा कि मैं एक पात्र था। जब तक खाली रहा तब तक उसे भरता रहा, भरता रहा। परन्तु स्रोत नहीं रुका। पात्र भर गया और तब रस बाहर फैलने लगा। भीतर भरा था, भीतर गीला था। अब बाहर गीला तो हो गया, परन्तु अब रस मुझमें रुक नहीं सकता था। उसका बहना ही अब अनिवार्य था।

और विवाह हुआ। प्रजा ने मंगल गाया। सबने मेरी प्रशंसा की। सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी भी हंसीं। मुझे दो नये तन मिले, किन्तु मैंने अनुभव किया कि उनमें भी प्राण थे। तब मुझे लगा कि मेरी तृष्णा अभी और थी, अभी और थी···वह और क्या थी···सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी से कचोट, या अपनी स्ववृत्ति के अहं का प्रसार···या नयी प्यास···और नयी प्यास···जो कहती थी कि यह सब कुछ नहीं है···यह एक विराट खेल है।···

परन्तु वे नील नयन, वे गन्वित चिबुक, वे मांसल तन, वह वैभव···अब मेरे बन्धन खुल गए।

राजा जितारि के आग्रह से मुझे लक्ष्मीपुर में रुकना ही पड़ा। योंही उपवन में घूमता हुआ सोच रहा था कि यह क्या हुआ? क्या मैं वही धनकुमार हूं जो एक दिन पुरपइठान को छोड़ आया था! और अचानक मुझे पज्जा अम्मा की याद हो आई। वह क्या कहती मेरे इतने विवाहों को देखकर। मेरे पिता और भाइयों ने तो ऐसा नहीं किया। किन्तु उनके पास इतना वैभव भी कहां था! तो क्या विवाह वैभव से होता है? दरिद्र भी तो कई-कई विवाह करते हैं! यह तो लोकधर्म है।

जाने क्यों मुझे लगा कि मैं अपने-आप से झूठ कह रहा था। मेरा प्रेम कहां था ! वैभव आया था मेरे सामने और मैंने उसे ठुकरा दिया था। वह बार-बार ठुकराया हुआ भी मेरे पास लौट-लौट आया। किन्तु वैभव मुझसे बोलता नहीं था। मुझपर शासन करना चाहता था। परन्तु स्त्री ! क्या वह भी निर्जीव है ! वह शासन नहीं करती, समर्पण करती है ! मेरा सिर फिर भारी हो गया।

दूसरे दिन मैं राजा जितारि के साथ उनकी सभा में चला गया। आज एक विचित्र मामला आया था। श्रावक पद्मामलक लक्ष्मीपुर का एक श्रेष्ठि था। उसके मरने पर उसके पुत्रों में सम्पत्ति के बंटवारे के पीछे झगड़ा हो गया। मरते समय पद्मामलक ने अपने चारों पुत्रों—राम, काम, श्याम और गुणधाम को बुलाकर मिले रहने की सलाह दी, और कहा कि यदि तुम मिलकर न रह सको तो इसी भवन के चारों भागों में रहने लगना। ऐसा ही बनवाया है मैंने यह भवन। मेरे प्रकोष्ठ के चारों कोनों में मैंने तुम्हारे हिस्से का धन अलग-अलग तुम्हारा नाम साथ लिखकर गाड़ रखा है। उसे निकालकर देख लेना। यही उसका अन्तिम आदेश था। इसीसे चारों जब साथ नहीं रह सके तो अपने-अपने मकान के भाग में वे सरक गए और गड़ी हुई वसीयतें निकालीं। परन्तु झगड़ा वहीं प्रारम्भ हुआ। सबसे छोटे गुणधाम के हण्डे में रत्न, मणि, सुवर्ण आदि दो करोड़ की सम्पत्ति निकली। लेकिन राम के हण्डे में धूल मिट्टी ; काम के में पशु की हड्डियां और श्याम के में भूर्जपत्र और रेशम के टुकड़े निकले। यह देखकर तीनों ने सिर पीट लिया और न्याय के लिए दौड़ आए ; क्योंकि वे चाहते थे कि गुणधाम का धन चारों भागों में बांट दिया जाए, जिसे गुणधाम स्वीकार नहीं करता था। उनकी बहिन लक्ष्मी की इस लड़ाई से विचित्र परिस्थिति थी। उसकी बात कोई भी नहीं सुनता था और रो-रोकर उसने आंखें सुजा ली थीं।

राजा जितारि ने जब सुन लिया तब लक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा, "देव ! चारों कह चुके। यदि आज्ञा हो तो मैं भी कुछ निवेदन करूं।"

राजा ने माथे पर बल डालकर कहा, "कह दे पुत्री ! तू क्या कहती है।"

"महाराज ! इनके कलह से, व्यापार में, खेत में, धन्धे में तो विघ्न है ही, घर भी श्मशान हो गया है। मुझे इनसे मुक्ति दिलाएं। माता-पिताहीना मैं एक दीन कन्या हूं। मेरा अब कोई नहीं। ये लोग आपस में एक-दूसरे का खून पीने को तैयार हो रहे हैं। देव ! मुझे प्रासाद में दासी रख लें !"

लक्ष्मी की यह बात सुनकर सबने उन भाइयों को धिक्कारा, परन्तु मैंने देखा कि वे अन्धे हो रहे थे। किसीने भी इस विषय का उत्तर नहीं दिया।

राम ने कहा, "आर्य ! यदि पिता पक्षपात करे तो क्या राजा भी अन्याय करे?"

राजा जितारि ने राज्य के धर्माधिकरण से न्यायाध्यक्ष को बुलवाकर पूछा। ब्राह्मण ने सिर खुजाया और कहा, "देव ! यह पैतृक सम्पत्ति नहीं, श्रावक पत्रामलक की अर्जित संपत्ति थी। पत्रामलक तो पहले फेरी लगाता था। भाग्य ने उसे करोड़पति बना दिया। अपना उत्तराधिकार उसने स्वयं लिखा है। इसमें कोई रास्ता नहीं है।"

राजा जितारि ने ऊपर देखा, फिर नीचे, और तब कहा, "अच्छा तुम लोग बाहर प्रतीक्षा करो। हम अभी विचार करते हैं।"

वे चारों चले गए, पीछे-पीछे लक्ष्मी भी।

मैंने कहा, "राजन् ! तो मुझे आज्ञा हो।"

"कहां वत्स !" राजा ने कहा, "बैठो, बैठो, देखो ! कुछ देखते हो?"

"क्या देव !"

"अब क्या किया जाए ! किन्तु मनुष्य चाहता है कि सब कुछ उसे ही मिल जाए।"

"नहीं देव ! यह कार्य क्या कठिन है। जब पत्रामलक ने भवन के चार भाग बराबर के बनवाकर इन चारों को दिए हैं तब अवश्य उसने ऐसा अन्याय नहीं किया होगा।"

राजा जितारि ने चौंककर देखा और कहा, "तो ?"

"आप मेरे सामने एक-एक कर बुलवाइए उन्हें। मैं पूछकर तो देखूं।"

राजा जितारि ने कहा, "तो लो तुम ही संभालो !"

आया राम ! लम्बी आंखें। मुख पर ईर्ष्या और घृणा।

मैंने कहा, "श्रेष्ठि राम ! गुणधाम की माता क्या तुम तीनों की माता से छोटी थी !"

राम ने काटा, "क्या कहते हैं आर्य ! हमारी एक ही माता थी।"

"अच्छा, जब तुम्हारे पिता का देहान्त हुआ था तब यह गुणधाम कितना बड़ा था ?"

"दो वर्ष पूर्व ? ऐसा था पन्द्रह का। यह तो खेलता था। काम तो हम तीनों करते थे।"

"क्या काम करते थे तुम ?"

"मैं खेती की देखभाल करता था। सारे खेतों की देखभाल मैं ही किया करता था। उसीका फल है कि मुझे पिता ने क्या दिया है ? धूल ! मिट्टी !"

मैंने पूछा, "कितने खेत हैं तुम्हारे पास ?"

"आर्य ! मुझे क्या ऐसे याद है !"

"बता सकते हो कितनी भूमि है ? उनमें कितने किसान हैं ? वे तुम्हें क्या देते हैं ? राज्य को तुम कितना देते हो ? भूमि का मूल्य क्या है ?"

"देखकर बता सकूंगा आर्य !"

"तो जाओ देखकर आओ !"

इसी तरह श्याम से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह लेन-देन का हिसाब रखता था।

मैंने कहा, "लेन-देन था। वह धन तुमने वसूल कर लिया ?"

"अभी तो नहीं आर्य !"

"होगा कितना ?"

"देखकर बता सकूंगा आर्य ! अभी जाकर देखता हूं।"

अन्त में आया काम। हड्डियां देखकर उसके नथुने फड़कते रहते थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वही पद्मामलक के पशु-धन की देख-रेख करता था।

"क्या-क्या पशु हैं तुम्हारे पास ?"

"आर्य ! यों तो गाय, भैंस हैं। पर वे भेड़ें भी रखते थे, बकरियां भी हैं, और भी अनेक पशु हैं। ऊंट भी रखते थे। श्रेष्ठि ऊन का भारी व्यापार करते थे।"

"कुल कितने का धन होगा ?"

"आर्य ! देखकर बताऊंगा मैं।"

जब वे चले गए, राजा जितारि उठे और द्वार पर पहुंच गए। द्वार पर बैठी लक्ष्मी ने उनके चरणों पर सिर रखकर कहा, "देव ! मुझे दासी बना लीजिए।"

राजा जितारि की आंखों में आंसू आ गए। कहा, "तू पद्मामलक की पुत्री है। पद्मामलक मुझे कंबल देने आता था। आज तू इन मूर्ख भाइयों के बीच निस्सहाय है ! करोड़ों का धन रखकर भी वे तुझे नहीं रख सकते ?"

मैं चला आया।

संध्या का समय हो गया। कामकंदला प्रतिहारी ने मुझसे कहा, "आर्य! महाराज ने स्मरण किया है।"

पहुंचकर देखा कि राजा जितारि सिंहासन पर बैठे थे और तीनों भाई सामने खड़े थे।

मुझे देखा तो राजा ने कहा, "मुझसे नहीं, उनसे कहो।"

और इससे पहले कि मैं समझूं तीनों भाइयों ने मेरे चरणों पर शीश रख दिया। राजा जितारि ठठाकर हंसे और बोले, "जामाता! देखा तुमने! मूर्ख! इनका बाप फेरी लगाता था, करोड़पति हो गया अपनी बुद्धि से, परन्तु ये मूर्खअब उस धन का नाश कर देंगे।"

मैंने कहा, "आर्य क्या हुआ?"

"होना क्या था। एक कहता है कि खेतों का मूल्य है कोई दो करोड़ का। दूसरा कहता है कि पशु-धन भी कम नहीं है। तीसरा कहता है कि लेन-देन इतनी ही होगी! मैं कहता हू कि पत्रामलक ने क्या बुराई की? बराबर तो बांट गया है।"

मैं भी हंस दिया।

मेरे फैसले की बात सब जगह फैल गई। दूसरे ही दिन—देखता हूं कि श्रेष्ठि गुणरत्न लुटे हुए से आकर मेरे सामने बैठ गए। वे राजा के पास आया-जाया करते थे।

"क्या हुआ?" मैंने पूछा।

बताने लगे। पिंडोल नामक एक व्यक्ति ने उन्हें एक रात चोरों से बचाया पथ पर। प्राणों की रक्षा की। गुणरत्न ने उससे कहा कि जो इच्छा हो मांग ले। वह चुप रहा। गुणरत्न आवेश में बोल उठे, "धर दे हाथ चाहे जिसपर मेरे भवन में, जिसपर भी पहले हाथ धर देगा, वही तेरा होगा।" अब वह हाथ ही नहीं धरता किसी वस्तु पर। गुणरत्न को लगता है कि वह उनकी स्त्री या पुत्री गुणवन्ती पर हाथ रखना चाहता है। पिंडोल धूर्त है। कैसे करें, कैसे बचें? लड़की युवती हो गई है। सुन्दर है, विवाहयोग्य है, पर क्या धूर्त को दे दें वे उसे?

मैंने सुझाव दिया, "भगा दीजिए धूर्त को।"

"किन्तु मैंने वचन दे दिया है। वचन के लिए तो बड़े-बड़े मिट गए। वचन

हार जाने पर मुझे नगर में पूछेगा ही कौन ? मैं तो यों भी मिट्टी में मिल जाऊंगा !"

जब मैं श्रेष्ठि के साथ उनके घर पहुंचा तो भीड़ जमा थी। लोग पिंडोल को मना रहे थे और वह कह रहा था, "मुझे तो वचन दिया है श्रेष्ठि ने ! जिसपर भी मैं चाहूंगा हाथ रखूंगा। आप लोग कौन हैं जो मैं आपके मन की वस्तु पर हाथ रख दूं ?"

मैंने देखा श्रेष्ठिकन्या और पत्नी दुमंज़िले की खिड़की से डरी हुई सी झांक रही थीं।

मैंने कहा, "पिंडोल ! यह धनरत्न कुछ नहीं चाहते ?"

पिंडोल ने बड़ी नम्रता से झुककर कहा, "आर्य ! मेरी इच्छा है। श्रेष्ठि यदि कहते हैं कि मेरे घर की किसी वस्तु पर हाथ रख दे वह तेरी होगी, तो मैं वस्तु तक बद्ध रहता। पर ऐसा नहीं कहकर उन्होंने कहा, 'जिसपर मेरे भवन में हाथ पहले धर देगा, वही तेरा होगा।' अब तो मेरी इच्छा है।"

मैंने समझ लिया कि धूर्त पक्का गुरु था।

"यही होगा।" मैंने कहा। धूर्त मेरी जय-जयकार करने लगा। भीड़ का मुंह उतर गया। मैं गुणरत्न को भीतर प्रांगण में ले गया और बोला, "श्रेष्ठि ! काम हो गया।"

वे मुंह देखते रहे मेरा।

"देखो !" मैंने पूछा, "नसैनी है ?"

"सीढ़ी बांस की ? हां, यह धरी उधर !"

"इधर लगा दें, चलो। तुरन्त ! सेवक नहीं, हम-तुम उठा लें।"

"आर्य आप ? रहने दें, मैं उठाता हूं।"

परन्तु श्रेष्ठि में इतना बल कहां था ? नसैनी खड़ी करवाके मैंने कहा, "अब स्त्रियों से कह दें कि नीचेवाला द्वार बन्द कर लें और सामने जो खिड़की है, ठीक नसैनी के ऊपर वहां खड़ी हो जाएं।"

इतना काम शीघ्र हो गया। और मैंने भीड़ और पिंडोल को वहीं बुलाकर कहा, "पिंडोल ! अपनी शर्त दुहरा दो।"

"आर्य !" पिंडोल ने स्त्रियों की तरफ देखकर बड़ी कुटिलता से मुस्कराकर कहा, "श्रेष्ठि गुणरत्न ने कहा है कि मैं उनके भवन में जिसपर भी पहले

हाथ धर दूं वही मेरी है।"

"बस !" मैंने कहा, "धर दो।"

धूर्त सीढ़ी की ओर गया। द्वार बन्द था। बोला, "इसे खुलवाइए।"

मैंने कहा, "यह तो श्रेष्ठि ने नहीं कहा था। स्त्रियां मानती नहीं। क्या करें ! परन्तु श्रेष्ठि ने फिर भी नसैनी धरवा दी है कि कदाचित् तुम्हें ऊपर कुछ लेना हो।"

पिंडोल हंसकर बोला, "श्रेष्ठि बड़े अच्छे हैं। अभी धरता हूं हाथ। आर्य ! याद रहे, जिसपर भी मैं पहले हाथ धरूं वही इस भवन में मेरी है।"

भीड़ के गण्यमान्य क्रोध से देखते रहे। परन्तु वचन से वे कैसे हट जाते ! देने को कहकर न देना तो घोर पाप था। शिवि ने तो अपना मांस काटकर दे दिया था !

पिंडोल बढ़ा। और नसैनी पर पांव रखा, पर नसैनी पर बिना हाथ का सहारा लिए कोई नहीं चढ़ सकता। उसने ज्योंही हाथ से उसे पकड़ा, मैंने कहा, "उतर आओ पिंडोल ! अपनी वस्तु ले जाओ। श्रेष्ठि के जिस भवन में तुमने अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुओं के रहते हुए भी सबसे पहले इस नसैनी पर हाथ रखा है, तो लोभ की अति और सौजन्य का अनुचित लाभ उठाने की धूर्तता का फल देखो। नसैनी ले जा सकते हो !"

भीड़ ठठाकर हंसी। स्त्रियां तो ठठाकर हंसती ही चली गईं और पिंडोल नीचे उतरकर खिसियाना-सा चिल्लाने लगा, "आर्य ! यह तो अन्याय है !"

परन्तु उसका चिल्लाना व्यर्थ गया। सबने उसका खूब मजाक ही नहीं उड़ाया, बल्कि उससे नसैनी उठवाई और पथ पर उसे ले गए, जिससे नगरवासी खूब हंसे और खुशी में सौ-पचास ने पिंडोल के चपतें भी लगाईं, जो बेचारे को सहनी पड़ीं। मैं घर आ गया।

इस कथा को सुनकर सुभद्रा, सौभाग्यमंजरी, गीतकला, सरस्वती, राजा जितारि, अमात्य शंकुक कैसे-कैसे हंसे ! सारे नगर में ठहाके लगे। स्त्रियों ने गाने बना डाले। पिंडोल शाम को ही नगर छोड़ भागा।

और इसका अन्त हुआ ऐसा कि पिंडोल की तरह मैं भी वह नगर छोड़ भागा। पता चला है कि गण्यमान्य सज्जनों के साथ श्रेष्ठि गुणरत्न, सर्वश्रेष्ठि राम, काम, श्याम, गुणधाम आए और राजा जितारि के पांवों में पड़ गए। नगर की स्त्रियां

आकर मेरी पत्नियों के चरणों पर लोट गईं। मैं मना करता रह गया, पर किसीने नहीं सुना। गुणवन्ती और लक्ष्मी मुझसे ब्याह दी गईं। बल्कि इस अनेक पत्नियों-वाले पुरुष से यदि किसीका विवाह करने का विशेष आग्रह था तो इन दोनों का ही। पुरुष का क्या! रो-रोकर आंखें सुजा ली थीं दोनों ने। और मैंने सोचा। विवाह क्या है? धनी के लिए खेल! स्त्री स्वयं क्या है? मूर्खा! उपकार का बदला है ऐसा समर्पण!! और मुझे लगा कि यह परिवार नहीं था। यह मान-मर्यादाओं का रखना-रखाना था। मैं क्या सचमुच किसीको चाहता था! और तब उठी एक आकृति। वह जो मेरे बराबर थी। सुभद्रा!!

एकान्त में मैंने पूछा, "सुभद्रा! यह सौतें तुम्हें सुहाती हैं? मैं तो सच कहता हूं, तुम्हें दूसरे पुरुष के प्रति आसक्त देखकर उसकी हत्या कर दूंगा।"

हंसी और कहा, "झूठ कहते हो तुम! उपक को क्यों न मार दिया?"

"वह? मैं समझा था, तुम उसे चाहती हो। और जिसमें तुम सुखी हो, वही मेरा सुख है, समझकर!"

वह मुझे देखती रही, देखती रही। फिर धीरे से बोली, "स्वामी! मैं भी तो तीसरी हूं, फिर रोकने का मुझे क्या अधिकार है? पर कोई समर्पण करे तो क्या मुझे अपने स्वार्थ में रोकना उचित है? पुरुष का मन, कहते हैं, विभिन्नता चाहता है। यही पिता में देखा, यही भाई में। लोक के सारे समर्थ यही करते हैं। मैं नहीं जानती। किन्तु मेरा पुरुष मुझे नगण्य समझे, तिरस्कृत करे, यह मैं नहीं सह सकती। उसकी सारी निर्बलताओं को क्षमा कर सकती हूं, दम्भ को नहीं। मैं उपेक्षिता बनकर रह सकती हूं, परन्तु नारी के रूप में घृणित बनकर नहीं।"

सुभद्रा की बात सुनकर मुझे लगा कि वह स्त्री सचमुच बहुत गहरी थी। किन्तु परिवार ने मुझे बांध लिया। मेरी सन्तान मेरे पास थी। बालिका वसुंधरा और बालक शिरीष मुझे सब भुला देते थे।

आज सोचता हूं। क्या था वह सब! परन्तु जब वैभव, स्त्रियों और राज-मर्यादा के मद में भूला हुआ मैं मगध में पहुंचा, उसी दिन कुणिक, जो अब दर्शक कहलाता था, पिता हुआ था, पद्मावती का। प्रजा और राजकुल ने दुगुना उत्सव मनाया। दानशूर मलयदास मुझसे गले मिला और उसने लोगों को भोज दिए। मित्रों के अट्टहास गूंजने लगे। कोलाहल में सब कुछ प्रतिध्वनित होने लगा। मिली कुसुमश्री। बोली, "समर्थ आ गए।" कहा सोमश्री ने, "पिता ने भी अच्छा

जामाता ढूंढ़ा। मैं जानती थी कि आप क्यों गए हैं। मैंने कुसुमश्री से कह दिया था। हमें वह चिन्ता तो नहीं थी। परन्तु यह भीड़ लेकर आएंगे यह नहीं मालूम था। सुभद्रा कहती थी कि महीने में डेढ़ दिन हमारे लिए भी होगा। पर स्वामी ! हमने कह दिया कि तीसों दिन तुम्हीं रखो उन्हें। पटरानी तो सुभद्रा ही होगी। उसीने स्त्री की मर्यादा का निर्वाह किया है। मानती ही नहीं वह। कहती है, मैं कुसुमश्री का अधिकार क्यों छीनूं ?' "

"मानना होगा उसे।" कुसुमश्री ने कहा, "सारा राजगृह उसका गौरव गा रहा है।"

राजहंसिनियों-सी ये स्त्रियां उस प्रासाद में ऐसी किलकारियां मारतीं एकान्त में, कि मैं विभोर हो उठता। सुभद्रा को उन्होंने पटरानी बनाकर ही छोड़ा। अब सुभद्रा बहुत ही विनम्र रहती।

किन्तु क्या सब इतना ही था ! राजगृह में हलचल मच रही थी। शास्ता बुद्ध के संघ में ऋणी और सैनिक प्रव्रज्या ले रहे थे। ऋणी प्रव्रज्या लेते ही ऋण से मुक्त हो जाते थे। सीमा-प्रान्त पर निरन्तर युद्ध की सी परिस्थिति के आवेश से तंग आकर सैनिक सब छोड़कर संघ में शामिल होते और वे स्वतन्त्र हो जाते। मैंने देखा। बुद्ध का संघ एक धर्म-मात्र नहीं था। वह तो एक संसार, नये प्रकार के राज्य की व्यवस्था थी। जगह-जगह इसकी चर्चा थी। इसी समय पता चला कि वेश्याएं जाकर प्रव्रज्या लेने लगीं और कई जगह तो सौतों के चक्कर से परेशान घर-गिरस्तिनें भी जाकर प्रव्रज्या लेकर संघ की शरण में जाने लगीं।

सम्राट बिंबसार ने मुझे बुलवाया। अपने ऊंचे सिंहासन पर बैठे थे। मुझे देखा तो कहा, "आओ धनकुमार ! बैठो।"

मैं पास पड़े फलक पर बैठ गया जो स्फटिकों को जोड़कर बनाया गया था।

"तुमने सुना !" सम्राट ने कहा, "शास्ता के संघ ने क्या ऊधम मचा दिया है ? वेश्याएं संघ में गईं। मैंने कहा, जाने दो ! गिरस्तिनें गईं, मैं चुप रहा। ऋणी गए, मैं नहीं बोला। परन्तु अब सैनिक जा रहे हैं।"

मैंने कहा, "देव ! शास्ता सम्भवतः नये प्रकार का राज्य बना रहे हैं।"

"धूल बना रहे हैं। शास्ता धर्म-प्रचार करें।" सम्राट सयम खो बैठे, "किन्तु राज्य संघ बनाएगा ! मैं सैनिकों को प्रव्रज्या देनेवालों का सिर कटवा दूंगा। कोई खेल है ? शास्ता महान हैं, मैं सिर झुकाता हूं। वेश्या का पाप वे छुड़ाते हैं, छुड़ाएं।

स्त्री को प्रव्रज्या दें। मैं नहीं बोलता। लोक बोलेगा। ऋणी की बात वे जानें जो ऋण देते हैं, मैं नहीं देता। परन्तु राज्य कैसे टिकेगा यदि वेतनभोगी सैनिक ही सेना छोड़ देगा? शास्ता धर्म के रक्षक हैं, तो मैं राज्य का रक्षक हूं। यह नये प्रकार का राज्य है? चण्डप्रद्योत योंही निगल जाएगा, शास्ता गणक्षत्रिय हैं। वे गण के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पाते। वे बेचारे इन छलछन्दों को क्या जानें। म्लेच्छ, बर्बर, वन्यजातियां, गणराज्य, कोसल, वत्स, एक दिन में मगध को निगल जाएंगे और प्रद्योत और शतानीक काटकर फेंक देंगे इन भिक्षुओं को। राज्य बना रहे हैं। ऐसा राज्य जिसमें सब सिर मुंडाकर बैठे संयम करते रहेंगे। खाना कौन देगा इन्हें। हल चलाता है कोई? इन की रक्षा कौन करेगा यदि सेना नहीं रहेगी? सेना नहीं रहेगी तो लोक उलट जाएगा। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि जाकर भिक्षु-संघ को रोक दो अपनी ओर से!"

अपनी ओर से! मैं रोकूं! बुरा मैं बनूं। सम्राट फिर भी शास्ता के सामने भले बने रहना चाहते हैं। बाद में कह देंगे कि भन्ते! मैं क्या करूं। वह जैन नहीं माना। कहेंगे—लोक में सब तो हम-आप जैसी ऊंचाई पर नहीं पहुंचे हैं। न अभय को भेजा जा रहा है, न कुणिक को; क्योंकि शास्ता पर प्रतिबन्ध लगवाकर सम्राट इन दोनों को बदनामी से लदवाना नहीं चाहते, न प्रकारान्तर से ही सही, गणक्षत्रियों से वैर बांधना चाहते हैं।

और सम्राट ने कहा, "समझे धनकुमार! जिस प्रकार मेरी योजना पर चलकर तुमने अभयकुमार को मुक्त कराने में अच्छी तरह कार्य किया, वैसे ही करना होगा!"

तो वह सब भी सम्राट की योजना थी! मेरी नहीं! वनहीन मुझे भेजा। मेरा राजहंस जैसा सेवक मर गया। दुनिया-भर की उथल-पुथल हो गई। और वह कुछ नहीं!!

तभी सम्राट ने फिर हंसकर कहा, "जो वैभव मैंने तुम्हें अब दिया है, उससे भी अधिक पाओगे।"

मैं जड़ हो गया। मुझे लगा कि मैं एक कीड़ा था। 'न' करने का अर्थ क्या था! मृत्यु! परिवार का विध्वंस! स्त्रियों का वैधव्य या दासत्व या वेश्या-वृत्ति! और मेरा शिरीष! और मेरी वसुंधरा! तब मुझे घृणा हुई। मैं तो एक दास था! वैभव में विभोर, परन्तु था क्या मैं! दास!!

बाहर से प्रतिहारी ने झुककर कहा, "आर्य-श्रेष्ठ ! दानशूर मलयदास मिलना चाहते हैं !"

"भेज दो !' सम्राट ने कहा और मुझे देखकर बोले, "यह आया है मलयदास ! जानते हो क्यों ? अभी सुन लोगे। राज्य की आय है सीमित, इन श्रेष्ठियों की असीम। परन्तु किसके बल पर ? राजा के खड्ग पर, बल के आधार पर ! अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते हैं ये महावीर वर्द्धमान के स्वर में स्वर मिलाकर ! इनके वैभव का कुछ अनुमान कर सकते हो ! एक आया था कम्बलवाला ! रानी मृगावती ने लेना चाहा एक। मूल्य पूछा तो वणिक् ने कहा, 'एक लाख मुद्रा।' एक लाख ! रत्न, हीरक, और सुवर्ण के तारों से कढ़ा कम्बल, भीतर हिमालय के वन्य जन्तुओं की बालदार ऊन !—मैंने कहा, 'फिर ले लेंगे।'—वह चला गया। रानी का मन छोटा हुआ तो मैंने कम्बलवाले को तलाश कराया। उससे पता चला तीन कम्बल थे, तीनों तुम्हारी सास भद्रा ने खरीद लिए। मैंने एक मूल्य देकर देने को कहा तो बोलीं कि बहुओं ने पांव पोंछकर काट-काटकर फेंक दिए। सुना तुमने ! कहती थीं, राजा को क्या अदेय है। पर लाचार हैं।—मैंने कहा, ऐसा वैभव है मेरे राज्य में।—मैं राजा हूं, और ये मुझसे धनी हैं ! मैं रक्षा करूं और यह वैभव भोगें ! देखने गया उनके घर ! तुम्हारा साला शालिभद्र ! कल का लड़का। ऐसा मद हो गया उसे कि जब मैं पहुंचा तो शीघ्र मेरा स्वागत करने को उतरा भी नहीं। मैं तो वैभव देखना ही चाहता था। पहली मंजिल देखी, सब कुछ सुवर्ण था वहां। शालिभद्र फिर भी न उतरा, तब मैं दूसरी पर चढ़ गया। देखा सब कुछ मोती और हीरों का था वहां। शालिभद्र फिर भी नहीं उतरा। तब मैं तीसरी मंजिल पर चढ़ा और देखा कि रत्नों की वहां दिवाली थी। और शालिभद्र तब भी नहीं आया। अन्त में मैं चौथी मंजिल पर गया। तुम बहुत दिन बाहर रहे हो धनकुमार ! अभी शायद मिले नहीं शालिभद्र से !"

"देव ! वे सुभद्रा के प्रति अनजाने में किए अपराध के लिए अपनी माता के साथ मुझसे और सुभद्रा से क्षमा मांगने आए थे। अभी नहीं जा पाया हूं।"

"हां ! हां, उसका मुझे भी खेद है धनकुमार !" सम्राट ने कहा, "उस समय सुभद्रा के विषय में मैंने भी कुछ ऐसा ही कह दिया था। पर स्त्री पर विश्वास भी कैसे करे कोई ? कैसी विवशता है कि वह पुरुष की वासना को अच्छी लगती है। सच तो यह है कि महावीर और गौतम में यही पक्ष मुझे महान लगता है कि वे

देकर छूट जाता है, परन्तु क्षत्रिय का दिया दासत्व पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है।"

"महाश्रेष्ठि !" सम्राट झल्ला उठे, "क्षत्रिय का जब पराक्रम था तब वैश्यों को सम्पत्ति रखने का भी अधिकार नहीं था। गाय पालते थे और सेवा करते थे वैश्य। न हो तो पूछो प्राचीन शास्त्रों के जानकारों से।"

मैं अवाक् बैठा रहा।

दानशूर की आंखें जलने-सी लगीं। उसने कहा, "सम्राट ! राज्य वैश्यों की समृद्धि पर जीवित रहता है ! किनके सार्थों का कर राज्यकोष को भरता है ? क्या खेती से इतनी आय होती है ? किसके बल पर है यह राजा का वैभव ! कौन देता है संकट में राज्य को ऋण !"

बिंबसार सहसा ही हंस उठा। अप्रत्याशित। दानशूर ने सिर झुका लिया मानो अपनी उत्तेजना के लिए लज्जित हो।

"तो !" सम्राट ने कहा, "वैश्य लोगों को ऋण देकर उन्हें निचोड़ भी ले ? धर्म से डरो मलयदास। संग न ले जाओगे।"

"हां सम्राट !" मलयदास ने हाथ जोड़कर कहा, "राज्य और धन ! यह कोई संग नहीं ले जाता।"

बिंबसार का मन जैसे तिलमिला उठा। परन्तु मैंने उसका असीम धैर्य देखा। उसने कहा, "दानशूर मलयदास !"

"सम्राट !"

"वैश्य व्यापार करता है। राजा रोक नहीं लगाते। वैश्य कर देता है, राजा उसके धन की रक्षा करते हैं। न्यायाधिकरण खुला है। परम्परा से जो हुआ है, शास्त्र में है, उसका अपने-आप निर्णय होगा। मुझसे क्या निवेदन करना चाहते हो ?"

"देव ! भिक्षु पर दण्ड लगेगा ?"

"भिक्षु यदि हत्या करे तो क्या होगा श्रेष्ठि ?"

मलयदास सोच में पड़ गया। सम्राट ने फिर कहा, "संयम से अवरुद्ध भिक्षु यदि किसी क्षण विभ्रांत होकर किसीसे बलात्कार कर दे तो क्या होगा श्रेष्ठि ! भिक्षु-संघ क्या आर्यावर्त में नया है। क्या पहले से ही जिनमुनि नहीं होते आए हैं ? कुटीचक, बहूदक, यायावर आदि नहीं होते आए हैं ? उनके लिए क्या है नियम ?"

"देव ! वे व्यक्तिरूप में थे, यह सच है।"

"सच धर्म के लिए है कि वह एक राज्य में ही एक और दूसरा राज्य है? शास्ता बुद्ध हैं कि सम्राट ! वे तो सम्राटों का भी शासन करनेवाले हैं न?"

"देव ! मैं नहीं जानता वे क्या हैं? राजपुत्र होकर गृहत्यागी हैं, यही मैं समझता हूं कि उनकी महानता है। संघ में सब जातियां हैं, किन्तु शाक्यों का रक्तगर्व अविदित नहीं। सम्राट का लिच्छवियों से सम्बन्ध है। क्षत्रिय लिच्छवियों का अहंकार कौन नहीं जानता? मैं महावीर वर्द्धमान का भी अनुयायी नहीं हूं। परन्तु इतना जानता हूं कि सम्राट स्वयं उनके मौसा लगते हैं। फिर भी वह तपस्वी दीन-दुःखियों, कुम्हारों के साथ रहता है। महावीर धर्म की बात कहते नहीं थकता और वह भी मनुष्य के मार्ग का प्रदर्शक है, परन्तु उससे हमें क्या? प्रश्न है कि राज्य का ऋणी को दण्डित करने का भाग क्या होगा? मैं सम्राट की आज्ञा चाहता हूं। क्योंकि राज्य के कर्मचारी, संघ में जाकर ऋणियों को नहीं पकड़ते। इसका उत्तरदायित्व किसपर है? श्रेष्ठियों पर कि सम्राट पर?"

"किसीकी स्त्री संघ में जाए तो उस स्त्री के लिए कौन लड़ेगा श्रेष्ठि ! सम्राट कि पति?"

"देव ! तो निवेदन कर दूं कि सेना भी राज्य का त्याग कर रही है। बाढ़ एक तरफ नहीं; हर तरफ आ रही है।"

सम्राट ने हंसकर कहा, "सेना ! नहीं श्रेष्ठि ! ऐसा नहीं हो सकता। सेना को खूब मिलता है। अवश्य लूट नहीं मिली बहुत दिनों से। वह इसलिए कि मैं हिंसा नहीं चाहता। सेना ऋणियों की भांति भूखी नहीं है।"

"तो देव !" मलयदास ने झुककर कहा, "ऋणी भी भूखा नहीं रहेगा। इतना ही काफी है।"

वह प्रणाम करके चला गया। सम्राट उस ओर देखते रहे। फिर कहा, "मलयदास को कितना गर्व है ! शायद यह भूल गया है कि इसके सार्थ मेरे भुज-बल के आतंक से चलते हैं।"

और सम्राट ने रहस्य-भरे ढंग से सिर हिलाया और उठकर कहा, "हां, धनकुमार ! यह कार्य शीघ्र हो जाए।"

अलिंद में आया तो मेरा मन अपमान, विक्षोभ और घृणा से व्याकुल हो रहा था ! यह कौन बोला था मुझसे? सम्राट ! किससे? मुझसे ! धनकुमार से !

वह जिसने वैभव को ठुकराया ! जिसने जीवन को हथेली पर रखा ! आज मैं भृत्य हो गया ! हां, मैं अपने वैभव का दास हूं। मैं दास हूं। मैंने आदर्श नगर बसाया था ! वह नष्ट हो गया। परन्तु यह राजशक्ति इतनी कुटिल है, इतनी हृदयहीन ! यह सब मैं क्या सोचने लगा ? याद आया। कुसुमश्री, सोमश्री, सुभद्रा, सौभाग्य-मंजरी गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी गुणवन्ती और मेरी वसुन्धरा, मेरा शिरीष ! क्या होगा इनका ! तब मेरे साथ कौन था ! जन्म दिया था जिस माता ने वह नहीं रोक सकी और रोक रही हैं यह स्त्रियां जो मेरे वैभव ने जीती हैं ? क्या मैं इस कारण परतन्त्र हूं ? एक-एक बात याद आती थी, एक-एक कील-सी हृदय में गड़ जाती थी। तो क्या करूं।

मुझे सेना को रोकना होगा। पर कैसे ! सम्राट का नाम भी नहीं आए, ऐसे !

मैं उपवन में घूमता रहा। वातायन से मुझे सुभद्रा ने देखा। मुझे गम्भीर देखकर बोली नहीं। नील को देखा सामने धूप सेंक रहा था, मौलसिरी के पेड़ के सामने बैठा। मैंने कहा, "नील ! रथ बुलवा।"

रथ में बैठकर मैं सीधा गया शास्ता के पास। वे उस समय बीच में बैठे थे एक ओर। सामने अनेक भिक्षु थे। अनेक श्रद्धावान थे, स्त्रियां भी, पुरुष भी। मैंने प्रणाम किया। शास्ता गौतम बुद्ध ने मेरी ओर देखा। गंभीर, करुणा-भरे नयन। गौर वर्ण, उन्नत ललाट सिर पर सिंघाड़े जैसे बाल। चीवर में से फूटता शरीर का गोरापन। सिंह के समान बैठे थे वे।

"आवुस !" बुद्ध ने कहा : "अच्छे हो ?"

मैंने कहा, "भन्ते ! आप लोक-कल्याण के लिए धर्म की दुंदुभी बजा रहे हैं, किन्तु मुझे आज्ञा दें तो मैं कुछ निवेदन करूं।"

भिक्षु आनन्द, बुद्ध के भाई लगते थे बोले, "सम्राट ने भेजा है ?"

"नहीं भन्ते," मैंने कहा, "मैं आया हूं क्योंकि भिक्षु-संघ ने राज्य की व्यवस्था में कुछ व्याघात डाल दिया है।"

बुद्ध ने मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में अथाह गौरव था, पर थे निर्विकार।

"आवुस कहो।"

"भन्ते ! वेश्याएं परम्परा और जन्म, कर्मफल और वासना के प्राधान्य से वेश्या बनती हैं। वे यदि मुक्त हों तो अवश्य व्यभिचार बढ़ेगा। शायद ऐसा न भी

हो, परन्तु अवश्य ही फिर भी यह श्रेष्ठ ही होगा कि वे मुक्त हों। वैश्य चक्रव्याज से ऋणी को जन्म-भर निचोड़ते हैं; ऋणी संघ में मुक्ति पा जाए, तो व्यापार को अवश्य धक्का लगेगा, फिर भी मुझे आपत्ति नहीं। पत्नियां प्रव्रज्या लें—सपत्नी-दुःख से विह्वल होकर, तो सम्भवतः पुरुषों में प्राचीन जिन-परम्परा लौट आए कि एक पुरुष के एक स्त्री हो।"

जिन-परम्परा सुनकर आनन्द मुस्कराए। बुद्ध शांत रहे।

"किन्तु भन्ते! सेना भिक्षु-संघ में बिना स्वामी की आज्ञा के प्रवेश पा जाए, यह लोक की व्यवस्था को नष्ट कर देगा। जब तक सब ही संयम का पालन न करें, तब तक यह कैसे सम्भव हो सकेगा। मगध न रहे न सही, परन्तु लिच्छवि, शाक्य, कोसल, विदेह, वत्स, अवन्ति, काशी तो रहेंगे और इनके पास सेना भी रहेगी। वन-जातियां रहेंगी। अनार्य रहेंगे। सेना के बिना खेतों की, सार्थों की, स्त्रियों, नगरों, पशुओं की, डाकुओं और चोरों की व्यवस्था कौन करेगा? भिक्षु-संघ व्यापार नहीं करता, खेती नहीं करता। भिक्षु-संघ कैसे रहेगा यदि सेना नहीं होगी? मगध की सेना भी लूट चाहती है जैसे अन्य देशों की। हमारे सम्राट अहिंसा का पालन करते हैं। बाहर के देश नहीं। ऐसे समय में यदि सैनिक भिक्षु-संघ में आ जाएंगे तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।"

भिक्षु आनन्द ने कहा "आवुस! शास्ता का धर्म प्राणि-मात्र के लिए है। इसमें किसी प्रकार का भी भेद मनुष्य के सामने नहीं है।"

"हां भन्ते!" मैंने कहा, "जो सुना है कहता हूं। जिस समय मेरी पत्नी सुभद्रा प्रव्रज्या लेने आई थी, तब शास्ता ने स्वयं कहा था कि जो वे नहीं चाहते थे कि स्त्री को संघ में लिया जाए, उन्होंने महाप्रजापती गोतमी के कारण आज्ञा दे दी। मैं इस मगध के लिए शास्ता की करुणा चाहता हूं। वे प्राणिमात्र को लोक में जगाएं, सद्धर्म की ज्योति जगाएं। वे सैनिक को भी प्रव्रज्या दें, परन्तु केवल इतनी आज्ञा दें कि सैनिक अपने स्वामी की अनुमति के बिना प्रव्रजित नहीं हो पाए। भन्ते! यही प्रार्थना है।"

आनन्द ने बुद्ध से कहा, "भन्ते! आज्ञा!"

बुद्ध ने मेरी ओर देखा और धीरे से कहा, "लोक में सब मनुष्य समान हैं आवुस। यह कहना अनुचित है कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और अधिकारी हैं।"

फिर मुड़कर कहा, "भिक्षुओ! मनुष्यों में कौन श्रेष्ठ है?"

एक भिक्षु, जो शाक्य क्षत्रिय था, बोला, "भन्ते ! मनुष्यों में श्रेष्ठ है क्षत्रिय।"

मैं मुस्करा दिया। बुद्ध ने कहा, "नहीं भिक्षु ! कोई जाति श्रेष्ठ नहीं, मनुष्य का शील श्रेष्ठ है।"

भिक्षुओं ने सिर झुका लिया। फिर बुद्ध ने मुझसे कहा, "आवुस ! सब मनुष्यों में शील श्रेष्ठ है। विनय श्रेष्ठ है। भिक्षु-संघ का निर्माण लोक में ज्ञान की ज्योति फैलाने के लिए है। इसीलिए बुद्ध, धर्म और संघ से ऊपर कोई नहीं। किन्तु भिक्षु-संघ भौतिक सुखों के लिए नहीं है। वह धनलिप्सा और राज्य-वैभव के ऊपर है। यहां कर्मों का क्षय है, कर्मों का जाल नहीं; दुःख से छुटकारा पाया जाता है। भिक्षु-संघ उनके लिए है जो विनय को आचार का आधार मानते हैं। जिससे विनय भंग हो, वह भिक्षु-संघ के लिए नहीं। आनन्द ! आज से जो स्त्री अपने पति, पुत्र, पिता से, जो दास अपने स्वामी से, जो सैनिक अपने वेतनदाता से, जो ऋणी अपने ऋणदाता से सविनय आज्ञा लेकर स्वमुक्त होकर नहीं आता, उसे प्रव्रज्या मत दो।"

मैंने प्रणाम करके कहा, "सद्धर्म की पताका फहरे ! संघ की उन्नति हो।"

मैं लौट पड़ा। सीधे सम्राट के पास गया। कहा। सुनकर प्रसन्न हो उठे और कहा, "वत्स ! शास्ता महान हैं। क्या कहते हो ? उत्तरवाले वन में यदि शास्ता के लिए, भिक्षु-संघ के लिए एक विशाल आराम (बाग और उसमें मकान) बनवा दिया जाए तो कैसा रहे !"

मैंने झुककर कहा, "देव ! मैंने आज्ञा का पालन कर दिया। अब आज्ञा हो।"

"इस समय विश्राम करो जामाता, कल फिर संध्या समय मुझसे मिल लेना।"

"जो आज्ञा।" कहकर मैं प्रासाद की सीढ़ियां उतरने लगा। इस समय सम्राट ने मुझसे जामाता कहा था। मुझे एक ग्लानि हो रही थी। मैं कितने दिन से अपने बारे में भ्रम में था !

अपने भवन पहुंचा तो द्वार से ही सुना भीतर हाहाकार मच रहा था। मुझे लगा मेरे हाथ-पांव सुन्न पड़ गए थे। किसी प्रकार अपने को खींचते हुए भीतर पहुंचा और जो देखा, वह मेरे लिए शायद, सैनिकों, दासों, सपत्नियों, वेश्याओं और ऋणियों ने सौगात भेजी थी।

सुभद्रा रो रही थी। रो रही थी कुसुमश्री छाती पीट-पीटकर, आशंकित खड़ी थी आंसू बहाती सोमश्री, गुणवन्ती पकड़े थी कुसुमश्री को अपने आंसू गिराती।

और गीतकला, सरस्वती और लक्ष्मी रोती हुई कह रही थीं, "हाय रे विधाता ! ओ निर्दयी…"

परिचारक, सेवक, सेविकाएं…सब उदास, कोलाहल…मुझे देखकर सुमित्रा ने रोते हुए कहा, "आओ स्वामी ! यह है तुम्हारी वसुन्धरा ! कुछ नहीं बोलती। नहीं सुनती हमारी एक भी पुकार ! तुम शायद, बुलाओ इसे, यह तुम्हारी आवाज सुनकर, उत्तर दे। स्वामी ! यह तुम्हारी लाडली थी न ? यह कभी तुम्हारे बुलाने पर घुटनों के बल चलकर तुम्हारे पास पहुंचने से नहीं रुकती थी।…"

'हाय !'…के मर्मभेदी स्वर से वे फिर रोने लगीं। वसुंधरा ! मेरी बच्ची, मेरी फूल-सी बच्ची। दुधमुंही, तुतलाती बच्ची ! नीलम-सी आंखोंवाली मेरी नयनों की दुलारी बिटिया ! इस समय सो रही थी।

कुसुमश्री ने भर्राए स्वर से कहा, "धात्रेयिका को भेज दिया था मैंने, स्वयं देख रही थी इसे। अचानक यह वातायन पर चढ़कर झांकने लगी। मैं हंसती रही कि बिटिया खड़ी हो रही है, तभी एकदम पांव उठ गए और नीचे जा गिरी। देखा जाकर। कहीं चोट नहीं। खून नहीं, पर बोलती नहीं। अरे मैं हूं हत्यारी मां ! मैंने अपनी बच्ची को मार डाला।…"

फिर हाहाकार !

और मैं देखता रहा। यह वसुंधरा ! चली गई ! कितनी देर लगती है मृत्यु को आकर आत्मा को ले जाने में। रोया नहीं मैं। देखता रहा। पास जाकर बच्ची को छुआ और उठाकर छाती से लगा लिया। किन्तु देह ठंडी हो गई थी।

क्यों मरी यह ! मैंने बच्ची को स्त्रियों के करुण क्रन्दन के बीच लिटा दिया। और मन ने कहा, 'संतान का सुख-दुःख पिता और माता के पाप-पुण्य से तो नहीं बंधा रहता। मृत्यु में आत्मा का आवागमन-मात्र है। उससे जो दुःख होता है वह पास रहनेवालों को होता है।'

तो वसुंधरा मर गई थी।

बच्ची को बहुमूल्य कपड़ों में लपेटकर सेवकों ने गाड़ दिया। मैं देखता रहा, अपने मित्रों और सम्बन्धियों के साथ। मेरे साले शालिभद्र के अतिरिक्त सब ही थे। वह क्यों नहीं आया ? समझ नहीं पाया मैं। शायद सचमुच ही उसे गर्व हो गया था ! किसका गर्व ! इसी वैभव का, जिसका अन्त इतना क्षणिक और आकस्मिक था ! श्रेष्ठि कुसुमपाल की आंखें बार-बार भर आती थीं।

और फिर हम बैठ गए। मित्र भोजन लाए। स्नान करके आए तो वे जबरन खिलाने लगे। कोई नहीं चाहता था, परन्तु उन्होंने कहा, "खाओ, खाओ! जीवन और मृत्यु में भेद है। यह दो अलग-अलग हैं। मरनेवाला तो गया, लेकिन जीने-वाले को जीना ही होगा। उसे जीने के लिए खाना भी होगा। अपनी-अपनी वेदना सब भोगते हैं। जिसका समय आ जाता है, वही जाता है। कोई किसीके बदले में नहीं जा सकता। जीवन और मृत्यु में सब अपना-अपना भोगते हैं। सब अलग-अलग हैं। यह सम्बन्ध, यह ममता इस पृथ्वी के हैं। आत्मा तो यात्री है। वह इनमें फंस जाती है तो मृत्यु के बाद भी संस्कार और स्मरण के कारण जीवन में किए पाप-पुण्यों को भोगती है।"

वे देर तक समझाते रहे। कुसुमश्री ने नहीं ही खाया। बाकी ने थोड़ा-बहुत चबाया। और कुसुमश्री के लिए सबने कहा, "कुछ भी हो, मां तो मां ही है। उसके बराबर कौन होगा?"

सुभद्रा ने कुसुमश्री को अपने सिर की कसम दी और सुलाकर उसके सिर पर हाथ फिराने लगी।

सोमश्री ने शिरीष को लाकर कुसुमश्री के पास लिटा दिया। कुसुमश्री ने देखा तो छाती से चिपकाकर उसे चूम लिया। और मैंने देखा। हर मौत को कम करने के लिए एक नये जीवन की आवश्यकता थी। शायद आदमी मौत को न झेल पाता, अगर नये जन्म ने उसे सहारा नहीं दिया होता।

मैं एकान्त प्रकोष्ठ में आ गया। अपने-आप मेरे हाथों ने वीणा संभाली और मैं जिनेन्द्र की स्तुति गाने लगा। यह गीत कितना हलका था। कितनी बड़ी सांत्वना थी मेरे भटके हुए हृदय को।

तभी द्वार पर कुसुमश्री ने कांपते स्वर से कहा, "वसु! आपके पास है क्या?"

वह सुपना देखती उठ आई थी। उसको न देखकर अब सुभद्रा भी आ गई। उसने कुसुमश्री को अपनी छाती से चिपका लिया और कहा, "रो ले अभागिन! रो ले! तेरी बच्ची मर गई है!"

और वे दोनों रो पड़ीं। मेरा गीत थम गया। रात बीत गई। प्रभात ने उदासी से प्रवेश किया।

संवाद फैल गया। राज्य के महत्त्वपूर्ण लोग आने लगे अपनी व्यथा प्रगट

करने।

मुझे नहीं मालूम वे क्या कहते थे। मैं केवल सुन रहा था। सुन रहा था। भवन में अगाध नीरवता छा रही थी। कभी-कभी कुसुमश्री का रुदन सुबक उठता था और सुभद्रा की लम्बी सांस उसका पीछा करती थी। आए सम्राट बिंबसार। व्यथा में तृष्णा होती है, यह तभी मेरी समझ में आया। सम्राट का आगमन मेरी वेदना की चरम सांत्वना थी, जैसे सबकी समझ में इसके बाद मेरी सफलता की कोई और अछूती नहीं रह गई थी। मध्याह्न हो गया। और फिर संध्या हो गई। मैं अपने चतुःशाल में बैठा था। नील ने चरणों के पास बैठकर कहा, "आर्य! आपके दुःख के कारण नहीं कह सका। नगर में श्रेष्ठियों में मध्याह्न के समय हलचल मच गई। आज मलयदास के घर में ऐसी चोरी हुई कि कहा नहीं जा सकता। वे तो यहां आए थे। उनका भवन तो नगर के किनारे है ही। चोर किसी तरह भीतर घुसे और उन्होंने स्त्रियों को बांध डाला और सब ही ले गए। उनके पास तेज़ घोड़े थे। जब वे भाग रहे थे, मलयदास के सेवकों को पता चला। युद्ध भी हुआ, किन्तु कोई पकड़ा नहीं जा सका। दिन-दहाड़े और मलयदास का सब-कुछ लुट जाना क्या मामूली बात है आर्य? मलयदास का वैभव श्रेष्ठि शालिभद्र से भी अधिक है। मलयदास ने क्या किया, सम्राट से मिले और क्या उत्तर पाया, कुछ नहीं जान सका हूं मैं। परन्तु सम्राट ने लुटे घर की रक्षा को सेना तैनात कर दी है और इधर अभी-अभी सुना कि मलयदास के तीन सार्थ, जिनके बल पर मलयदास ने नगर के श्रेष्ठियों से देना-पावना तय कर रखा था, वे नगर के बाहर वन-भाग में उजाले में ही लुट गए। आर्य! कितने आश्चर्य की बात हो गई। और ऐसी हृदयहीन है व्यापारी की जाति! इस अवस्था में भी एक तरफ सहानुभूति जताते थे और दूसरी ओर उनका भाव था कि चलो अच्छा हुआ, बहुत बनता था। बड़ा गर्व था इसे! भूल गया था कि दैव भी ऊपर है। धन के एकाधिकार में सबसे मनमाना लाभ लेकर दानशूर बनने का ढोंग करता था। आर्य! संध्या तक तो मलयदास का टाट उलट गया। वह दिवालिया हो गया, क्योंकि मांगनेवाले आ जुटे। जब उसने कहा कि उसके पास कुछ नहीं था तो बोले, 'अभी सम्पत्ति है, घर है, बाग हैं, दुकानें हैं।'...आर्य! करोड़ों का देनदार है मलयदास। वह क्या करता। व्यापारी सम्राट् के पास गए। सम्राट ने कहा कि क्षमा कर दो।—व्यापारी बोले, 'कर देंगे आर्यश्रेष्ठ! आप हमारा कर क्षमा कर दें।' तो सम्राट ने कहा,

'कर तो छोड़ दूं, परन्तु मैं अपने लिए नहीं, राज्य के लिए लेता हूं। राज्य कैसे चलेगा ?' 'आर्य !' यह सुनकर एक ने कहा, 'सम्राट को बड़ी दया है, सम्राट हैं, दृष्टि में वैभव है, फिर आप ही चुका दें। आखिर तो दिन में चोरी हो, यह सम्राट का क्या कोई उत्तरदायित्व नहीं है कि व्यवस्था की देख-रेख हो।' सम्राट ने कहा, 'मेरे जामाता की पुत्री कल मर गई। यह भी मेरा उत्तरदायित्व है ? मैंने अकाल मृत्यु क्यों होने दी ? शास्त्रानुसार राज्य कहता है कि कोई झूठ न बोले। कोई झूठ बोलता है तो वह मेरा उत्तरदायित्व है ? चोरी मत करो। कोई करता है तो उसे मैं भरूं ? मैं क्या हूं ? मैं राजा हूं। राज्य चोरियां भरे तो इतना कर भी प्रजा दे कि उसका कोष भरा रहे। चोर ढूंढ़े जाएंगे, दण्ड दिया जाएगा, यह मैं कर सकता हूं।' तब व्यापारियों ने कहा, 'सम्राट ! फिर हम क्या करें ? हम तो मर जाएंगे।' सम्राट ने कहा, 'जब कोई दिवालिया होता है तो क्या होता है ?' वे बोले, 'देव ! उसकी सम्पत्ति को राज्य नीलाम कराता है और पहले ऋण चुकाए जाते हैं। परन्तु मलयदास आपके कृपापात्र हैं।' सम्राट ने कहा, 'यह न कहो श्रेष्ठिगण ! राजा का कार्य बड़ा कठोर होता है। उसे तो राज्य के लिए पुत्र का बलिदान देना पड़ता है। यदि तुम्हें विश्वास न हो, तो मैं अपने ही अभिन्न किसी राजकुल के व्यक्ति को यह काम सौंपूंगा जो बिना सहानुभूति के, तुम्हारा काम करने को, राज्य की मर्यादा उठाने को, मलयदास की सम्पत्ति का व्योरा-न्यारा कर दे।'—यह सुनकर श्रेष्ठियों ने सम्राट का जयजयकार किया।"

"तो वह कौन व्यक्ति है सम्राट का अभिन्न ?"

"पता नहीं आर्य ! सम्राट का कोई विशेष कृपापात्र होगा।"

मैं सब सुन गया। श्रेष्ठियों ने मलयदास को काटा है। जैसे कहते हैं कि बर्फानी रात में भूखे भेड़िये किसी गुफा में बैठे रहते हैं। एक भी कोई सो गया तो सब उसपर टूट पड़ते हैं और खा जाते हैं। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं सोच सका। कौन लुटा ? कौन ले गया लूटकर ? कौन बरबाद हुआ ? किसने किसे बरबाद कर दिया ? राजा ने क्या किया ? मलयदास का क्या हुआ ? कुछ नहीं। कोई भाव नहीं जागा। सब सूना-सूना-सा था। अब अंधेरा घना हो गया है। अंधेरा भी दारुण होता है। सूनेपन की गहराई एक बहुत बड़ी शिला की तरह कठोर होती है।

सुभद्रा मेरे पास बैठी है। क्यों बैठी है ? यह मेरी कौन है ? लोग कहते हैं

मैं उठ खड़ा हुआ हूं। मैं नहा रहा हूं। सुभद्रा मुझे नहला रही है। मैं कौन हूं? मैं वही हूं जिसे लोग धनकुमार कहते हैं। तो यह धनकुमार और मैं एक ही हैं। मैं इस धनकुमार में बन्दी हूं। पर मैं देखता हूं कि यह धनकुमार बड़ा प्यासा है, बड़ा लोभी है। बड़ा निष्ठुर है। हां, हां। धनकुमार हंसता है। कहता है, 'धनकुमार ही तेरा अस्तित्व है। अपने को मत छिपा।'

मैं कहता हूं, 'मलयदास का नीलाम कराने जाएगा तू धनकुमार?'

धनकुमार कहता है, 'चल देख तो सही। डरता क्यों है? आनी-जानी संपत्ति है तो मनुष्यों की, उस संपत्ति के नीचे हलचल तो देख।'

मैं चल पड़ा हूं। मलयदास अपने बच्चों और पत्नी के साथ, अपने स्वामिभक्त सेवकों से हीन, उस विशाल भवन के सामने खड़ा है। अब भी वह कठोर है। वह दानशूर है। मैं आसन पर बैठता हूं। मैं मलयदास को देख रहा हूं पर पहचान नहीं रहा हूं। मेरे सामने बहुत-से श्रेष्ठि हैं। वे मुझे हाथ जोड़ते हैं, मैं उत्तर दे देता हूं। कार्यस्थ सूची बना रहे हैं, मलयदास की संपत्ति की। मांगने आए हैं वे, जिन्हें लेना है। मैं देख रहा हूं कि वे स्वामिभक्त सेवक थे मलयदास के, वे उधर-वाले उसके गहरे मित्र थे। मलयदास मुझे देखता है। कहता है, 'धनकुमार! इस काम के लिए एक तुम ही थे?'

मैं देखना चाहता हूं उसे, पर देख नहीं पाता। श्रेष्ठि उसपर व्यंग्य कर रहे हैं। किन्तु मलयदास कह रहा है, 'अरे मेरी मूंछों में अभी इतने बाल हैं कि आर्यावर्त को इन्हींके बदले ले सकता हूं।'

उसकी स्त्री रो रही है। उसके बच्चे बिलख रहे हैं। एक-एक चीज से चिपटकर रोते हैं और राजकर्मचारी उन्हें हटा देते हैं।

बोलियां लग रही हैं। मैं सुन रहा हूं। मलयदास हंस रहा है, 'अरे फिर यही मेरे मित्र बनेंगे। यही सेवक जो इस समय मुझपर हंस रहे हैं, मेरे जूते उठाएंगे। इस दुनिया में सबसे बड़ा धन है। मैं उसे फिर कमाऊंगा।'

मैं केवल सुन रहा हूं। वह मुझे देखकर कह रहा है, 'यह धनकुमार है। देखते हो इसे। आज मुझे नहीं पहचानता!'

वह कैसी कठोरता से हंस रहा है! क्या यह भी मनुष्य का हास्य है।

दिन बीत गया है। मलयदास भूखा है, स्त्री भूखी है, बच्चे भूखे हैं। आभूषण भी बिक गए हैं। कोई इसका साथी नहीं है, क्योंकि लोग जानते हैं कि सम्राट

उससे असन्तुष्ट हूं।

मैं उठने लगा हूं। कार्य हो चुका है। मलयदास राह का भिखारी हो गया है। मैं किसीको नहीं पहचानता।

मलयदास फिर हंसता है। कठोर है। कठोर।

एक व्यक्ति सामने आता है। उसका पुराना सेवक। विश्वस्त सेवक !!

'कौन ? तू विधिदास !' सुनता हूं मैं। कह रहा है मलयदास। फिर हंसता है, "हां, हां, तेरा वेतन अभी रह गया है, पर इस समय मेरे पास नहीं है, तू मेरी स्त्री को ले जा सकता है।...'

विधिदास रोता है और पांव पकड़कर कहता है उससे, 'स्वामी ! पाप मत कराओ मुझसे। यह देह तुम्हारे अन्न से पली है। बहुत गरीब हूं, पर अपने को असहाय मत जानो। इन बच्चोंकी भूख नहीं देखी जाती मुझसे। इन्हें कहीं नौकरी करके खिलाऊंगा। मेरे घर चलो !'

मलयदास देखता है और फिर मैं सुनता हूं वह कह रहा है, 'भूख ! नौकरी ! विधिदास ! कोई नहीं था। पर तू है अभी...'

'स्वामी ! धन से ऊपर मनुष्य है। प्रेम बड़ा है, धन आना-जाना है। जो धन के बल पर आदमी को पहचानते हैं, वे धन के दास हैं...मैं विधि का दास हूं...।'

'मनुष्य ऊपर है......' मलयदास कहता है...वह हंसता है...'वे धन के दास हैं...' वह फिर हंसता है...यह कैसा विचित्र हास्य है...प्रतिध्वनित होता हुआ।...

मैं सुनता हूं। कोई कहता है, 'मलयदास पागल हो गया।...'

मलयदास बाल नोचते हुए हंसता हुआ राजपथ पर भाग रहा है......पीछे विधिदास है...पत्नी हाहाकार कर रही है......बच्चे चिल्ला रहे हैं...श्रेष्ठि हंस रहे हैं।...

और मलयदास चिल्लाता जा रहा है, 'मनुष्य धन से ऊपर है।...'

उसकी आवाज़ गूंज रही है...लोग पुकार रहे हैं...बलिहारी है समय की...दानशूर भिखारी हो गया...पागल हो गया।...

और मलयदास अब अट्टहास कर रहा है, 'हा-हा-हा-हा !...'

मैं घोड़े पर चल पड़ा हूं।...

पूछता है मुझसे धनकुमार, 'यह किसने किया ?'

मैं कहता हूं, 'यह उसीने किया जिसने वियावान जंगल में तुझे मुर्दे की जांघ से निकालकर बहुमूल्य रत्न दिए थे।'

धनकुमार कहता है, 'देख सूर्य डूब चुका है। याद है यह कौन-सी जगह आ गया है तू?'

मैं देखता हूं। कहता हूं, '···हां। यहीं मिला था एक आदमी मुझे, जिसने कहा था : मेरे पाप को पुण्य बना देना।···'

'और तूने बना दिया वह?'

'क्यों नहीं?'

'झूठे! पाप से पाप जन्म लेगा कि पुण्य?'

मैं उत्तर नहीं पाता। अन्धेरा छा गया है। शाश्वत अन्धेरा। यह कौन कराह रहा है···यह कैसी करुण आवाज़ है!···

अच्छा तो यात्री! उस दिन से तू अब तक तड़प रहा है, क्योंकि धनकुमार तेरे पाप को पुण्य नहीं बना सका। तू कब तक इसी तरह तड़पता रहेगा अपरिचित! 'धनकुमार! उस कराह को सुनकर तू डरता क्यों है?'

'नहीं, नहीं! यहां अवश्य कोई मर रहा है।'

'मरनेवाला तो मर चुका। अब वह कहां है!'

'नहीं मूर्ख! वह! वह कोई मनुष्य ही तो है।···छटपटा रहा है।···'

मैं देख रहा हूं। धनकुमार उठकर उस मनुष्य के पास चला गया है और चिल्लाता है:

"पिता! मेरे पिता!"

मैं मुस्कराता हूं, 'इसके पिता यहां!'

वह व्यक्ति जो तड़प रहा था, एक धुंधली दृष्टि से देखकर धनकुमार को गले लगाकर रोने लगता है। धनकुमार उच्छ्वसित-सा पूछता है, "पिता! यह क्या हुआ?"

वृद्ध कहता है, "पुत्र! धनदेव ने सर्वनाश कर दिया। उसने अधिकार नहीं देखा था। घोर अत्याचार करने लगा। धनदत्त भी बह गया। एक दिन उन्होंने किसीकी स्त्री से बलात्कार कर दिया। स्त्री क्षत्रिय थी। क्षत्रियों की भीड़ ने आक्रमण किया। पुत्र! तेरी भाभियों को उन्होंने बलात्कार करके मार डाला। तेरे भतीजे और मां को मार डाला। मैं जब धनपुर लौटा, मैं बाहर था खेतों में तो

देखा घर जला पड़ा था। लोग क्रुद्ध थे। मैं कौशांबी गया। महाराज शतानीक ने तीनों भाइयों को प्राणदण्ड दे दिया। प्रजा ने मुझे भी मारना चाहा। परन्तु मैं भागा, रत्नों को समेटकर, तेरे पास···परन्तु मार्ग में डाकुओं ने मुझसे छीन लिया ···घायल कर गए···मैं चल नहीं सका······तीन दिन से तड़प रहा हूं···नहीं जानता···प्राण क्यों नहीं निकलते।···"

वृद्ध कराह रहा है।

धनकुमार कहता है, "मैं जानता हूं, यहां एक सरोवर है। अभी लाता हूं जल।"

मैं कहता हूं, 'अब मत जा धनकुमार! अब देर नहीं है···दीपक बुझने ही वाला है···'

'नहीं···नहीं···,' कहता है धनकुमार, 'अन्तिम सांस तक लड़ूंगा!···'

जब धनकुमार लौटता है। देखता है एक शव पड़ा है और सामने से एक गीदड़ आ रहा है।

धनकुमार क्रोध से गीदड़ को मारता है। पर वह भागकर छिप जाता है। धनकुमार बैठ गया है।

मैं कहता हूं, 'धनकुमार, तेरा वह मर गया, जिसने तुझे पाला था।'

'हां,' धनकुमार कहता है, 'यह मनुष्य मेरा पिता था।'

'चलो, नगर ले चलकर दाहकर्म करो इसका।'

'नहीं, नहीं,' धनकुमार कहता है, 'वहां मत चलो। वहां सब इस भिखारी को देखकर हंसेंगे। वहां जब कौशांबी में परिवार के विनाश की बात फैलेगी, सम्राट बिंबसार और अभिक ऐंठ जाएगा।'

'तो फिर?'

धनकुमार चिता बना रहा है। धनकुमार उस शव को उठा रहा है, जिसे वह पिता कहता था और आग लगाता है। अन्धेरे जंगल में वह चिता दूर से ऐसी लगती होगी जैसे एक दीपशिखा।

धनकुमार निस्तब्ध बैठा है।

मैं कहता हूं, 'धनकुमार! आज तुझे आवेश क्यों नहीं आता? पहले तुझमें ममता का रुदन घुमड़ता था, अब क्यों नहीं घुमड़ता? पहले तू याद करता था कि यह है मेरा पिता, वह जिसने यों किया, यों किया, यों सुख पाया, यों दुख पाया,

पर अब वह सब तुझे कुछ लगता ही नहीं !'

'हां,' अब धनकुमार कहता है, 'वह लगना झूठ था। भला कौन कह सकता था कि मेरे पिता का यह अन्त होगा ?'

चिता बुझ चली है।

मैं कहता हूं, 'धनकुमार ! शतानीक का अग्निहोत्र सदैव जलता था। वह कहता था कि जब कुरुकुल हस्तिनापुर को छोड़कर कोसांबी आया था, तब भी वह उसी पवित्र अग्नि को ले आया था जो ययाति ने सुलगाई थी। दुष्यन्त, भरत, भीष्म, धृतराष्ट्र, युधिष्ठर···जाने किस-किसने उसीको प्रज्वलित किया था··· तुझे याद है कि अग्नि में सब भस्म हो जाता है ?'

धनकुमार कहता है, 'लेकिन अग्नि में मनुष्य का मन नहीं जलता। आत्मा नहीं जलती, पाप और पुण्य नहीं जलता।'

मैं कहता हूं, 'धनकुमार, आधी रात बीत गई है। अब घर चल।'

'चलता हूं।'

परन्तु धनकुमार घोड़ा भूल गया है। वह पैदल जा रहा है। मैं उसके साथ हूं। जब वह नगर में पहुंचता है उसे पथ पर एक आदमी हंसता हुआ मिलता है।

धनकुमार कहता है, "कौन ?"

वह कहता है, "चोर ?"

"अच्छा ! तुम चोर हो !" कहता है धनकुमार।

"डरो मत !" वह कहता है, "देखते हो। यह किसका विशाल भवन है वहां ?"

"वह शालिभद्र का है।"

"शालिभद्र !" वह चोर कहता है हंसकर, "बड़ा चालाक है। तुम भी चोर हो न ? ऐसे अन्धेरे में और कौन निकलता है ? वहां न जाना उसके यहां ! जानते हो ! मैं सेंध लगाकर घुसा तो वह जाग उठा और लेटा रहा। मैंने देखीं, दीप के प्रकाश में खुली आंखें। मैं डरा तो बोला, 'मित्र ! यह सब ले जा ! यह सब बहुत बड़ा पाप है। बहुत बड़ा पाप है। इसने मुझे बांध रखा है। इसके कारण ही मैं राजा का दास हूं। मैं तीर्थंकर महावीर के पास गया था तो वह बोले कि मोह जन्म लेता है धन से, धन ही पाप है। ले जा ! जितना ले जा सके ले जा ! मैं आंखें बन्द किए हूं। तू यही समझ ले मैं सो रहा हूं।' उसकी बात सुनकर मैं कांप

रहा। मैंने सोचा, संसार धन के लिए रोता है, लड़ता है, मैं चोरी करता हूं, पर यह उससे घृणा करता है। तो मैं कमी की वजह से इसके पीछे हूं, पर यह अघा चुका है। इसी को छोड़ रहा है, जैसे बैल घी पीकर अघाकर मुड़ जाता है।—मैंने कहा, 'शालिभद्र! मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि तू जिसे पाप कहे वह मैं ले लूं।'"

चोर हंसता है और चला जा रहा है। धनकुमार सोचता है, '...यह चोर भी किसीके पाप को नहीं लेता और तूने पाप लिया था धनकुमार!'...

मैं कहता हूं, '......धन एक पिशाच है जो सबपर छा रहा है। वह सबपर बैठ गया है। धन के दीपक में अधिकार की दीपशिखा जलती है। और अहंकार की चमक फैलती है, जो सब कुछ दिखाती है किन्तु अपने ही नीचे के अन्धकार को कभी नहीं मिटा पाती। धन के कारण पति-पत्नी, स्वामी-सेवक हैं। और लाभ के लिए मनुष्य करता है बेईमानी। ईमान की रोटी का अर्थ है दरिद्रता। दरिद्रता का अर्थ है पाप। इस पाप का प्रतिकार है वैभव! जो इससे भी बड़ा पाप है।'

धनकुमार कहता है, 'और वह मेरा धनपुर! मैंने तो किसान देखा है जो धन नहीं लेता था!'

मैं कहता हूं, 'पज्जा अम्मां के पुण्य से तू आज तक जीवित रहा है। धनपुर तेरे अहंकार का ही रूप था। पृथ्वी पर स्वर्ग कहां? पुनर्जन्म के भय से लोक में दरिद्र अपने अभावों में तड़पता हुआ सत्य के पास चक्कर लगाता है, पर उसे छू नहीं पाता। धनी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण...ये पुनर्जन्म से डरकर भी नहीं डरते, क्योंकि अधिकार और धन इन्हें पागल किए रहते हैं। इनका स्वार्थ ही इनका मंत्र है। ये चतुर हैं अतः दूसरों की आंखों में धूल झोंकते हैं। और इन सबपर है भाग्य। भाग्य! जिसमें व्यक्ति पानी के बुलबुले की तरह फूलता है, रंग-बिरंगा दिखाई देता है और फिर फट जाता है...जन्म एक दुख है...मृत्यु दूसरा दुख है...और इनके बीच में मनुष्यों का प्रयोग है...शाश्वत तक चलना...व्यक्ति सदैव लोक में बद्ध है...और ये बन्धन हैं धन के...धन से पेट पलता है, मैथुन होता है...धन ही पाप है...धन ही वात्सल्य है...यह लोक चल रहा है...हम नहीं जानते यह क्यों चल रहा है...कर्मों के फल से जन्मनेवाले असाम्य और दुख कैसे दूर हो सकते हैं...व्यक्ति को बचना होगा...क्योंकि यह सब झूठ है...यह सब छलना है।'...

धनकुमार कहता है, '...फिर?'

'तू ही सोच।...'

मैं कहता हूं, 'धनकुमार! तू तो फिर इसी जगह लौट आया है।'...

'हां, यहां मेरी कुसुमश्री है, सोमश्री है, सुभद्रा है...सौभाग्यमंजरी है, गीतकला है, सरस्वती है...गुणवंती है...लक्ष्मी है...वे सब मुझे प्रिय हैं...उन्होंने मुझे सुख दिया है...उन सबने मुझे प्यार किया है।...'

मैं कहता हूं, '...नीच! प्यार! प्यार किया धन को...तेरी बुद्धि को...तेरे वैभव को...और बता तो...? तूने किसे प्यार किया है...प्यार ऐसे बंट सकता है...? प्यार है ही क्या? तू उनके जन्म के लिए उत्तरदायी नहीं था, न होगा उनकी मृत्यु के लिए...तू, जिसे अपने ही जन्म और मृत्यु पर अधिकार नहीं...तू कैसे स्वामी बन गया मूर्ख...? तू यात्री है...यात्रा में मत भूल...उस वासना को दबा जो तुझे निर्मल मनुष्यत्व से दूर करती है...कोई चारा नहीं है।...'

धनकुमार भीतर चला गया है। गुणवंती बैठी है।...

धनकुमार कहता है, "गुणवंती! आनन्द क्या मैथुन में है? मैथुन तो पशुता है न?"

गुणवंती चौंक उठती है। समझ नहीं पाती।

धनकुमार ठिटक जाता है...सामने शिरीष आ गया है। धनकुमार उसे देखता है। कहता है, "पुत्र! तू किसका पुत्र है?"

शिरीष खेल में लगा है। वह नहीं सुनता।

धनकुमार वस्त्र उतारता है। धोती पहनकर नहाने बैठता है। सुभद्रा नहला रही है। पानी ठंडा है। अच्छा है।

अचानक गर्म बूंद गिरती है पीठ पर।

धनकुमार मुड़कर देखता है। मैं अब चुपचाप दर्शक बन गया हूं।

"क्यों रोती हो सुभद्रे!" धनकुमार पूछता है।

"स्वामी!" सुभद्रा कहती है। धनकुमार बदन पोंछने लगता है। वह कहती है, "भैया शालिभद्र घर छोड़कर महावीर वर्द्धमान से दीक्षा लेना चाहते हैं। मां रोती है। एक ही तो पुत्र है। बत्तीस स्त्रियां हैं। सब रोती हैं। भैया रोज समझाते हैं उन्हें। पता नहीं, क्यों घृणा हो गई है सबसे?"

धनकुमार हंसता है। सुभद्रा देखती है। पूछती है, "क्यों हंसते हैं स्वामी!"

"हंसता हूं," धनकुमार कहता है, "घृणा हो गई होती तो छोड़ जाता न?" वह

मुख पर गांभीर्य !

"चलो शालिभद्र ! उसके पास चलें जो महावीर है। कायर बनकर मत चलो उसके पास।"

शालिभद्र कहता है, "आ गए हो धनकुमार ? यह सब मुझे बार-बार खींच लेता था। तुम सचमुच पराक्रमी हो।"

धनकुमार कहता है, "हम दोनों चलेंगे। शालिभद्र ! हम दोनों चलेंगे।"

हठात् एक स्वर गूंजता है, "तुम दो ही जाओगे ? इस समय भी गर्व नहीं छूटा तुमसे ? मैं भी जाऊंगी न ? मैं क्यों नही जाऊंगी ? यह पुरुष और स्त्री का भेद तो बाहरी है न ?"

शालिभद्र हंसकर कहता है, "अरे सुभद्रा ! चलेगी ! लौटेगी तो नहीं ?"

धनकुमार कहता है, "बहिन ! चल ! तुझे कौन रोकेगा ! जैसा पुरुष ! वैसी ही स्त्री ! पुरुष को स्त्री बन्धन है, स्त्री को पुरुष ! दोनों के मिलने से ही तो कार्यों का बन्धन बंधता है !"

भद्रा ढाड़ें मारती है। स्त्रियां दारुण क्रंदन कर रही हैं।

हठात् फिर सुभद्रा कहती है, "अरी मंगलगीत गाओ। आज मुक्ति के पथ पर जा रहे हैं हम, तीन अपरिचित आत्माएं। देह के रूप में एक मेरा भाई था, एक पति था। अब हम स्वतन्त्र हो गए हैं। आज वीर बेला है। गाओ···पालकी सजाओ ! वाद्य बजने दो।···"

मैं कहता हूं, 'धनकुमार ! वह देख, कौन आ रहा है।······'

धनकुमार मुझसे कहता है, 'यह तो वही है न ? जो बिंबसार कहलाता है ? यही तो मगध का सम्राट है न ? अब भी क्या मुझे इसे झुककर प्रणाम करना होगा ?'

मैं कहता हूं, 'प्रणाम करने में क्या दोष है ! नम्रता ही श्रेष्ठ है।'

धनकुमार तब सबको हाथ जोड़ता है···पत्नियों से कहता है, "माताओ, प्रणाम !"······नागरिकों, दासों, सेवकों, सैनिकों, दासियों, सम्राट और श्रेष्ठियों से कहता है, "···भाइयो···बहिनो···प्रणाम !"···

बिंबसार कहता है, "कहां जा रहा है वत्स···मेरी पुत्री···मेरा दौहित्र···"

धनकुमार कहता है, "बिंबसार ! सब एक जाल है···ध्यान से देखो···यह यह सब एक जाल है।···"

अब सुभद्रा कहती है, "ओ भद्रे ! तुम रजोहरण पात्र लेकर बैठो।"···

विशाल भीड़ चल रही है।...

लोग बातें कर रहे हैं...

धनकुमार और शालिभद्र...सुभद्रा भी...

मैं कहता हूं, '...तेरी प्रशंसा हो रही है। अहंकारी! इस नाम के लिए इतना व्याकुल है तू? यह नया नाटक रचा है तूने? देख, सुभद्रा को देख! वह है श्रेष्ठ त्यागिनी! कभी कुछ न बोली। वह मांगती नहीं। जो ठीक समझती है ले लेती है...वह कभी अभाव से नहीं दबती...शालिभद्र को देख! कैसा नमित है।'...

धनकुमार कहता है, "...लौट जाओ भाइयो, लौट जाओ बहिनो! बिबसार! भद्रा! सब लौट जाओ। हम आज महान की शरण में जा रहे हैं। महान इसीलिए आए हैं..."

मैं कहता हूं, '...धनकुमार! अब भी सब चल रहे हैं।'......

धनकुमार कहता, 'पर कहां हैं? मुझे तो कोई नहीं दीखता...मैं किसीको पहचान क्यों नहीं पाता......यह कौन है?'......

मैं कहता हूं, '...यह है, शालिभद्र......यह है सुभद्रा......'

वह कहता है, 'हां, इसे मैं जानता हूं।'......

मैं पूछता हूं, 'अच्छा, यह तुझे याद है? देख बाकी स्त्रियां कैसी रो रही हैं!'......

अन्धेरा हो रहा है......अन्धेरा.........इस अन्धेरे में से एक प्रकाशमान मुख है......यह कौन है......महावीर वर्द्धमान......

तब मैं धनकुमार से मिलकर एक हो जाता हूं......और हम दोनों महावीर के चरणों पर फूट-फूटकर रोने लगते हैं......और देखते हैं महावीर असीम दया से......करुणा से......

"उतार दो यह वस्त्र! ये लज्जा का कारण भीतर के पापों को छिपाता है। नग्न हो जाओ, तब देखो कि तुम अपने को विकारों की कुरूपता से छिपा सकते हो या नहीं......नोच दो ये केश, ये तुम्हें सुन्दरता का भ्रम देते हैं, इन्हें चिकना मत करो, हृदय में दया और अहिंसा के स्नेह को जाग्रत् करो...इस देह को दुख दो......दो, क्योंकि इस देह की आत्मा को इस देह ने पाप में डाला है........ यह आत्मा पहले निर्मल थी, उस सबमें मुक्ति नहीं है जिसे तुम्हारी वासनाओं ने बनाया है, वह तो कर्मों का जाल है......वह निरन्तर चलता जाएगा......

मुक्त वही होगा जो कर्मों का क्षय कर देगा'' ''''''एक आत्मा लोक के कर्मजाल को कैसे नष्ट कर सकती है ? क्या वह दूसरों को उठा सकता है, बिना अपने को उठाए'' पहले अपने को निर्मल करो, फिर आओ'''आओ लोक-मानस को जगाने''''''संसार से हिंसा और घृणा को हटाने''''''संसार से जाति का अहंकार मिटाने'''''' अपने को पवित्र इसलिए मत करो कि तुम अपने अहंकार को तृप्त करना चाहते हो''''''इसलिए करो कि लोक देखे कि जिस धन-वैभव के जाल में वह फंसा है, उसमें वह कितना निरीह है, और वास्तव में मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है''''''कहां तक जा सकता है यह मनुष्य''''''न जाने कितनी अवसर्पिणी बीत चुकी है'''''' बीतती जाएंगी'''''' न कभी मनुष्य के लिए जल्दी है''''''न देर''''''बढ़ते चलो'' '''बढ़ते चलो'''अविराम'''''' अविराम है यह क्रम''''''आज तक तुमने त्याग किया है, अपने अहं को संतुष्ट करने को, अब उस अहं का नाश कर दो'' धन अकेला पाप नहीं होता''''''मानव से मिलकर वह पाप बन जाता है'''''' अन्यथा सुवर्ण भी मिट्टी का ढेला है''''''सुख-दुख मनुष्य परिवार में झेलता है'''जन्म और मृत्यु भाव को हंसाते-रुलाते हैं''' उन्हें प्रकृति का नियम समझो'''''' छोटे परिवार से विशाल परिवार में आओ''' इन्द्रियों को जीतने का मार्ग है जिन मार्ग''''''बहुत प्राचीन है मनुष्य की साधना '''कई बार तप किया है मनुष्य ने'''दुख सत्य नहीं है, दुख की प्रतीति सत्य है''' मनुष्य अपने कर्मों के कारण दुखी है''''''प्रकृति को न समझने के कारण दुखी है''''''''''मृत्यु अनिवार्य है'' '''और अपने दम्भ में मनुष्य अमर रहना चाहता है''''''यह क्या उसका अज्ञान नहीं ? जो मृत्यु को प्रकृति का नियम मानकर समझ लेगा''''''वह क्यों रोएगा ? अभाव से रुदन आता है'''''' अभाव का अनुभव मत करो''''''दीन और धनी सुवर्ण को महत्त्व न दें, मनुष्य को दें''' तो यह पाप कहां रहे ? और धन से भी बड़ा पाप है''''''अधिकार का लोभ''' इस लोभ के कारण मनुष्य अपने-आपको खो देता है।''''''"

मैं सुन रहा हूं।

वीरप्रभु कहते हैं, "जाओ ! जिस नगर में शासन किया है वहां भिक्षा मांगो ''''''मिटा दो अपने अहं को''''''एक बार जो तुम देने का अभिमान रखते हो यह भी देखो कि यह लोक तुम्हें उतना सदैव देता है जितना तुम्हारे जीवित रहने को आवश्यक है।''''''"

परिशिष्ट

इस तरह आदमी ने आज से ढाई हजार साल पहले इसी दुनिया की गुत्थी को सुलझाने के लिए अपनी युगसीमा में ऐसा प्रयत्न किया। और तब भी वह दुनिया को काफी पुराना समझता था। बल्कि उस पुरानी दुनिया की यात्रा में एक मंजिल पर आकर आदमी सोचने लगा था कि आज तक मनुष्य बर्बर रहा है······आगे वह ठीक होता जाएगा। और निरन्तर यह संसार बढ़ता रहा है··· सुधरता रहा है और हम जोकि नया रास्ता बना रहे हैं······हमें याद रखना है कि अपनी युगसीमा में जिसे हम शाश्वत समझ रहे हैं······वह भी परिवर्तन-शील है।